प्रसाद के नाटक

[विश्लेषण]

परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०

स्पष्टीकरण

इच्छा तो यह होती कि बिना कुछ कहे, चुपचाप पुस्तक आपके हाथों में रख देता; किन्तु चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ। उसके अपने कुछ कारण हैं, मेरी अपनी कमजोरियाँ हैं। सामान्यतः लोग साहित्यकार की जो परिभाषा किया करते हैं, उसके अन्तर्गत मेरा अपना कोई स्थान नहीं है। मेरे जीवन का बहुत बड़ा भाग देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के सिपाही के रूप में व्यतीत हुआ है। उस समय जिसे साहित्य कहते हैं, उसे जानने-समझने का मेरे पास अवकाश न था। उसके बाद एक युग तक पत्रकार रहा। पत्रकार की भी गणना लोग साहित्यकार में नहीं करते। और आज तो कोरा पुरातत्व का विद्यार्थी हूँ। अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ता और पुराने ईट-पत्थरों से अपना सिर टकराता रहता हूँ। ऐसा व्यक्ति भी कदाचित साहित्यकार की परिधि में नहीं आता। अतः मुझे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि साहित्य की उस मर्यादा से मेरा परिचय नहीं, जिसे लोग इस पुस्तक के लेखक के रूप में मुझमें पाना चाहेंगे। साहित्यकार होने का दम्भ लेकर मैंने इसे लिखा भी नहीं है।

पढ़ा-लिखा होने के कारण प्रसाद के साहित्य को उसी तरह पढ़ा जिस तरह सब लोग पढ़ते हैं। पढ़ने पर मेरे मन में कुछ विचार उठे, विचार उठने के साथ उँगलियों में खुजलाहट हुई और वे अपने आप कागज पर दौड़ने लगीं। उसी का परिणाम आपके सामने है। इसमें मेरे हृद्गत विचारमात्र हैं जिसमें निश्चय ही मेरा राजनीतिज्ञ, सैनिक, पत्रकार, पुरातत्वविद् और इतिहासकार मुखर हो उठा होगा। अतः जो कुछ मैंने कहा है, वह सबको अच्छा ही लगेगा, ऐसा मैं नहीं सोचता और न सोचना चाहता। केवल इस धारणा के साथ पुस्तक आपके हाथ में दे रहा हूँ कि प्रसाद-साहित्य विशाल है, गहन है। उसपर अधिकाधिक चिन्तन और मनन होना चाहिये। मेरे भी चिन्तन-मनन का एक पक्ष है, उसे भी आप समझें।

इस पुस्तक में **'एप्रिसिएशन'** की भाँति न तो नाटककार और उसके नाटकों की प्रशंसा है और न कोरे **'क्रिटिक'** की भाँति नाटकों के दोषों का छिद्रान्वेषण करने की चेष्टा की गयी है। इसमें जो कुछ है, उसीमें **'विश्लेषण'** समीक्षा तीसरा नाम देता हूँ। यद्यपि यह नाम भी समीक्षा जगत् के लिए सर्वथा नवीन नहीं है, तथापि हो सकता है कि वहाँ उसका वह भाव न हो जो मैं इस शब्द द्वारा इस पुस्तक के लिए व्यक्त करना चाहता हूँ। यह पुस्तक

कुछ उस ढंग की है जिसे आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में **'पोस्ट-मार्टम'** कहते हैं और जिसका अनुवाद कुछ मित्रों ने 'शव-परीक्षा' किया है। जिस प्रकार विद्यार्थी शरीर के अंग-प्रत्यंग को काटकर उसके अस्थि, तंतुओं, मासपेशियों आदि का सूक्ष्म निरीक्षण कर अपना ज्ञानवर्धन करता है, उसी प्रकार प्रसाद के नाटकों के विभिन्न तत्वों को अलग करके देखने की चेष्टा मैंने की है। पर मैं अपने इस कार्यों को कदापि **'शव-परीक्षा'** कहना पसन्द नहीं करूँगा। साहित्य कदापि **शव** नहीं है और प्रस्तुत पुस्तक कोरी **परीक्षा** नहीं।

मेरा यह कार्य कुछ विज्ञान के उस विद्यार्थी सरीखा भी है जो अपनी क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा जल के विभिन्न तत्वों को अलग करके बताता है कि वह हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर बना है। जल से इन तत्वों को अलग करने की जो क्रिया है, वैसी ही कुछ क्रिया का प्रयोग मैंने प्रसाद के नाटकों पर किया है। विभिन्न नाटकों के भीतर जो तत्व जिस रूप में मुझे देख पड़े, मैंने उन्हें सामने रखने का प्रयत्न किया है। तत्वों की इस छान-बीन में मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि नाटकों का बाहर से दिखाई देनेवाला सौन्दर्य छिप गया है। इसका अर्थ यह न निकाला जाना चाहिये कि मुझे उसमें सौन्दर्य देखने की क्षमता ही न थी या मुझे सौंदर्य दीखा ही नहीं। वह तो मेरे विश्लेषण में उसी प्रकार छिप गया है जिस प्रकार जल का स्वरूप हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के रूप में विकीर्ण होने पर लुप्त हो जाता है। मेरा यह कार्य उचित है या अनुचित, इसे देखने-समझने का कभी अवकाश नहीं मिला, यह भी मुझे स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है। हाँ, यह अवश्य अनुभव करता हूँ कि इसमें कुछ नूतनता है; किन्तु वह कैसी है, यह विज्ञ ही बता सकते हैं।

इसमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा मेरा अपना है, यह दावा करना धृष्टता ही होगी। हाँ, इतना निश्चित है कि इसमें तनिक भी लेई-कैंची का प्रयोग नहीं किया गया है। अवश्य ही, अनेक आलोचक मित्रों की पुस्तकों को उलट-पुलट कर देखने का अवसर मिला है। उनके विचारों से प्रभावित हुआ हूँ, प्रेरणा भी मिली है। इसके लिए उन सभी लेखकों का आभार मानता हूँ। सम्भव है, अनजाने इन मित्रों में से किन्हीं-किन्हीं के विचार उनकी ही शब्दावली में जहाँ-तहाँ उतर आये हों। यदि कहीं किसी मित्र को इसमें अपने भावों, विचारों और शब्दों का अपहरण जान पड़े तो उसके लिए मैं उनसे क्षमा चाहूँगा।

इससे अधिक मुझे और कुछ नहीं कहना है। हाँ, उसके एक परम दोष को बता देना आवश्यक समझता हूँ। पुस्तक के अधिकांश अंश दस बारह वर्ष पूर्व लिखे गये थे। अन्य अंश इस बीच थोड़ा-थोड़ा करके काफी अन्तर से लिखे गये हैं। लिखने में भी नाटकों

का कोई क्रम न था । जब जो जी में आया उठा लिया, दो-चार पृष्ठ लिख डाले । इसलिए इसमें एक उठान में लिखी गयी पुस्तक के समान संग्रथन का अभाव हो सकता है । इसी कारण सभी नाटकों की चर्चा एक समान और एक ढंग से नहीं की जा सकी है । यह भी हो सकता है कि अवधि की लम्बाई के कारण विचारों में कहीं-कहीं असंगतियाँ आ गयी हों, पर यह मेरी अपनी जीवन की विवशता है ।

यदि भाई मुखरामसिंह, श्यामलाकान्त वर्मा और सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव न होते तो शायद मैं इसे आपके सामने रखता भी नहीं । आरम्भिक दिनों में मुखरामसिंह ने बार-बार उत्तेजित कर इसे लिखने को बाध्य किया । उनके बाद जब कुछ शिथिलता आयी तो श्यामलाकान्त ने उसकाने में में कोई कसर न की । और अन्त में जब इस पुस्तक की पांडुलिपि कई बरसों से पड़ी आलमारी में दीमकों का भोजन बन रही थी तो सुरेन्द्रकुमार ने उसे पूरा कर डालने का ही नहीं, शीघ्र प्रेस भेज देने का तकाजा करना अपना नियम बना लिया था । अतः इसके लिए इन लोगों को मैं धन्यवाद दूँ या यह कहूँ कि इस अपराध के अबेटमेंट के दोषी ये लोग हैं, तो आत्मीयता के नाते मेरे लिए दोनों एक ही बात होगी ।

प्रिन्स आव वेल्स म्यूजियम,
बम्बई ।
दीपावली २०१३

परमेश्वरीलाल गुप्त

अनुक्रम

परिशिष्ट

——:०:——

प्रसाद के नाटक

परिचय

नाटक

नाटक साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, साथ ही उसकी गणना कला के अन्तर्गत होती है। नाटक के साहित्यिक और कलात्मक स्वरूप पर समय समय पर विवेचन होते रहे हैं, अतः उस दृष्टि से यहां कुछ कहना अपेक्षित नहीं है। इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि जहाँ साहित्य और कला के अन्य रूप प्रकृति के स्वरूप को एक विशिष्ट रूपसे व्यक्त करते हैं, वहाँ नाटक उसे संश्लिष्ट ढंग से उपस्थित करता है। इसके अन्तर्गत भावों को व्यक्त करने की क्षमता अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक है। साहित्य और कला का नाटक में इस ढंग से समन्वय है कि उसके द्वारा कला और साहित्य दोनों का आनन्द एक साथ ही उठाया जा सकता है। इसका आनन्द उठाने के लिए आँख और कान दोनों खुला रखना पड़ता है। अपनी इन विशेषताओं के कारण नाटक का स्वरूप कुछ दुरूह है।

नाटक का विकास

ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत म हो हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथा समय भरत मुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है— **नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है अर्थात् निःदुख सत्ययुग के व्यतीत हो जान पर त्रेतायुग के आरम्भ में देवताओं ने स्रष्टा ब्रह्मा से किसी ऐसे मनोरंजन के साधन को उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दुख भूल सकें और आनन्द प्राप्त कर सकें। फलतः उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्वेद से रस लेकर नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया। आदि आदि।**

नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्यग्रंथ और तत्सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रंथ प्रचुर भाषा में लिखे गये और साहित्य में नाटकों के लिखने की परिपाटी संस्कृत, प्राकृत आदि से होती हुई हिन्दी को भी प्राप्त हुई।

भारतीय नाटकों की स्थिति

आधुनिक भारतीय नाटचसाहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। गत शताब्दी के जन-जागरण के साथ साथ लोगों का कला के प्रति आकर्षण बढ़ा और विभिन्न कलाएं, जो समय के गति प्रवाह के मन्द हो जाने से प्रगतिहीन अथवा मन्दप्रगति हो रही थीं, नये सिरे से विकसित होने लगीं। नाटकों के प्रति भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस्लाम धर्म के प्रतिकूल होने के कारण नाटक को, मुगलकाल में उस प्रकार का कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल-शासकों से प्राप्त हुआ था। इस कारण मुगल शासन के दो ढाई सौ बरसों में भारतीय परम्परा के अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया। अभिनयशालाओं के अभाव में नाटकों का विकास हो भी किस प्रकार सकता था? इस कारण नाटकों की प्रगति इस काल में रुक गयी, ऐसा जान पड़ता है।

थिएटर

अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया। कुछ चीजें तो अंग्रेजों ने, जो यहां रहते थे, अपनी सुख-सुविधा के लिए उपलब्ध कीं और कुछ उनकी व्यापार-बुद्धि और कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप इस देश में आयीं। नाटक का प्रवेश पाश्चात्य देश से हमारे देश में सर्व प्रथम अंग्रेजों के मनोरंजन के निमित्त ही हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहां अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थियेटर के नाम से अधिक विख्यात हैं। इस ढंग का पहला थियेटर, कहा जाता है, पलासी के युद्ध से बहुत पूर्व कलकत्ता में बन गया था। एक दूसरा थियेटर सन् १७९५ ई०में खुला इसका नाम 'लेफेड फेअर' था। इसके बाद १८१२ में 'एथीनियम' और दूसरे वर्ष 'चौरंगी थियेटर' खुला।

इस प्रकार पाश्चात्य नाटचकला के सम्पर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने उनके थियेटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिए रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर बम्बई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए एक नये ढंग के अभिनयशाला को जन्म दिया। इन अभिनयशालाओं में खेले जानेवाले नाटक प्रायः उर्दू में लिखे गये। पर उनके नाटकों का महत्व मनोरंजन तक ही सीमित था। उनमें साहित्य का कोई गुण व्यक्त न हो पाया था।

हिन्दी नाटकों का विकास

हिन्दी का सम्बन्ध इन दोनों रंगशालाओं से होने से पूर्व कुछ कवियों ने नाटक लिखने का प्रयास किया था; पर वे पद्यबद्ध कथोपकथन के सिवा और कुछ नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः नाटक कहे जाने योग्य नाटकों का आरम्भ सर्व प्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गिरिधरदास जी ने किया। उन्होंने कुछ तो मौलिक नाटक लिखे और कुछ अनुवाद किये। हिन्दी नाटकों का वास्तविक इतिहास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से होता है।

भारतेन्दु के नाटक

भारतेन्दु ने अपने पिता के अनुकरण पर नाटकों के अनुवाद किये और थोड़े से मौलिक नाटक लिखे। उन्होंने अपने नाटकों को नाटक के प्राचीन लक्षणों के अनुकूल ही लिखने का प्रयत्न किया था; पर उन नाटकों पर स्पष्टतः बंगला और पारसी नाटक शैली की छाप है। उन्होंने इन शैलियों को जानबूझ कर ग्रहण किया हो ऐसा नहीं जान पड़ता; पर इतना तो है ही, वे उनकी शैली से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे हैं, और उसी दृष्टि से उन्होंने अपने नाटकों को रंगमंच के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार नाटकों की भारतीय परम्परा भारतेन्दु के नाटकों में पाश्चात्य परम्परा से अछूती न रह सकी। इस प्रकार उनके नाटकों ने सामयिक बनकर परवर्ती नाटककारों के सामने आधुनिक हिन्दी नाटकों की रूपरेखा प्रस्तुत की, और उस दिशा में लोगों को बढ़ने की प्रेरणा दी।

अनूदित नाटक

भारतेन्दु जी के पश्चात् हमारे सामने मौलिक नाटक कम और अनुवाद अधिक आये। ये अनुवाद हमारे सामने दो क्षेत्रों से आये। एक तो संस्कृत से और दूसरे बंगाला से। संस्कृत से आनेवाले नाटक प्राचीन शास्त्रीय परम्परा से लिये गये नाटकों के अनुवाद थे; इस कारण उनपर उस परम्परा की छाप बहुत कुछ बनी हुई थी। जो नाटक बंगला से अनुवाद होकर आये, उनपर पहले ही पाश्चात्य प्रणाली का प्रभाव पड़ चुका था; अतः जब वे हिन्दी में आये तो उन्होंने लेखकों, पाठकों और दर्शकों में एक चकाचौंध उत्पन्न कर दिया। लोग उनकी ओर तेजी के साथ आकृष्ट हुए। द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों के अनुवादों ने हिन्दी में जितनी ख्याति प्राप्ति की, उतनी किसी अन्य ने नहीं।

पारसी नाटक

इस प्रकार जब हिन्दी नाटक संस्कृत और बंगला से अनुप्राणित हो रहा था, उसी समय रंगमंच के क्षेत्र से पारसी नाटक हमारे सामने आये। पारसी नाटक कम्पनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर हमारे सामने अपने नाटक उपस्थित किये। ये नाटक साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से ऊँचे न थे तथापि उसमें नाट्यकला का आकर्षण तो था ही। हिन्दी नाटक उस ओर झुकी। हिन्दी में इस प्रकार के नाटक उपस्थित करने का श्रेय नारायण प्रसाद बेताब को है।

प्रसाद का आगमन

इसके बाद नाटककार के रूप में प्रसाद हमारे सामने आते हैं। अपने नाटकों द्वारा उन्होंने हिन्दी नाटकों को एक नयी दिशा और नयी गति दी। उन्होंने जो मौलिक नाटक उपस्थित किये, उसने न केवल लोगों के बंगला के प्रति आकर्षण का ही शमन किया वरन् उच्चकोटिका साहित्य प्रस्तुत कर हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के मानसिक धरातल को भी ऊँचा उठाया।

प्रसाद

जिस समय प्रसाद साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय वे केवल १५ वर्ष के थे। काव्य की ओर उनकी रुचि बचपन से ही थी। अतः स्वाभाविक रूप से ही उन्होंने कविता से अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया; किन्तु शीघ्र ही हम उनको नाटक और कहानी की ओर झुकते पाते हैं। १९१० में उन्होंने अपना पहला नाटक **सज्जन** लिखा और १९११ में उनकी पहली कहानी **ग्राम** प्रकाशित हुई। काव्य प्रेमी होते हुए गद्यकार होने की प्रेरणा उन्हें किस प्रकार हुई, यह तो उनका कोई बाल-सहचर ही बता सकता है आज इसके जानने का न तो कोई साधन है और न सामग्री। नये लेखक का चंचल-मन चतुर्दिक बढ़ने का होता है; वह नाना प्रकार की रचनाओं की ओर अग्रसर होता है और नये-नये प्रयोग करता है और काल क्रम से एक ऐसा समय आता है जब वह अपनी साहित्यिक प्रतिभा को अच्छी तरह परख कर अपनी साहित्य साधना को एक दिशा में सीमित कर लेता है। इसके अपवाद बहुत कम लोग होते हैं। हो सकता है कुछ इसी प्रकार की चंचलता उनको गद्य की ओर खींच लायी हो। पर प्रसाद गद्य की ओर आकर भी कवि बने रहे और कवि होकर भी नाटक और कहानी में समान रूप से अपनी प्रतिभा का विकास किया।

उनके नाटक

प्रसाद ने अपने साहित्यिक जीवन के ३५ वर्ष के भीतर १४ नाटक प्रस्तुत किये और दो का संयोजन किया। जो इस प्रकार हैं—

१. **सज्जन** (सन् १९१०–११)
२. **प्रायश्चित** (जनवरी सन् १९१२)
३. **कल्याणी परिणय** (सन् १९१२)
४. **करुणालय** (फरवरी सन् १९१३)
५. **यशोधर्मदेव** (अप्रकाशित)
६. **राज्यश्री** (जनवरी सन् १९१५)
७. **विशाख** (सन् १९२१)
८. **अजातशत्रु** (सन् १९२२)
९. **जनमेजय का नागयज्ञ** (सन् १९२३)
१०. **कामना** (सन् १९२३–२४)
११. **स्कन्दगुप्त** (सन् १९२८)
१२. **चन्द्रगुप्त** (सन् १९२८)
१३. **एक घूंट** (सन् १९२९)
१४. **ध्रुवस्वामिनी** (सन् १९३३)
१५. **अग्निमित्र** (अपूर्ण)
१६. **इन्द्र** (संयोजन मात्र)

यशोधर्मदेव

उपर्युक्त सूची कुछ स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती है। **यशोधर्मदेव** नामक नाटक प्रसाद ने **विशाख** से पूर्व लिखा था और यह बहुत बड़ा नाटक था। इसके प्रकाशित किये जाने की सूचना उन्होंने **विशाख** की भूमिका में दी है। किन्तु यह नाटक प्रकाश में आने से पूर्व ही नष्ट कर दिया गया। इसका कारण यह बताया जाता है कि जिस ऐतिहासिक पष्ठभूमि पर उन्होंने अपने कथानक को खड़ा किया था, उस पृष्ठभूमि की ऐतिहासिकता को विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर अमान्य ठहराया। अतः अनैतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये नाटक का प्रकाश में आना प्रसाद ने अवांछनीय माना और उसे नष्ट कर डाला।

अग्निमित्र

अग्निमित्र नामक नाटक के सम्बन्ध में लोगों को साधारणतया कुछ भी नहीं मालूम। यह नाटक उन्होंने **इरावती** उपन्यास लिखने से पूर्व लिखना आरम्भ किया था और इसका कथानक भी वही था जो **इरावती** की पृष्ठभूमि है। उन्होंने उसके दो-तीन दृश्य लिख भी डाले थे। उसे देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सलाह दी कि उस कथानक पर नाटक न लिख कर उपन्यास लिखा जाय। उनकी राय मानकर प्रसाद ने इस नाटक का लिखना स्थगित कर **इरावती** उपन्यास लिखना आरम्भ किया था किन्तु दैव के दुर्विधान से वह भी पूरा न हो सका। इस नाटक का जो अंश उन्होंने लिखा था, वह उनके स्वर्गवास के पश्चात् दैनिक 'आज' के ३० अक्टूबर सन् १९४४ के अंक में प्रकाशित हुआ है।

इन्द्र

इन्द्र नामक नाटक लिखने का आयोजन प्रसाद अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कर रहे थे। इस नाटक में उनका त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या आदि का ऐतिहासिक ढंग पर विवेचन करने का विचार था। इस नाटक की भूमिका उन्होंने तैयार भी कर ली थी; किन्तु वे अपनी इस कृति को साकार रूप न दे सके। उनकी यह भूमिका काशी नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित **कोशोत्सव स्मारक ग्रन्थ** में प्रकाशित हुआ है। नागरी प्रचारणी पत्रिका में भी यह **प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्** शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

नाटकों के विषय

इस प्रकार प्रसाद के केवल तेरह नाटक हमारे सामने हैं। इनमें आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो प्रतीकात्मक हैं। पुराण भी इतिहास ही है और प्रसाद उनको इतिहास की दृष्टि से ही देखते थे। इस कारण **एक घूंट** और **कामना** को छोड़कर उनके सभी नाटक ऐतिहासिक ही कहे जायेंगे।

कालक्रम

काल-क्रम से प्रसाद के नाटकों को दो खंडों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे जो सन् १९१० और १९१५ के बीच लिखे गये और दूसरे वे जो सन् १९२२ के बाद रचे

गये। सन् १६१५ और १६२१ के बीच उन्होंने किसी नाटक की रचना नहीं की। कदाचित इसी काल के बीच किसी समय उन्होंने **यशोधर्मदेव** की रचना की होगी, जो हमारे सामने नहीं है। इस प्रकार हमारे बीच उनके जो नाटक हैं उनमें काल विभाजन की रेखा अत्यन्त स्पष्ट है। यह विभाजन रेखा संसार के इतिहास के एक महत्वपूर्ण काल की, अर्थात् प्रथम महायुद्ध की है। युद्धोत्तर नाटकों पर इस महायुद्ध-जनित अवस्था की छाप किस रूप में पड़ी है, यह एक महत्व का विषय है; पर इसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं जा सका है।

प्रसाद की रचनाओं की तिथियों के सम्बन्ध में लेखकों में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों के निराकरण का कुछ प्रयत्न डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक **प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन** में किया है, किन्तु वे स्वयं अनेक स्थलों पर भ्रान्तियों के शिकार हो गये हैं। प्रसाद की आरम्भिक रचनाएँ **इन्दु** में प्रकाशित हुई हैं। उनके अंकों पर ध्यान न देने से यह समझा जाने लगा है कि **प्रायश्चित** प्रसाद का प्रयोगकाल का अन्तिम नाटक है। वस्तुतः वह **सज्जन** के बाद का ही दूसरा नाटक है। **सज्जन इन्दु** (कला २, किरण ८–११; फाल्गुन ६७–ज्येष्ठ ६८) में प्रकाशित हुआ है और **प्राय-श्चित इन्दु** (कला ४, खंड १, किरण २, माघ १६६६) में छपा है। उसकी रचना १६०६ के आस-पास हुई थी। लोग उसका प्रकाशन काल १६१४ मानते हैं वह गलत है। इसी प्रकार **करुणालय इन्दु** के फरवरी १६१३ के अंक में प्रकाशित हुआ है, १६१२ में नहीं। इस प्रकार आरम्भिक नाटकों का क्रम है सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय और करुणालय।

युद्धोत्तरकालीन नाटकों को कुछ आलोचकों ने कई खंडों में विभाजित करने का यत्न किया है। इन आलोचकों का कहना है कि **विशाख** और **अजातशत्रु** के पश्चात् के चार बरसों अर्थात् सन् १६२२ और १६२६ के बीच उन्होंने किसी नाटक की रचना नहीं की। किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। **जनमेजय का नागयज्ञ** के प्रकाशन की तिथि लोग १६२६ मानते हैं किन्तु वह पुस्तकाकार प्रकाशित होने से पूर्व **माधुरी** के प्रथम वर्ष के अंकों में प्रकाशित हुआ है। जिससे स्पष्ट है कि वह १६२६ से बहुत पहले, **अजातशत्रु** के प्रकाशन के एक वर्ष बाद १६२३ में लिखा गया था और लिखने के तीन वर्ष बाद पुस्तकार प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार **कामना** भी १६२३–२४ में लिखी गयी किन्तु वह प्रकाशित १६२७ में हुई। इस प्रकार **जनमेजय का नाग यज्ञ** और **कामना** दोनों ही तीन चार वर्ष तक अप्रकाशित पड़े रहे और लोगों ने उनके प्रकाशन काल को ही रचना काल मान लिया।

कामना के पश्चात् **स्कन्दगुप्त** के प्रकाशन के बीच चार वर्ष का अन्तर है। किन्तु यह बात भुला दी जाती है कि **चन्द्रगुप्त**, **स्कन्दगुप्त** के प्रकाशन के समय तक लिखी जा चुकी थी। श्री विनोदशंकर व्यास ने **प्रसाद और उनका साहित्य** में उसकी रचना काल १६२८ दी है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उसे गलत ठहराया है और कहा है कि उससे आलोचकों को भ्रम हो गया है। वस्तुतः शर्मा जी स्वयं गलतफहमी में पड़ गये हैं। **महाराणा का महत्व** के द्वितीय संस्करण (१६२८) के अन्तिम पृष्ठ पर प्रसाद की उन कृतियों की सूची है, जो उस समय तक प्रेस में जा चुके थे। इस सूची में **चन्द्रगुप्त** का भी

नाम है। अतः निश्चय ही वह उस समय तक प्रेस में जा चुका था; छपने में कई बरसों का विलम्ब हुआ। क्यों? कहा नहीं जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि **चन्द्रगुप्त** और **स्कन्दगुप्त** की रचना १९२४ और १९२८ के बीच हुई[1]। और उसके बीच कोई अन्तर नहीं है।

हाँ, **एक घूंट** के प्रकाशन के तीन वर्ष पश्चात् १९३३ में **ध्रुवस्वामिनी** प्रकाशित हुई है। यह एक ऐसा अन्तर है, जिसका कुछ महत्व हो सकता है, पर प्रसाद की बहुमुखी प्रतिभा और उनके इस बीच प्रकाशित अन्य रचनाओं को देखते हुए यह तीन वर्ष का अन्तर नगण्य है।

परिवर्तन और परिवर्धन

इस प्रकार १९२१ से नाटक लिखने का जो क्रम आरम्भ होता है, वह अविश्रान्त १९३३ तक चला जाता है। इस काल को प्रसाद की रचनाकला के विकास के लिए किसी प्रकार खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता। इस दिशा में एक कठिनाई और भी है। प्रसाद के जीवनकाल में उनके नाटकों के अनेक संस्करण निकले। उन संस्करणों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे अपने नाटकों में आवश्यकता समझकर यथाशक्ति परिवर्तन और परिवर्द्धन करते रहते थे। जो कुछ लिखा जा चुका है उसमें परिवर्तन न करने का हठ उनमें न था। वे अपनी रचनाओं में परिवर्तन योग्य स्थलों में हेर-फेर करना अनुचित नहीं समझते थे। इसका जब-जब उन्हें अवसर मिला उन्होंने अपने नाटकों में परिवर्तन किया है। **राजश्री** जब प्रथम बार **इन्दु** में प्रकाशित हुई थी तब उसमें तीन अंक थे जिनमें क्रमशः ५, ६ और ५ दृश्य थे। जब वह पुस्तकाकार हुई तो उसमें चार अंक हो गये। प्रथम तीन अंकों में भी कई दृश्य बढ़ाये गये तथा कई नये पात्रों की कल्पना की गयी। इस प्रकार उसमें अत्यधिक परिवर्तन हुआ है और वह युद्धपूर्व अथवा प्रयोग काल की रचना की अपेक्षा युद्धोत्तर काल की रचना बन गयी है। इस प्रकार प्रसाद की रचनाओं के क्रमिक विकास का अध्ययन आज सरलता से नहीं किया जा सकता।

---

१. इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि इस नाटक का गीत—सुधा सीकर से नहला दो जेनवरी १९२७ में इन्दु (कला ८, किरण १) में अनुनय शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

प्रयोगकालीन नाटक

प्रसाद जी ने अपने प्रयोगकाल (१६१० और १६१५ के बीच) म पांच नाटक लिखे— **सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी परिणय, करुणालय,** और **राजश्री** । किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, **राजश्री** का जो संस्करण आज प्राप्य है, उसको प्रयोगकाल की रचना नहीं कहा जा सकता । उस पर तो उत्तर काल की रचनाओं के साथ ही विचार करना उचित होगा ।

ऐतिहासिक नाटक लिखने का उद्देश्य

ये सभी नाटक ऐतिहासिक हैं । प्रसाद का ऐतिहासिक नाटक लिखने में अपना एक उद्देश्य रहा है । उन्हीं के शब्दों में—**इतिहासका अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है । हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और भी कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं को दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।** उनके सामने अपने प्रयोग कालीन नाटकों की रचना के समय वह आदर्श अथवा उद्देश्य रहा है या नहीं, कहा नहीं जा सकता । उन्होंने अपने ये भाव पहली बार '**विशाख**' की भूमिका में व्यक्त किये हैं। जहां तक इन प्रयोगकालीन नाटकों को देखने से जान पड़ता है, उनका उस समय तक ऐसा कोई लक्ष्य नहीं था । वे केवल प्रयोग तक ही सीमित थे । पर सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उन्होंने इसके लिए भी ऐतिहासिक कथानक ही क्यों चुने ?

यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर सरलता से नहीं दिया जो सकता । पर यदि हम उनकी रचनाओं पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि नाटकों का प्रयोग आरम्भ करते समय तक प्रसाद कथाकार नहीं बन पाये थे । जहाँ वे मौलिक नाटक लिखने की ओर झुक रहे थे, वहीं कदाचित वे अपने को किसी मौलिक कथानक की कल्पना करने में फँसाना नहीं चाहते थे । इस कारण कथानक के रूप में जो ऐतिहासिक घटनाएँ उनके सामने थीं, उन्हीं को उन्होंने अपना लिया । आरम्भ से ही इतिहास के प्रति अनुरक्ति भी इसका कारण हो सकती है, पर स्पष्टतः उसका कोई प्रयोजन था, ऐसा नहीं जान पड़ता ।

सज्जन

कथानक

सज्जन का कथानक महाभारत की एक घटना पर आश्रित है। जब पांडव द्वैतवन में दुर्योधन के कुटिल राजनीतिक चक्र में पड़कर नाना प्रकार की विपत्तियों का सामना करते हुए काल निक्षेप कर रहे थे, दुर्योधन आदि ने उनके एकाकी अवस्था को देखते हुए ससैन्य जाकर आखेट के बहाने उनको नष्ट करने का निश्चय किया। इस निश्चय के अनुसार वे लोग द्वैतवन में आते हैं। पहले उत्सव होता है फिर आखेट करने का निश्चय। उस वन का रक्षक गन्धर्व चित्रसेन दुर्योधन को चेतावनी देता है कि वह मृगयावन नहीं है। पर वैभव मदान्ध दुर्योधन उसकी बातों की उपेक्षा कर जाता है। परिणाम स्वरूप चित्रसेन से दुर्योधन का युद्ध होता है और दुर्योधन अपने साथियों सहित बन्दी कर लिया जाता है। इस घटना की सूचना जब पांडवों को, जो वन के दूसरे भाग में निवास करते हैं, मिलती है तो धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन को दुर्योधन को छुड़ाने का आदेश देते हैं। अर्जुन जाकर गन्धर्व सेना से युद्ध करते हैं। युद्ध के समय चित्रसेन अपने मित्र अर्जुन को पहचानता है और युद्ध बन्द कर देता है, और उनके साथ युधिष्ठिर के पास आता है। दुर्योधन आदि छोड़ दिये जाते हैं। वह युधिष्ठिर की इस उदारता से लज्जित हो जाता है।

जहाँ तक इस कथानक का सम्बन्ध है, वह स्पष्टत: इतना संकुचित है कि उसमें घटना वर्णन के सिवा और कुछ जान ही नहीं पड़ता। पात्रों के चरित्र के उभरने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। घटना क्रम से उसका आभास मात्र मिल जाता है। दुष्टता का अवतार दुर्योधन और धर्मराज युधिष्ठिर के स्वभाव के दो छोर इस नाटक के द्वन्दात्मक कड़ी हैं पर वे भी किसी प्रकार का आकर्षण उत्पन्न नहीं करते।

रूप

नाटक के रूप में इस पर प्राचीनता की छाप पूर्ण रूपेण है। नान्दी, प्रस्तावना, विदूषक, भरतवाक्य आदि सब प्रस्तुत किये गये हैं। इसके देखने से जान पड़ता है कि प्रसार ने भारतेन्दु के नाटकों से प्रेरणा प्राप्त की। पूर्ववर्ती लेखकों के नाटकों को भांति ही सूत्रधार आता है और चारों ओर देख कर कहता है—

अहा! आज कैसा मंगलमय दिवस है, हमारे प्यारे सज्जनों की मंडली बैठी हुई है, और सत्प्रबन्ध देखने की इच्छा प्रकट कर रही है। तो मैं भी अपनी प्यारी को क्यों न बुलालूं? (नेपथ्य की ओर देखकर) प्यारी, अरी मेरी प्राणप्यारी।

नटी—क्या है? क्या?

सूत्रधार—यह है कि जो है सो.... (सिर झुकाता है)।

नटी—कुछ कहोगे कि जो है सो।

इसी तरह की वार्ता के साथ पुराने ढर्रे पर नाटक आरम्भ होता है और पारसी स्टेज की तरह गद्यपद्य की खिचड़ी वाले कथोपकथन के साथ आगे बढ़ता है। इस नाटक में तीन स्थल ऐसे हैं जहाँ यदि कोई बात कोई पात्र पद्य में कहता है तो दूसरा पात्र भी उसका उत्तर पद्य में ही देता है। यथा—द्वितीय दृश्य में दुर्योधन और कर्ण का संलाप—

दुर्योधन—अहा हा यह स्थान भी कैसा मनोरम है, सरोवर में खिले हुए कमलों के पराग से सुमित समीर इस वन्य प्रदेश को आमोदमय कर रहा है।

नील सरोवर बीच, इन्दीवर अवली खिली।
कर्ण— मनु कामिनी कच बीच, नीलम की बन्दी लसे।
दुर्योधन—जल महं परसि सुहात, कुसुमित शाखा तरुन की।
कर्ण— मनु दर्पण दरसात, निज चूमत कामिनी।
दुर्योधन—सारस करत कलोल, सारस की अवली नमय।
कर्ण— मनु नरपति के गोल, चक्रवर्ती विहरण करें।

ऐसे दूसरे दो स्थल हैं—दृश्य ३ के प्रारम्भ में युधिष्ठिर, अर्जुन और द्रौपदी का कथोपकथन और दृश्य ५ में युधिष्ठिर और द्रौपदी का सम्भाषण। इन्हें पढ़कर लगता है कि या तो सभी पात्र तुक्कड़ हो गये हैं या कवियों का कोई दंगल हो रहा है। पारसी स्टेज की जो छाप भारतेन्दु के कर्पूर मंजरी पर पड़ी है वही इस नाटक में भी आयी है। इसकी भाषा में प्रौढ़ता का अभाव है और प्राचीन प्रथानुसार दुर्योधन-कर्ण के पद्य-सम्भाषण में एक के तुक में प्रकृति का वर्णन है तो दूसरे में शृंगार या नीति है। नाटक में विदूषक को व्यर्थ स्थान दिया गया है और उसका स्वगत भी कुछ महत्व नहीं रखता। नाटक में गन्धर्वों के सहायक राक्षस भी दिखाये गये हैं।

भाषा की दृष्टि से जहाँ एक ओर **दर्द दिल** को स्थान दिया जाता है, वहीं **पटमंडप** का प्रयोग कर संस्कृत भाषा के पक्षपाती होने का संकेत किया गया है। कविताओं में ब्रजभाषा की पुट है। समष्टि में प्रसाद जी का यह प्रयास प्रस्तुतः शिशु प्रयास जैसा ही है।

प्रायश्चित

कथानक

प्रायश्चित का कथानक भारत की मध्यकालीन इतिहास का एक कथित कलुष पृष्ट है। जयचन्द और पृथ्वीराज के पारस्परिक बैर और मुहम्मदगोरी के आक्रमण की घटनाओं को लेकर इस देश में अनेक किंवदन्तियों का प्रचार हुआ है। ऐसी ही किंवदन्ती के आधार पर इस नाटक के कथानक को खड़ा किया गया है। प्रथम दृश्य में दो विद्याधरी आकर तीरायण के अंतिम युद्धका वृत कहती हैं। यह युद्ध जयचन्द और पृथ्वीराज के बीच हुआ था। इस नाटक के अनुसार प्रतिकार एवं द्वेष बुद्धि से जयचन्द में दुर्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और वह अपने जामाता पृथ्वीराज पर चढ़ाई करता है और युद्ध में उसे मार डालता है। जयचन्द स्वयं भी घायल होता है। ये विद्याधरी उसकी भर्त्सना कर उससे प्रायश्चित कराना चाहती हैं। द्वितीय दृश्य में जयचन्द पृथ्वीराज की बुझती हुई चिता के पास आता है और उसकी राख को कुचलना चाहता है उसी समय अन्तरिक्ष से विद्याधरी बताती है कि उस चिता में संयोगिता की भी राख है। उसे अपनी पुत्री संयोगिता अन्तरिक्ष के कोने से झाँकती हुई दिखाई पड़ती है और उसमें पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न होती है और अर्धविक्षिप्त अवस्था में रणभूमि से वापस लौटता है। तृतीय दृश्य में उसका प्रलाप मात्र है। चतुर्थ दृश्य में

मुहम्मद गोरी कन्नौज पर आक्रमण करता दिखाया गया है। अन्तिम दृश्य में जयचन्द सारा भार अपने पुत्र और मन्त्री पर छोड़ कर, भाग जाता है और डूब मरता है।

अनैतिहासिक तत्व

कथानक की दृष्टि से इस एकांकी का कोई महत्व नहीं है। जयचन्द पर यह आरोप रहा है कि उसने मुहम्मद गोरी को उभार कर पृथ्वीराज का सत्यानाश करा और चौहान तथा राठौरों को आपस में अकारण कटा डाला था। इस बैर का कारण संयोगिता स्वयंवर माना जाता रहा है। किन्तु यह कथा ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रमात्मक और निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। इसके अतिरिक्त युद्धभूमि में जयचन्द का आहत होकर तड़पना, वहाँ पृथ्वीराज का दाह संस्कार, कन्नौज पर मुसलमानों का आक्रमण और बिना युद्ध किये जयचन्द का डूब मरना, यह सब घटना, जो इस नाटक में दिखायी गयी हैं, वे सब सब इतिहास विरुद्ध हैं।

इससे प्रकट होता है कि प्रसाद ऐतिहासिक तथ्यों के उहापोह में जिस प्रकार अपने पिछले नाटकों के लिखने के समय थे, वैसी कोई बात उनके आरम्भ काल में नहीं जान पड़ती। उनका ध्यान उस समय तक ऐतिहासिक तथ्यों की ओर बिलकुल नहीं था। अपने नाटकों के लिए कथानक खड़ा कर लेना भर उन्हें अभीष्ट था।

रूप

नाटक की दृष्टि से यह छ दृश्यों का रूपक है, जिसका विधान आधुनिक एकांकी की तरह का है और उस पर विदेशी नाटकों की छाप है। जान पड़ता है इसके लिखने में प्रसाद शेक्सपियर के मैकवेथ से प्रभावित हुए हैं। जो स्थान मैकबेथ के प्रथम दृश्य में 'वियर्ड सिस्टर्स' का है वही स्थान इस नाटक के प्रथम दृश्य में विद्यावरियों का है। जिस प्रकार मैकबेथ में बैंकों की प्रेतात्मा उपस्थित कार्यक्रम में व्यवधान डालकर दिशा-गति वदल देती है, वैसी ही स्थिति यहाँ संयोगिता की मूर्ति के कारण होती है। पाश्चात्य ढंग की यह हिन्दी की प्रथम मौलिक ट्रेजेडी है। इसमें भारतीय पद्धति के नंदी, प्रस्तावना, पद्यमयवार्ता और सं ीत का सर्वथा अभाव है।

कुछ आलोचकों की यह धारणा है कि इस नाटक का कोई नायक नहीं है। किन्तु मैकबेथ के समान ही इस नाटक का नायक जयचन्द को कहा जा सकता है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से एक बात अवश्य दृष्टव्य है। मुहम्मद गोरी के दरबार में जिस भाषा में वार्तालाप होता है वह उर्दू मिश्रित है। एक अंश इस प्रकार है—

मुहम्मद—बहादुर शफ़क़त! आज सचमुच हिन्दोस्तान हलाली झंडे के नीचे आ गया और यह सब तो एक बात है, दर असल खुदाए पाक को जीनत देना मंजूर है नहीं तो भला इन फौलादी देवजादे हिन्दुओं पर फतह पाना क्या मुमकिन था।

इस प्रकार की भाषा उनके अन्य किसी नाटक में देखने को नहीं मिलती। इसका

सम्भवतः यह कारण है कि उनके अन्य सभी नाटक उस काल से सम्बन्ध रखते हैं जब मुसलमानों का भारत में प्रवेश नहीं हुआ था। उनमें किसी मुसलिम पात्र के न होने से प्रसाद को इस प्रकार की भाषा के प्रयोग का अवसर नहीं मिला। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यदि उनके नाटकों में मुसलिम पात्र होते तो वे किस भाषा का प्रयोग करते; किन्तु यहाँ जो प्रयोग हुआ है वह पात्र के अनुरूप ही कहा जायेगा। उसे हम प्रयोग मात्र ही नहीं कह सकते।

कल्याणी परिणय

कथानक

कल्याणी परिणय प्रसाद का तीसरा नाटक है। इसमें केवल एक अंक है, अर्थात् यह रूपक एकांकी है। इसका कथानक ऐतिहासिक है। इसके कथानक का मूल आधार वह ऐतिहासिक प्रवाद है जिसके अनुसार नन्दवंशोच्छेता चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम से सिल्यूकस जैसे विजयी वीर को परास्त कर उसकी पुत्री से विवाह किया था। इस एकांकी का कथानक प्रायः वही है जिस पर प्रसाद ने पीछे चलकर **चन्द्रगुप्त** नाटक की रचना की। दोनों को निकट देखने से जान पड़ता है कि यह नाटक कुछ परिवर्तित रूप में **चन्द्रगुप्त** के चतुर्थ अंक में समा गया है। वहाँ न केवल कथानक में ही समानता है, वरन् दोनों की भाषा तथा पदावली भी मिलती-जुलती है। इस नाटक के तीन गीत भी नाम मात्र के परिवर्तन के साथ उसमें लें लिये गये हैं। जिससे निस्संकोच कहा जा सकता है कि **चन्द्रगुप्त** इसी एकांकी का परिवर्धित एवं पूर्ण रूप है।

इस एकांकी के मुख्य पात्र चाणक्य, चन्द्रगुप्त, कार्नलिया और सिल्युकस हैं। उन्हें दा घटनाओं के बीच रखकर उनके चरित्र की मूल वृत्ति मात्र दिखा दी गयी है। कथानक में केवल एक ही प्रधान घटना है। आरम्भ में कौटिल्य इस उधेड़-बुन में लगा दिखाई पड़ता पड़ता है कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त की सहायता की जाय जिससे वह सिल्युकस को परास्त कर सके। साथ ही वह इस बात का भी इच्छुक है कि दोनों के बीच स्थायी मैत्री भाव उत्पन्न हो जाय। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह प्रथम दृश्य में अपने गुप्तचरों द्वारा अपने भावी कार्यक्रम का संयोजन करता दिखाई देता है। दूसरे दृश्य में चन्द्रगुप्त आखेट के समय दीख पड़ी सुन्दरियों की चर्चा कर उनके प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करता है। इसी समय उसको सूचना मिलती है कि शत्रुओं ने अचानक आक्रमण कर दिया है। तत्काल वह सेनापति चंडविक्रम को आदेश देता है कि वह यवन सेना पर प्रत्याक्रमण की व्यवस्था करे। आगे चलकर कथाक्रम में कार्नेलिया प्रथम दर्शन के आधार पर ही चन्द्रगुप्त के प्रति अपना प्रेम प्रकट करती है। दूसरी ओर सिल्युकस की हार होती है और वह अपने को अपमानित अनुभव करता है। इसी समय उसे सीरिया पर एण्टीगोनस के आक्रमण का समाचार मिलता है और वह इस आक्रमण से त्रस्त होकर सन्धि पर विवश होता है। फलतः सिल्युकस अपनी पुत्री कार्नेलिया का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर देता है और चन्द्रगुप्त उसकी सहायता के लिए अपने सेनापति चण्डविक्रम को देता है।

पात्र

कथानक इतना सीधा-सादा है कि उसमें वस्तु-विन्यास दिखाई ही नहीं देता। उसमे चरित्र चित्रण के लिए भी विशेष अवसर नहीं है। चाणक्य की बुद्धि कुशलता, दूरदर्शिता तटस्थवृत्ति की झलक समय समय पर मिलती है। वह चन्द्रगुप्त के हित साधन में सजग जान पड़ता है। चन्द्रगुप्त वीर, युद्ध कुशल और व्यवहार पटु है। वह मैत्री और विरोध दोनों में उदार है। सिल्युकस का स्वभाव भी वीरोचित है। अपने पराजय से अपने अपमान का अनुभव करता है। समय और अवसर के अनुकूल कार्य करने की क्षमता उसमें दृष्टिगोचर होती है। पर इन सब बातों के होते हुए भी चरित्र का विकास नहीं हो पाया है।

रूप

रचना की दृष्टि से इस एकांकी में नाटक की प्राचीन परम्परा को ही निभाने की चेष्ट की गयी है। इसके आरम्भ में नान्दी पाठ और अन्त में भारतीय परम्परा के अनुसा मंगल विधान परिलक्षित होता है। संवादों में पद्यों का बहुल प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से इसकी रचना में प्रसाद जी **सज्जन** की रचना से बहुत आगे नहीं बढ़ सके हैं।

करुणालय

रूप

करुणालय के रूप में उपर्युक्त रचनाओं से सर्वथा भिन्न प्रयोग प्रसाद ने नाटक क्षेत्र में किया है। जिस शैली में इसकी रचना हुई है उसे लोगों ने **गीति-नाट्य** क नाम दिया है; अर्थात् इसके कथोपकथन सब अतुकान्त कविता में लिखे गये हैं। इस नाटक के लिखने का उद्देश्य प्रसाद के ही शब्दों में **अतुकान्त कविता की उपादेयता का पता लगाना** है। इस दृष्टि से इसे प्रसाद के नाटकों की अपेक्षा पद्य रचनाओं के अन्तर्गत रखकर इसकी समीक्षा करना अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी होगा।

नाटक के रूप में इसका विवेचन केवल इसीलिए किया जा सकता है कि कथानक क नाटक पद्धति पर पांच दृश्यों में विभाजित कर एकांकी नाटक का रूप दिया गया है। यद्यपि रचना अतुकांत मात्रिक छन्दों में की गयी है पर विराम वाक्य रचना के अनुसार दिये ग हैं। इसकी एक विशेषता और है कि आरम्भ में नान्दी और प्रस्तावना नहीं है किन्तु अन्त में भरत वाक्य की तरह ईश प्रार्थना है।

कथानक

इस गीतिनाट्य का कथानक पुराण से लिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र पुत्र की कामना करते हैं। वरुण उन्हें इस शर्त पर पुत्र देते हैं कि वह उसका बलिदान कर उन्हें भेंट कर देंगे पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् अनेक बहानों से हरिश्चन्द्र इस कार्य को टालते रहते हैं। एक दिन ज वे अपने सेनापति ज्योतिष्मान के साथ नौका विहार करते हैं, आकाशवाणी होती है औ उन्हें अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करने का स्मरण दिलाया जाता है और नौका वही स्तब्ध कर द जाती है। हरिश्चन्द्र अपनी प्रतिज्ञा शीघ्र पालन करने का वचन देते हैं और नाव क अवरोध मिटता है और वे वापस लौटते हैं। यह नाटक के प्रथम दृश्य में व्यक्त कि

ाया है । द्वितीय दृश्य में वन में विचरण करता हुआ राजकुमार रोहित अपने पिता की ओर से दी गयी मारे जाने की आज्ञा के मानने न मानने के प्रश्न पर विचार करता है। तर्क वितर्क करने के पश्चात् वह राजधानी से वन में भाग जाने का निश्चय करता है । प्रकृति उसके इस निश्चय का नेपथ्य से समर्थन करती है । तृतीय दृश्य में ऋषि अजीगर्त दैन्य अवस्था के कारण रोहित को सौ गौओं के बदले अपने मझले पुत्र शुनःशेप को नरमेध के लिए दे देते हैं । अगले दृश्य में हरिश्चन्द्र और रोहित में वाद-विवाद होता है । वशिष्ट राजकुमार के पलायन का समर्थन करते हैं और शुनःशेप की बलि के लिए यज्ञ के आयोजन का आदेश देते हैं । अन्तिम दृश्य यज्ञ का है जिसमें हरिश्चन्द्र और रोहित के साथ होता के रूप में वशिष्ट उपस्थित ह । शुनःशेप यूप में बंधा है और शक्ति उसके वध के लिये बढ़ता ; किन्तु करुणा से विचलित होकर रुक जाता है। इस पर शुनःशेप का पिता स्वयं इस क्रूर कार्य के लिये तैयार हो जाता है और प्रार्थना करता है । सहसा आकाश में गर्जन होता ; और विश्वामित्र अपने पुत्रों सहित वहां उपस्थित होते हैं और बलि रोकते हैं । अन्त में ता लगता है कि शुनःशेप का जन्म विश्वामित्र की गन्धर्वविवाहिता पत्नी सुव्रता से आ था और वह उसे ऋषिआश्रम में छोड़कर राजमहल में दासी का काम करने गी थी ।

नाटक की दृष्टि से कथानक कुछ जटिल सा है । उसका आरम्भ नर-बलि के प्रसंग ा होता है और मुख्य पात्रों के रूप में हरिश्चन्द्र और बाद में रोहित सामने आते हैं । पर यों-ज्यों कथाक्रम आगे बढ़ता है प्रमुखता उन लोगों से हटकर वशिष्ट पर पहुँच जाती है ौर अन्त में प्रधान रूप में विश्वामित्र सामने दिखाई पड़ते हैं । नरबलि का प्रसंग समाप्त ो जाता है और शुनःशेप के जन्म की कथा के रूप में विश्वामित्र और सुव्रता के प्रणय ी चर्चा होने लगती है । इस प्रकार इस नाटक में नाटकीय तत्व तो हैं ही नहीं । कहानी त्व ही प्रधान रूप से उभर आया है । इसे कथनोपकथनात्मक पद्यबद्ध कहानी कहना ाधिक उचित होगा ।

असंगति

कथानक का उद्देश्य उस काल की ओर इंगित करना जान पड़ता है जब इस देश में रबलि विहित थी पर लोग उसके औचित्यानौचित्य पर विचार करने लगे थे । किन्तु अपने स भाव को व्यक्त करने के लिए जिस रूप में कथानक को चुना गया है वह जनभावना के तिकूल और असंगतिपूर्ण है । इसके प्रधान पात्र हरिश्चन्द्र और रोहित, अयोध्या के ख्यात राजा हैं, जिनकी ख्याति अपनी सत्यवादिता और वचनपालन के लिए लोक प्रसिद्ध । उन्होंने स्वप्न में दिये हुए दान को वास्तविक दान मानकर अपना सारा वैभव विलास छोड़ दिया था और हाट में बिके थे । इस नाटक में हम उनको वरुण को दिये हुए वचन ो टालते हुए देखते हैं । पुत्र की ममता ही इस वचन के टालने का कारण है । पर वही रिश्चन्द्र श्मशान भूमि पर अपने मृतपुत्र को देखकर विचलित नहीं होते और अपनी पत्नी कर्त्तव्यपालन के निमित्त कर मांगते हैं । इस प्रकार एक ही व्यक्ति के परस्पर विरोधी ारित्र की संगति किस प्रकार बैठती है ? यही बात रोहित के सम्बन्ध में भी है । हाट में बकते समय तो वह किसी प्रकार का तर्क वितर्क नहीं करता पर बलिआज्ञा होने पर इस

नाटक में वह पिता की आज्ञा के प्रति तर्क वितर्क करता है। कहा जा सकता है कि हाट में बिकने वाला रोहित शिशु था और यह रोहित प्रौढ़ है। उस अवस्था में तो यह असंगति और भी स्पष्ट हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दानवाली घटना पहले हुई थी। इस अवस्था से इस नाटक से यही प्रकट होता है कि हरिश्चन्द्र का पतन हुआ। उनमें पहले जैसी दृढ़ता नहीं रह गयी थी। इस प्रकार इस नाटक के लिखते समय प्रसाद का ध्यान एक मात्र अपने लक्ष्य पर रहा है, वस्तुस्थिति पर नहीं।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से पहले दो नाटकों की अपेक्षा यह कुछ निखरा हुआ अवश्य है पर बहुत नहीं।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रसाद के आरम्भिक नाटक, ऐतिहासिक होते हुए भी ऐतिहासिक नहीं हैं। वे एक प्रकार से प्रयोगात्मक रचना मात्र हैं। इन रचनाओं में उन्होंने भारतेन्दु युग में प्रचलित प्रणाली के अनुसार आरम्भ में नान्दी पाठ और सूत्रधार नंदी का विनियोग किया है और अन्त में मंगलकामना के रूप में प्रशस्ति वाक्य की भी योजना की है। परवर्ती रचनाओं में इस शैली को उन्होंने त्याग दिया है।

पारसी ढंग के साधारण नाटकों के समान कथनोपकथन में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग कर बहुलांश में वार्त्तालापों को कृत्रिम रूप दिया गया है। उस समय की दृष्टि से यह स्वाभाविक था; किन्तु अपने परवर्ती रचनाओं में भी प्रसाद इस शैली से मुक्त नहीं हो सके हैं; यद्यपि उन्होंने इसके अव्यवहारिक रूप का अनुभव किया है। उसकी झलक कहीं कहीं देखने को मिल ही जाती है।

पुरानी कहानियों की तरह आकाशवाणियों का संयोजन उन्होंने अपने दो नाटकों में किया है जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। उसके भाव सामान्य पात्रों द्वारा भी व्यक्त कराये जा सकते थे।

उत्तरकालीन नाटक

कालक्रम और कला का विकास

प्रसाद ने सन् १९१० में छोटे रूपको के रूप में नाटक लिखने का जो प्रयोग आरम्भ किया था वह सन् १९१५ में समाप्त हो गया। सन् १९१५ के पश्चात् छ बरस के अनन्तर प्रसाद अपने नाटकों के साथ नये रूप में हमारे सामने आते हैं, और तबसे १९३२ तक बराबर उनके नाटक हमारे सामने आते रहे हैं। कुछ तो एक-एक वर्ष के अन्तर पर और कुछ दो-दो बरस के अन्तर पर। इन सभी नाटकों का कालक्रम ज्ञात रहने पर भी उनका अध्ययन कलाविकास की दृष्टि से करना बहुत कठिन है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं वे अपनी रचनाओं में जब कभी भी अवसर मिला है संशोधन करते रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक नाटक के संस्करणों में, जो उनके जीवन काल में प्रकाशित हुए, कुछ न कुछ परिष्करण होता ही रहा है। आज जो संस्करण हमारे सामने हैं, वे इन्हीं संस्करणों की प्रतिमुद्रित प्रतियाँ हैं। अतः उनको रचनाओं को समष्टि रूप में ही देखा और परखा जा सकता है, कालक्रम की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

विषय-विभाजन

उत्तरकालीन नाटकों में उनके निम्नलिखित नाटकों की गणना की जा सकती है-- **राजश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त** और **ध्रुवस्वामिनी**। इनमें से **कामना** और **एक घूंट** को छोड़ कर शेष सभी ऐतिहासिक कथानक पर आश्रित हैं। **कामना** और **एक घूंट प्रतीकात्मक** (एलेगोरिकल) हैं। इस प्रकार विषय-विचार से प्रसाद जी के नाटक स्पष्टतः दो विभागों में बांटे जा सकते हैं।

ऐतिहासिक नाटक

प्रसाद ने अपने अधिकांश नाटकों के लिए ऐतिहासिक कथानक ही क्यों चुना, इसका स्पष्टीकरण उन्होंने **विशाख** की भूमिका में कर दिया है। उससे ज्ञात होता है कि वे अपने नाटकों द्वारा अपनी अतीत सभ्यता का दिग्दर्शन करा कर लोगों को वर्तमान गिरी दशा से ऊपर उठाने के लिए प्रेरित करना चाहते थे और उन्हें यह बताना चाहते थे कि हमारा वर्तमान किस अतीत की भित्ति पर खड़ा है। स्पष्टतः उनके सामने वर्तमान था और वे अपने वर्तमान को अपने अतीत के परदे पर देखना चाहते थे। अतः प्रसाद के नाटकों में कथानक के रूप में आवरण तो प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का है पर उसमें प्राण वर्तमान का है। इस बात को उनके नाटकों की समीक्षा करते समय भुलायी नहीं जा सकती।

ऐतिहासिक कालक्रम

प्रसाद के नाटक कलियुग के आरम्भ लगभग (१५०० ई० पू०) से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक के इतिहास को छूते हैं। इस अवधि के बीच हुई प्रायः सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ उनके नाटकों के विषय हैं। ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. जनमजय का नागयज्ञ	कलियुग का आरम्भ (लगभग १५०० ई. पू.)
२. अजातशत्रु	पांचवीं-छठी शताब्दी ई. पू.
३. चन्द्रगुप्त	चौथी शताब्दी ई. पू.
४. विशाख	पहली शताब्दी ई.
५. ध्रुवस्वामिनी	चौथी शताब्दी ई.
६. स्कन्दगुप्त	पांचवीं शताब्दी ई. का उत्तरार्ध
७. राजश्री	छठी शताब्दी का ई. अन्त।

पृष्ठभूमि

जनमेजय का नागयज्ञ की कथा पौराणिक है, प्रसाद ने उसके ऐतिहासिक तत्व—जनमेजय के राजकाल में हुए नाग जाति के विद्रोह और उनके दमन—को हमारे सामने रखा है। अजातशत्रु में तत्कालीन संघ राज्य-मगध और कोशल के युद्ध और चन्द्रगुप्त में युनानियों के भारत आक्रमण की कथा है। विशाख में जनक्रान्ति की चर्चा की गयी है। ध्रुवस्वामिनी में नारी की स्थिति पर विचार किया गया है। स्कन्दगुप्त हूणों के आक्रमण का इतिहास प्रस्तुत करता है। राजश्री में देश की अस्तव्यस्त अवस्था का चित्रण है। इस प्रकार इन सभी नाटकों की पृष्ठभूमि हमारी वर्तमान स्थिति से जनित समस्याओं को छूती हुई है।

वर्तमान का प्रभाव

प्रसाद के ये नाटक १९२१ से १९३२ के बीच लिखे गये। इस समय देश किस प्रकार अपनी राजनीतिक, सामाजिक और अन्य प्रकार की गुलामियों से त्राण पाने के लिए छटपटा रहा था, यह सब उनके सामने था। देश की तत्कालीन अवस्था का क्या स्वरूप था, इसकी चर्चा यहाँ विस्तृत रूप से करने की आवश्यकता नहीं है। किसी न किसी रूप में हम सभी उन दिनों के दर्शक रहे हैं। हम यदि तत्कालीन अवस्था को ध्यान में रख करउनके नाटकों को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उसका पूर्ण प्रभाव इन नाटकों पर है। हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान को देख कर ही वे अतीत की ओर गये हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास के पृष्ठ खोल कर यह दिखाना चाहा कि किसी समय हम भी कुछ थे। भारत की राष्ट्रीय एकता के दुर्ग पर टकरा कर विश्वविजेताओं की सेनाएँ छिन्न-भिन्न होकर लौट गयी थीं। इसी देश में वेदव्यास, जरत्कारु, गौतम आदि से महात्मा, कालिदास से अमर कवि, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त सदृश यशस्वी वीर पैदा हुए थे। अपने इन नाटकों में प्रसाद ने अपनी स्वाधीनता—राजनीतिक और सामाजिक दोनों

प्राप्त करने के लिए ललकारा है। तत्कालीन पात्रों के मुख से आज की समस्या, आज के प्रश्न और उनके उत्तर हमारे सम्मुख उपस्थित किये।

ऐतिहासिक अनुसन्धान

वर्तमान को अतीत की घटनाओं के आवरण में प्रस्तुत करने में प्रसाद ने कोरी कल्पना से काम नहीं लिया है। आज हमारे सम्मुख अतीत के इतिहास की जो सामग्री है, वह इतनी कम है कि स्पष्ट रूप से इतिहास हमारे सामने आ नहीं पाया है। जो कुछ आया भी है उसमे सामान्यत: लोग परिचित नहीं हैं। बहुधा देखा यह गया है कि लोग ऐतिहासिक कथानकों के अपनाने में ऐतिहासिक पात्रों को और मोटे रूप में कुछ घटनाओं को ले लेते हैं, फिर अपनी मुक्त कल्पना से कथानक को मनमाना रूप देते हैं। वे उन पात्रों के स्वरूप स्थिर करने में देश-काल का विचार तो कम करते ही हैं परिस्थितियों का भी ध्यान नहीं रखते। व्यक्तित्व की तो पूर्ण उपेक्षा ही होती है। प्रसाद ने अपने नाटकों के कथानक का रूप स्थिर करने से पूर्व ऐतिहासिक घटनाओं का भली प्रकार उहापोह किया है। यदि हम यह कहें कि इसके लिए उन्होंने अपने ढंग पर अनुसंधान कर ऐतिहासिक तथ्यों को प्राप्त किया; फिर उनको उन्होंने अपने नाटक के लिए कथानक का रूप दिया, तो वह तथ्य के अधिक निकट होगा। नाटकों के आरम्भ में भूमिका के रूप में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उनकी अपनी ऐतिहासिक मान्यताओं का विवेचन है। ये विवेचन न केवल उनके नाटकों के कथानक के समझने में सहायक होते ह, वरन् प्रसाद के इतिहासकार होने का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। इतिहासकार के रूप में प्रसाद का अभी तक अध्ययन नहीं किया गया है। यदि विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से इन भूमिकाओं का अध्ययन किया जाय तो हम अनुभव करेंगे कि उन्होंने नाटकों के रूप में साहित्य को ही नहीं, भारत के प्राचीन इतिहास को भी रूप देने वाली कुछ नयी सामग्री अपनी ओर से दी है। इतना होते हुए भी प्रसाद अनेक स्थलों पर ऐतिहासिक तथ्यों से दूर जा पड़े हैं और उनकी स्वच्छन्द कल्पना उभर आयी है।

प्रतीकात्मक नाटक

प्रतीकात्मक अथवा **एलेगोरिकल** नाटक में मनुष्य के नाना विकारों और मनोवृत्तियों की मूर्तिमयी कल्पना कर पात्रों के रूप में उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार के नाटक संस्कृत में अनेक हैं, पर हिन्दी में इस प्रकार के नाटक अपनाये नहीं गये हैं। प्रसाद ने इस ढंग के दो नाटक **कामना** और **एक घूंट** लिखे हैं। उन्होंने एक की रचना १९२३–२४ [१] में और दूसरे की १९२९ में की थी। प्रसाद का लक्ष्य इतिहास के माध्यम से ही वर्तमान की ओर इंगित करना रहा है फिर भी अपने ऐतिहासिक नाटकों के क्रम के बीच इस ढंग के दो नाटक क्यों उपस्थित किये, यह उनकी साहित्यिक मनस्थिति के अध्ययन की दृष्टि से विचारणीय है।

१—यह तिथि डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के कथनानुसार है। कामना का प्रकाशन १९२६ में हुआ।

इन नाटकों के देखने से जान पड़ता है कि ऐतिहासिक नाटकों के वातावरण से जब प्रसाद का कवि मन उचटा है और वे कल्पनाभूत अधिक हुए हैं किन्तु कवि के स्तर तक न जा सके हैं, तभी उन्होंने अपनी कल्पनाओं को इन नाटकों के माध्यम से साकार किया है। इसके अतिरिक्त संसार पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि आधुनिक युग में मनुष्य के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसके मनोविकार ही अधिक उभरे हुए हैं। प्रसाद की पैनी आँखों से यह छिपा न रह सका और उन्होंने उन मनोविकारों को अपने इन नाटकों में साकार रूप में देखने का यत्न किया है। इस प्रकार प्रसाद इन दो नाटकों में नाटककार और कवि का अपेक्षा दार्शनिक के रूप में ही अधिक सामने आते हैं।

जनमेजय का नागयज्ञ

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जनमेजय का नागयज्ञ नाटक की कथा पौराणिक है। कौरव और पांडवों तथा यादवों के पारस्परिक गृह कलह के परिणाम स्वरूप कुरुक्षेत्र में जो महाभारत हुआ उसमें पांडवों की विजय हुई अवश्य पर राज्य शक्तिशाली बना न रह सका। जो जंगली जातियाँ दबी हुई थीं उन्होंने सर उठाया और उत्पात करना आरम्भ कर दिया। इन उत्पाती जातियों में एक नाग जाति भी थी। नागों को जब अर्जुन ने खांडववन दाह करके निकाल बाहर किया तब सम्भवतः उन्होंने जाकर गांधार पर अधिकार कर लिया और तक्षशिला को अपनी राजधानी बनाया। अर्जुन से उत्पीड़ित ये नाग कुछ काल तक तो मौन रहे फिर धीरे धीरे आगे बढ़े और पंचनद पार कर हस्तिनापुर पर आक्रमण किया और तत्कालीन शासक परीक्षित को मार डाला। संभवतः नागराज तक्षक के साथ परीक्षित के पुरोहित काश्यप मिल गये थे और उनकी हत्या के षडयन्त्र में भी भाग लिया था। ऐसा आभास आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय के एक सूत्र से मिलता है।

ऐसा जान पड़ता है कि उस काल में किन्हीं कारणों से क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष आरम्भ हो गया था और ब्राह्मणों ने, विशेषतः काश्यपों ने, नागों से संपर्क स्थापित कर लिया था और वे नागों को हस्तिनापुर के शासकों के विरुद्ध उभार रहे थे। इस प्रकार एक ओर नागों का विद्रोह जोर पर था और दूसरी ओर ब्राह्मण-क्षत्रिय विरोध बढ़ रहा था। ऐसे समय में ही अचानक एक दिन जनमेजय से, जो परीक्षित के पुत्र थे और उनके बाद शासनाधिकारी हुए थे, ब्रह्महत्या हो गयी। इस ब्रह्महत्या के प्रायश्चित स्वरूप उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। ब्राह्मणों के भीतर विरोध भावना बढ़ ही रही थी। इस घटना ने ब्राह्मणों को अधिक उत्तेजित कर दिया। फलतः जनमेजय को यज्ञ के लिए अनुनय विनय कर नाग-दौहित्र सोमश्रवा को अपना पुरोहित बनाना पड़ा। यज्ञ के बीच में ही नागों का हस्तिनापुर पर आक्रमण हुआ और यज्ञ के बीच ही जनपेजय को नागों के उन्मूलन के लिए यत्न करना पड़ा। उन्होंने नागों का पूर्ण रूप से दमन किया और तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार नाग जाति का विद्रोह समाप्त हुआ और वे मैत्री भाव से भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत आगये।

ये सारी घटनाएँ इस रूप में प्राचीन साहित्य में नहीं मिलतीं। यत्रतत्र उनका जिस रूप में उल्लेख है उससे इसका आभास मात्र होता है। प्रसाद ने उन मूल सूत्रों की चर्चा अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में किया है। उनका विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है। उन्होंने इस ऐतिहासिक घटना को अपने नाटक में किस रूप में प्रस्तुत किया है, वही हमारे

सम्मुख विचारणीय है। नाग विद्रोह और ब्राह्मण विरोध स्पष्टतः दो स्वतन्त्र घटनाएँ हैं। उन दोनों घटनाओं को प्रसाद ने काश्यप पुरोहित के माध्यम से एक में मिलाने का यत्न किया है। उनका यह प्रयत्न कथानक के विकास के लिए आवश्यक था पर वह कल्पना मात्र नहीं है। उसका एक क्षीण-सा आधार परीक्षित की हत्या के षड्यन्त्र के रूप में प्राप्त होता है। नाटक का स्वरूप इन दो घटनाओं के आधार पर इस प्रकार खड़ा किया गया है—

कथानक

पहले अंक में आर्य और नाग विरोध का स्वरूप उपस्थित किया गया है। मनसा और सरमा के वार्तालाप से नाटक का आरम्भ होता है। सरमा कुकुर वंश की यादवी है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् अर्जुन के साथ जो यादव स्त्रियाँ जा रही थीं, उनको रास्ते में दस्युओं ने लूट लिया था। सरमा उन्हीं धर्षित यादवियों में से एक है और उसका विवाह नागराज वासुकि से हुआ है। मनसा इसी वासुकि की बहन है और उसका विवाह जरत्कारु नामक ऋषि से हुआ है। दोनों की बातचीत से जान पड़ता है कि आर्यों और नागों में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध होता था। धर्षित होने पर भी सरमा कहती है कि उसने वासुकि को आत्म-समर्पण किया था—**क्या मैं ही तुम्हारे भाई पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से नहीं चली आयी?** मनसा के शब्दों से भी यही प्रकट होता है—**मैंने नाग जाति के कल्याण के लिए अपना यौवन एक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है।** यह बात वासुकि के इन वाक्यों से और भी स्पष्ट हो जाता है—**तुम्हारी इच्छा से ही विवाह हुआ था, किसी ने कुछ दबाव डाल कर नहीं किया था।** और इस प्रकार नाग-आर्य अन्तर्विवाह का कारण भी वासुकिके शब्दों में आर्यों से मेल करने का चेष्टा थी।

किन्तु सरमा नाग-पत्नी होते हुए भी अपने को नागों में मिला न सकी और मनसा ऋषि पत्नी होते हुए भी नागों का अभिमान न छोड़ सकी। नागों के साथ आर्यों ने जो कुछ किया था वह मनसा को बराबर सालता रहा और उसकी सदा यह आकांक्षा रही कि आर्यों का विनाश किया जाय। सरमा और मनसा के बातचीत के बीच आर्यों द्वारा नागों के साथ हुए व्यवहार को व्यक्त करके आगे की घटनाओं की पृष्ठभूमि हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है। इस पृष्ठभूमि के उपस्थित करने के लिए खांडव-वन-दहन का दृश्य भी सामने उपस्थित किया गया है। इन्द्रजाल विद्या के माध्यम से मनसा उसे सुरमा के सामने रखती है। इसे इस नाटक की अस्वाभाविकता और वैचित्र्य कहा जा सकता है।

आगे हमारे सामने वेद नामक कुलपति की पत्नी और उनके शिष्य उत्तंग आते हैं। उत्तंग का अस्तित्व पौराणिक है या नहीं, इसका कोई संकेत नहीं है। गुरुपत्नी दामिनी कल्पित है, यह प्रसाद ने स्वयं स्वीकार किया है, यद्यपि उनका कहना है कि उसके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व है। यह अस्तित्व किस रूप में है हम नहीं जानते। दामिनी उत्तंग पर आसक्त है, और इसी चरित्र दुर्बलता को व्यक्त करने के लिए इस नाटक में वह उपस्थित की गयी है। वह उत्तंग के आत्म-संयम

की परीक्षा का भी साधन है। पर जहाँ तक मूल कथानक का सम्बन्ध है, दामिनी का कोई स्थान नहीं है। गुरु दक्षिणा के रूप में दामिनी उत्तंग से रानी के मणिकुंडल लाने को कहती है और उत्तंग जाता है।

तीसरे दृश्य में जनमेजय और तुर के वार्तालाप में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि पुरोहित काश्यप ने उन्हें तक्षशिला पर आक्रमण करने से रोका था। वार्तालाप में स्पष्ट तो नहीं, पर संकेत मिलता है कि काश्यप का नागों के साथ किसी न किसी प्रकार की अभिसन्धि थी। यह आगे चल कर स्पष्ट हो जाता है। काश्यप तक्षशिला-विजय से जनमेजय के लौटने पर ऐन्द्रमहाभिषेक कराने नहीं आता और वह तुर कराते हैं। तुर कावुषेय स्वयं दक्षिणा नहीं लेते और काश्यप को ही दे देने को कहते हैं। साथ ही काश्यप से क्षमा मांगने को भी कहते हैं। काश्यप आते हैं और दक्षिणा ग्रहण कर लेते हैं। इतने में उतंग वहाँ आता है और वह मणिकुंडल की माँग करता है और रानी वपुष्टमा उसे दे देती है। यह मणिकुंडल तक्षक का था। रानी उसे सावधानी से ले जाने की चेतावनी देती है। इसी दृश्य में सरमा न्याय की दुहाई देते हुए आती है। इससे पूर्व वह पहले दृश्य में वह अपने पतिस्थान को त्याग कर पुत्र के साथ चली जाती दिखायी गयी थी। अब यहाँ उसका पुत्र माणवक क्षुधा-पीड़ित होकर यज्ञशाला का घीपात्र जूठा कर देता है। इसपर जनमेजय के भाई उसे पीटते हैं और उसकी फरियाद लेकर वह आता है। जनमेजय के साथ यहां उसकी जो बातें होती है, उनसे नागों के प्रति राजा की घृणा स्पष्ट हो जाती है। वह चरम सीमा की घृणा है। इस कारण वह सरमा के बात की उपेक्षा अपमान की सीमा तक करता है। आगे के दृश्य में माणवक सरमा का वार्तालाप है। और दोनों अपमान के प्रतिशोध की बात करते हैं। पांचवें दृश्य में कश्यप तक्षक से आ मिलता है; क्योंकि वह मणिकुण्डल का उत्तंग को दिया जाना सहन नहीं कर सकता। काश्यप और तक्षक की वार्तालाप से क्षत्रिय-विरोध का स्पष्ट आभास सामने आता है। उससे जान पड़ता है कि प्राचीन संस्कार के वशीभूत होकर क्षत्रिय स्पष्ट रूप से ब्राह्मणों के नेतृत्व का विरोध नहीं कर सके हैं। वह तक्षकों को क्षत्रियों के साथ रक्त-मिश्रण करने की सलाह देता है।

यहीं विश्राम की खोज में मणिकुंडल लिए हुए उत्तंग भी आता है और उत्तंग के सो जाने पर तक्षक उसकी हत्या का प्रयत्न करता है। काश्यप ब्रह्म-हत्या करने से रोकता है और चिल्ला उठता है। इतने में सरमा आकर तक्षक का हाथ पकड़ लेती है। उसके बाद वासुकि भी आकर उसे रोक देता है। उत्तंग वहाँ से चला जाता है और तक्षक विरोधी बन जाता है। इस प्रकार हमारे सामने दो ब्राह्मण उपस्थित कर दिये जाते हैं—एक काश्यप, जो तक्षक का सहायक है और दूसरा उत्तंग, जो उसका शत्रु बन जाता है और आगे चल कर जनमेजय का सहायक होता है।

छठा अंक दामिनी की वासना को ही चित्रित करने के लिए उपस्थित किया गया है। सातवाँ दृश्य जनमेजय द्वारा मृग के धोखे जरत्कारु की हत्या को उपस्थित करता है।

इस प्रकार प्रथम अंक में हमारे सामने तत्कालीन राजनीतिक अवस्था को उपस्थित किया गया है।

दूसरा अंक

दूसरे अंक म हमारे सम्मुख कुछ नये पात्र उपस्थित किये जाते हैं। पहल दृश्य में आस्तीक और मणिमाला सामने आते हैं। मणिमाला तक्षक की पुत्री और आस्तीक मनसा से उत्पन्न जरत्कारु का पुत्र है। इन दोनों का वार्तालाप बहुत कुछ दार्शनिकता लिए हुए है और उसका प्रभाव कथानक को आगे बढ़ाने में किसी प्रकार नहीं पड़ता। जनमेजय का इसी अंक में प्रवेश होता है और वह मणिमाला पर आसक्त होता है और वह भी उस पर अनुरक्त होती है। पर दोनों अपने तक ही सीमित हैं। यहीं शीला नाम्नी पात्री का परिचय भी हमसे कराया जाता है। उसके मुख से हम सुनते हैं कि वह सोमश्रवा की भावी पत्नी है और सोमश्रवा पौरव सम्राट जनमेजय के राजपुरोहित होंगे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में एक अन्य पात्र का हमें परिचय मिलता है।

दूसरे दृश्य में हम दामिनी को माणवक के साथ देखते हैं। दामिनी रास्ता भूल गयी है। उन दोनों की बातचीत से पता लगता है वह उत्तंग से परिशोध लेना चाहती है और उसके लिए तक्षक की सहायता चाहता है। यहाँ उसकी तक्षक से भेंट होती है और उसे वह बताती है कि उत्तंग तक्षक से बदला लेने के निमित्त जनमेजय से सहायता मांगने गया है। आगे के दृश्य में जनमेजय और उत्तंग बातचीत करते दिखाये गये हैं। यहाँ राजनीतिक स्थिति स्पष्ट रूप में सामने आती है।

उत्तंक—. . . .जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियों ने यादवी, सरमा, तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिल कर एक षड्यन्त्र रचा है. . .

जनमेजय—मुझसे अनजान में जो ब्रह्म-हत्या हो गयी, उससे मैं और भी खिन्न हूँ। काश्यप मुझ पर अभियोग लगाते हैं कि मैंने जानबूझ कर यह ब्रह्म-हत्या की। ब्राह्मण वर्ग और यक मंडल भी इससे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर, जानपद आदि सब लोगों में यह आतंक फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन मद से स्वेच्छाचारी हो गया है, वह किसी की बात नहीं सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूँ, तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़पने लगती हैं। . . . . परिषद् भी अन्यमनस्क है; और कर्मचारी भी इस आतंक से कुछ डरे हुए हैं। वे बेमन काम कर रहे हैं।

× × ×

उत्तंक—. . . .अपने पिता का प्रतिशोध लीजिये, जिसमें इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुर्वृत्त नागों का दमन कीजिये. . . .यदि ब्रह्म हत्या पाप है, तो अश्वमेध उसका प्रायश्चित्त भी तो है। अपने तीनों वीर सहोदरों को तीन दिशाओं में विजयोपहार ले आने के लिए भेजिये; और आप स्वयं इन नागों का दमन करने के लिए तक्षशिला की ओर प्रस्थान कीजिये। अश्वमेध के व्रती होइये. . . .

जनमेजय—आर्य उत्तंक! पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध पीछे होगा, पहले नागयज्ञ होगा।

यहाँ कथानक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

चौथे दृश्य में दामिनी तक्षक के निवास पर है। तक्षक का पुत्र अश्वसेन मद्यपान करके दामिनी पर हाथ डालता है और मणिमाला आकर उसको बचाती है। यह दृश्य भी कथानक को किसी ओर आगे बढ़ाने से सहायक नहीं होता। केवल दामिनी के चरित्र पर एक हलका सा प्रकाश डालता है।

पाँचवाँ दृश्य कथानक की दृष्टि से उतना ही महत्व का है जितना कि तीसरा। तक्षक काश्यप और कुछ नाग-ब्राह्मणों को आश्वस्त करता है कि—

मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ। कौरवों का नाश होने पर परिषद् की सत्ता आप लोगों के हाथ में रहेगी और हम लोग क्षत्रिय होकर आप लोगों के स्वाध्याय और शान्ति की रक्षा करेंगे। ब्राह्मणों पर हमारा कुछ भी नियन्त्रण नहीं रहेगा।

वेद—किन्तु शक्ति पा जाने पर तुम भी अत्याचारी न हो जाओगे इसका क्या निश्चय है?

ब्राह्मण—हम लोग और यक, वानप्रस्थ, शान्त तपोधन ब्राह्मण हैं, अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए एक शुद्ध राजसत्ता चाहते हैं। हमारा किसी से द्वेष नहीं है।

वहाँ उपस्थित सरमा तक्षक का विरोध करती है। फलस्वरूप काश्यप उसे मार डालने को कहता है। उसे भय है कि वह भंडाफोड़ कर देगी और तक्षक उसको पकड़ लेता है। इतने में मनसा आकर सूचना देती है—जनमेजय की सेना तक्षशिला पहुँच गयी है। वासुकि नाग सेना एकत्र करके यथाशक्ति उन्हें रोक रहे हैं। आर्यों का यह आक्रमण बड़ा भयानक है। वे तुम लोगों से भी बढ़ कर बर्बरता दिखला रहे हैं। जो लोग बन्दी होते हैं, वे अग्निकुंड में जला दिये जाते हैं। गाँव के गाँव दग्ध हो रहे हैं। नाग जाति बिना रक्षक की भेड़ों के समान भाग रही है। आर्यों की भीषण प्रतिहिंसा जाग उठी है। जनमेजय कहता है कि पिता को जला कर मारने का प्रतिफल इन नागों को उसी प्रकार जला कर लूंगा।

तक्षक अपनी राजधानी की ओर जाता है और ब्राह्मण अपना क्रोध काश्यप पर उतारते हैं।

छठा दृश्य शीला और सोमश्रवा के वार्तालाप का है। इस वार्तालाप का कोई महत्व नहीं है। हाँ, इस वार्तालाप के मध्य च्यवन ऋषि आते हैं। वे सोमश्रवा से कहते हैं कि ऐसा काम करना जिसमें दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है, वह सब धुल जाय और सब पर ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय। सातवें दृश्य में तक्षशिला की घाटी में आर्यों द्वारा नागों के जलाये जाने का दृश्य उपस्थित किया गया है; पर उसका महत्व नाग और चण्डभार्गव के वार्तालाप के लिए है, जो देशभक्ति का पाठ उपस्थित करता है।

आठवाँ दृश्य दामिनी को फिर हमारे सामने लाता है और यहाँ वह प्रायश्चित्त करती हुई सामने आती है। यहाँ ज्ञात होता है सरमा जनमेजय के राजमन्दिर में है।

तीसरा अंक

तीसरे अंक के आरम्भ में जनमेजय के साथ वेदव्यास दिखाये गये हैं। वेदव्यास

और जनमेजय की वार्ता नियति और पाप की दार्शनिक व्याख्या है साथ ही उसमें आगे की घटना का संकेत है भविष्यवाणी के रूप में—

ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ़ संकल्प किया है, उसमें कुछ विघ्न होगा; और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसा होती आया है, वह बहुत दिनों तक रुक जाने को है ।

साथ ही वेदव्यास यह भी कहते हैं—"तुमको **यज्ञ करना ही पड़ेगा । तुम्हारे सिर पर ब्रह्म-हत्या और इतनी नाग हत्या का अपराध है । इसी यज्ञ की आशा से ब्राह्मण समाज ने अभी तक तुम्हें पतित नहीं ठहराया है । धर्म का शासन तुम्हें मानना ही पड़ेगा । तुम्हारी आत्मा इतनः स्वच्छन्द नहीं कि तुम इस प्रचलित परम्परा का उल्लंघन कर सको । अभी तुम्हारे स्वच्छन्द होने में विलम्ब है । तुम्हें यह यज्ञ पूर्ण करना ही पड़ेगा, फल चाहे जो हो ।**

दूसरे दृश्य में महारानी वपुष्टमा दिखाई पड़ती हैं । उसके स्वगत के ये शब्द विचारणीय हैं—"**आर्यपुत्र अश्वमेध के व्रती हुए हैं । पृथ्वी का यह मनोहर उद्यान रक्त रंजित होगा । भगवन् ! क्या तुम भी बलि से प्रसन्न होते हो ? . . .धर्म की आज्ञा और ब्राह्मणों का निर्णय है । बिना यज्ञ किये छुटकारा नहीं ।**

वपुष्टमा और उत्तंक से इस पर कुछ वार्तालाप होता है और घटनाक्रम कुछ आगे बढ़ता है । आगे दृश्य में मनसा नागों को अश्व को रोक कर आर्यों से युद्ध करने को प्रेरित करती है । आस्तीक रोकता है पर परिणाम कुछ नहीं होता । अश्व रोका जाता है । नागों से जनमेजय के सैनिकों का संघर्ष होता है और वे पराजित होते हैं । मनसा पश्चात्ताप करती है ।

चौथा दृश्य काश्यप और तक्षक के षडयन्त्र का उद्घाटन करता है । काश्यप ने अश्वपूजन में जानेवाले ब्राह्मणों को अपनी ओर फोड़ लिया है और तक्षक छद्म वेश में अपने पच्चीस साथियों के साथ आता है । अश्व के साथ ही साथ महिषी को ले भागने की मन्त्रणा होती है । सरमा इन सबको सुनती है और वपुष्टमा के बचाने का आयोजन करती है । आस्तीक आता है और सरमा उसे पत्नीशाला के पीछे की खिड़की के पास जाने को कहती है और वहीं अपनी आवाज सुनने तक ठहरने को कहती है । इसी दृश्य में शीला और दामिनी का वार्तालाप है जो कथानक की योजना में कोई महत्व नहीं रखता ।

पाँचवें दृश्य में योद्धा वेश में मणिमाला आस्तीक से मिलती है । वह बातों में उपद्रव का संकेत देती है और मणिमाला अन्दर चली जाती है और माणवक आ जाता है । इतने में भीतर से कई नाग वपुष्टमा को मूर्छित अवस्था में लिये निकलते हैं । सरमा रोकना चाहती है । इतने में माणवक वपुष्टमा को ले लेता है और नागों से नागराज की सहायता के लिए जाने को कहता है । सरमा और आस्तीक उसको लेकर चले जाते हैं । छठे दृश्य में माणवक, आस्तीक, सरमा और वपुष्टमा वेदव्यास के आश्रम में दिखाई पड़ते हैं । इस दृश्य का वार्तालाप इन लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध का उपसंहार मात्र है । आस्तीक दो भयंकर जातियों के क्रोध की फुफकार को शान्त करने की बात कहते हैं । सातवें दृश्य में मनसा और वासुकि के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि तक्षक और मणिमाला

बन्दी हो गये हैं। मनसा अपने को नाग जाति को भड़काने का उत्तरदायी मानती है। कुछ नाग आकर युद्ध की आज्ञा चाहते हैं पर अब वह सन्धि कराने की बात करती है।

अन्तिम दृश्य में जनमेजय ब्राह्मणों पर क्रुद्ध दिखाई पड़ता है। वह जो कुछ हुआ उसे वह उनके प्रभुत्व का लोभ मानता है और शत्रु से मिल कर महिषी को छिपा देने का अभियोग लगाता है और उन्हें निर्वासित होने का आदेश देता है। कहता है—**आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेध** आदि **यज्ञ नहीं करेगा**। उसके बाद उत्तंक से कहता है कि—**आज नागयज्ञ होगा। तक्षक ने आज तक इस राजकुल के साथ जितने दुर्व्यवहार किये हैं उनका स्मरण होगा मन्त्र, और उनके सामने उसके कुटुम्ब की आहूतियाँ होंगी।**

और पूर्ण आहूति **में तक्षक।**

नागयज्ञ होता है। इतने में वेद और दामिनी आते हैं। वे उत्तंक को रोकते हैं। दामिनी उत्तंक से क्षमा माँगती है। पर जनमेजय अनुचरों से नागों को जलाने को कहता है। अनुचर तक्षक वासुकि आदि को जलाना चाहते हैं। इतने में व्यास के साथ सरमा, मनसा, माणवक और आस्तीक आते हैं। वेदव्यास रुकने का आदेश देते हैं। जनमेजय उन्हें प्रणाम करता है। आस्तीक उसी समय प्रतिफल की याचना और न्याय की गुहार करता है। कहता है—**जिस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने के लिए तुमने अश्वमेध किया है, मैं उसी ब्रह्महत्या की क्षतिपूर्ति चाहता हूँ। मैं उन्हीं जरत्कारु ऋषि का पुत्र हूँ, जिनकी तुमने बाण चला कर हत्या की थी।**

और क्षतिपूर्ति के रूप में मांगता है—**दो जातियों में शान्ति**। कहता है—**शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिये। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल होगा।**

और जनमेजय उसे स्वीकार करता है। सरमा भी अपने न्याय की बात कहती है। और एक वस्तु मांगती है और बदले में कुछ देना चाहती है अर्थात् **नागबाला मणिमाला को आप अपनी वधू बनाइये।**

वपुष्टमा को धर्षिता नारी घोषित करके स्वीकार करने से जनमेजय इनकार करता है। व्यास उसे समझाते हैं और वह उसे ग्रहण करता है। तब वपुष्टमा मणिमाला को भी स्वीकार करने को कहती है। मणिमाला को वह स्वीकार करता है। मनसा प्रतिज्ञा करती है कि **आज से कोई नाग कभी आर्यों के प्रति विद्रोह का आचरण नहीं करेगा**

व्यास बताते हैं कि काश्यप को, जो षड्यन्त्र का मूल था, भागते समय किसी नाग ने मार डाला। उसके बाद जनमेजय ब्राह्मणों से क्षमा मांगता है और वे उसे क्षमा करते हैं।

कथानक में स्वतन्त्रता

यदि सम्यक् रूप से इस नाटक पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि मूल कथावस्तु को नाटक के कथानक का रूप देने के लिए प्रसाद ने काफी स्वतन्त्रता से काम लिया है। मूल घटनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने ढंग पर साजा सँवारा है। इस साजने सँवारने में प्रसाद ने ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष को ही एक व्यापक समस्या का रूप दिया है और उसको ही नागों के विद्रोह में मल में रखा है। इसी को ध्यान में रखते

हुए उन्होंने अपने नाटक को जो स्वरूप दिया है उसमें उन्हें पात्रों का अधिकाधिक विनियोग करना पड़ा है। इसके कारण वस्तु-विन्यास बहुत शिथिल हो गया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने ऐसे पात्रों का समावेश किया है जिनकी कथा की दृष्टि से कोई आवश्यकता न थी।

दामिनी

दामिनी को लेकर जो भी दृश्य उपस्थित किये गये हैं वे यदि नाटक से निकाल दिये जायँ तो कथानक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दामिनी हमारे सामने निम्नलिखित दृश्यों में आती है—

अंक १ दृश्य २। दामिनी उत्तंक पर आसक्त है, यह इस दृश्य में दिखाया गया है। दामिनी वृद्ध पति की पत्नी है, उसका युवा शिष्य पर आसक्त होना स्वाभाविक है। पर उत्तंक अपना आत्मसंयम बनाये रखता है। इसी दृश्य में दामिनी उससे मणिकुंडल लाने को कहती है। यहीं से आगे उत्तंक के चरित्र का विकास होता है। पर दामिनी कथावस्तु के विकास में सहायक नहीं होती।

अंक १ दृश्य ६। उत्तंक मणिकुंडल लाकर दामिनी को देता है। वह उससे पहना देने को कहती है, और अपने मनोभाव प्रकट करती है; पर उत्तंक अस्वीकार कर कर देता है। इस दृश्य को दिखाने मात्र के लिए इस दृश्य के आरम्भ में त्रिविक्रम और दो अन्य विद्यार्थियों का संयोजन किया गया है, जो नाटक में शिथिलता ही उत्पन्न करते हैं।

अंक २ दृश्य २। दामिनी राह भटकती हुई आती है और माणवक से उसकी भेंट होती है। मणिवक के साथ उसकी भेंट भी अप्रासंगिक है। उसमें तत्व कुछ भी नहीं है। यहीं उसकी तक्षक से भेंट होती है। वह उसे उत्तंक के जनमेजय के पास जाने की सूचना देती है। यह सूचना तक्षक को अन्य रूप से भी मिल सकती थी। यदि उसकी सूचना उसे न भी मिलती तो भी कथानक के आगे बढ़ने में बाधा न होती। दर्शक को इस बात की सूचना अन्य साधनों से सरलता से मिल सकती थी।

अंक २ दृश्य ४। दामिनी तक्षक के प्रकोष्ट में है। यहां उसके पास मद्यप अश्वसेन आता है। कथानक से इन दोनों का प्रयोजन नहीं है। अश्वसेन तो इस दृश्य के बाद कहीं आता भी नहीं। इस दृश्य से इतना ही झलकता है कि मन से दूषित होने पर दामिनी तन से पवित्र है।

अंक २ दृश्य ८। माणवक दामिनी को निरापद स्थान में पहुँचा देता है। यहीं उसका पति वेद उससे मिलता है। वह उससे क्षमा मांगता है।

अंक ३ दृश्य ४। दामिनी और शीला में वेषभूषा के सम्बन्ध में वार्तालाप मात्र। इस स्थान पर दामिनी किस प्रकार आयी इसका कोई संकेत नहीं है।

अंक ३ दृश्य ८। जनमेजय की यज्ञशाला में वेद के साथ दामिनी आती है और उत्तंक से क्षमा मांगती है।

इन सात दृश्यों में दामिनी को जिस प्रकार उपस्थित किया गया है वह केवल यह बताता है कि दामिनी वृद्ध पति की पत्नी है और अपने पति के एक शिष्य पर आसक्त है। वह उसे ठुकराता है। दामिनी पति के घर से निकल भागती है और तक्षक के घर जा

पहुँचती है। वहां उसका मद्यप पुत्र उसपर आसक्त होता है पर वह अपने को बचा रखती है। वह वापस लौटती है और उसकी अपने पति से भेंट होती है। वह उसे क्षमा कर देता है। अन्त में वह अपने पति के शिष्य से क्षमा मांगती है। यह स्वतः अपने आपमें एक कथा है, जिसका कोई सम्बन्ध न तो मूल कथानक से है और न नाटक में किसी प्रकार कराने का प्रयत्न ही किया गया है।

शीला

इसी प्रकार की दूसरी पात्री शीला है। शीला मणिमाला की सखी है। इसी रूप में उसका परिचय हमें पहली बार दूसरे अंक के पहले दृश्य में मिलता है। वहीं इतना ज्ञात होता है कि वह जनमेजय के भावी पुरोहित सोमश्रवा की वाग्दा है। छठे दृश्य में उसको हम सोमश्रवा से बात करते देखते हैं। वह बातचीत साधारण है। मूल कथानक को कहीं आगे नहीं ले जाता। तीसरे अंक के पहले दृश्य में वह सोमश्रवा, आस्तीक, और मणिमाला के साथ दिखाई पड़ती है; पर निष्प्रयोजन। उस दृश्य में कुल तीन वाक्य हम सुन पाते हैं। उसको पढ़कर ऐसा लगता है कि प्रसाद ने इसकी सृष्टि स्त्रियों को केवल यह बताने के लिये किया है कि **आर्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी बनें**। चौथे दृश्य में वह दामिनी से बात करती है, वेशभूषा पर जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्तिम दृश्य में वह मणिमाला की सहगामिनी के रूप में दिखायी गयी है। इस प्रकार यह कल्पित पात्री भी अनावश्यक है ।

अन्य अनावश्यक पात्र

इसी प्रकार वेद, त्रिविक्रम, च्यवन, माणवक, अश्वसेन भी अनावश्यक रूप से पुरुष पात्रों के रूप में उपस्थित किये गये हैं। वेद की सृष्टि केवल दामिनी के कारण हुई है। उत्तंक के गुरु के रूप में समस्त कथानक में उनका कोई स्थान नहीं है। अन्तिम दृश्य में गुरु-शिष्य के संवाद के दो वाक्य हैं। वे यदि न भी होते तो नाटक में कोई अन्तर न आता। त्रिविक्रम की सृष्टि भी दामिनी के कारण ही वेद के आश्रम को दिखाने के लिए की गयी है। अश्वसेन भी दामिनी के सहारे नाटक में आता है। च्यवन शीला के कारण सामने आये हैं। सोमश्रवा के साथ उनका वार्तालाप एक हलका-सा स्थान रखता है। माणवक अपेक्षाकृत महत्व रखता है। सरमा के पुत्र के रूप में उसका कोई स्थान नहीं। गौण पात्र-सा ही सारे नाटक में हम उसे पाते हैं। आरम्भ में जब वह प्रथम अंक के चौथे दृश्य में हमारे सामने आता है और मां बेटों में जो संवाद होता है, उससे लगता है कि वह घटनाचक्र में कुछ महत्वपूर्ण भाग लेगा किन्तु हम उसे दूसरे अंक के दूसरे और आठवें दृश्य में दामिनी के पथ-प्रदर्शक के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं पाते। दूसरे दृश्य में हम उसके मुख से प्रतिशोध की बात अवश्य सुनते हैं पर उस पथ पर चलने का साहस–बल उसमें नहीं है। प्रथम अंक का माणवक मर गया जान पड़ता है। तीसरे अंक के पाचवें दृश्य में हम उसे अनायास प्रविष्ट होते देखते हैं। वहां उसका प्रयोज न अत्यन्त सामान्य है। छठे दृश्य में भी माणवक है पर वहां उसकी दार्शनिक जिज्ञासा भी हमारे लिए कुछ महत्व नहीं रखती। इसी दृश्य का अन्तिम भाग माणवक को कुछ उभारता अवश्य है, पर वह न भी उभरता तो नाटक में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता।

ऐतिहासिक पात्र

इन महत्वहीन पात्रों को अलग कर यदि नाटक को देखा जाय तो कथानक ऐतिहासिक तत्वों के साथ चलता है। संविधान उसका स्वतंत्र है। नाटक का नायक यद्यपि जनमेजय है और घटनाचक्र में काश्यप खलनायक और तक्षक सहायक के रूप में हैं; पर कथा का मूल आधार मनसा है। मनसा के विचारों को लेकर ही नाटक आरम्भ होता है। सरमा और मनसा आर्य और नाग विचारों के प्रतीक होकर हमारे सामने आती हैं। वहीं से कथानक आगे बढ़ता है। नाटक में जनमेजय एक सामान्य पात्र के रूप में, जिसे सहायक पात्र कहा जाय तो अनुचित न होगा, तीसरे दृश्य में पहली बार हमारे सामने आता है। उस दृश्य में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे ज्ञात हो सके कि जनमेजय आगे चलकर घटनाक्रम में प्रमुखता प्राप्त कर लेगा। मनसा नागों को प्रतिशोध के लिए उत्तेजित करती है। तक्षक की इस उत्तेजना में काश्यप क्षत्रिय-ब्राह्मण-द्वेष को लेकर सहायक होता है। जनमेजय के हाथों जरत्कारु की आकस्मिक मृत्यु ब्राह्मणों के द्वेष को उत्तेजित करती है। दूसरी ओर तक्षक के उत्पीड़न से उत्तेजित होकर उतंक नागों के नाश की प्रतिज्ञा करता है और सहायता के लिए जनमेजय के पास जाता है और नागों के नाश के लिए जनमेजय को उभारता है। इस प्रकार उत्तंक भी हमारे सामने प्रमुखता लिये आता है, जनमेजय उसका साधन मात्र है। जनमेजय नागों का विनाश करने के लिए तक्षशिला पर आक्रमण करता है और उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। काश्यप का षड्यन्त्र भी असफल रहता है। इस प्रकार यहां तक की सारी घटना अपने आप में कथानक को पूर्ण कर देती है।

जनमेजय स्वतंत्र रूप से हमारे सामने पहली बार उस समय आता है जब वह अश्वमेध करने की बात करता है। वह स्वतः ब्राह्मणों से विरोध नहीं लेना चाहता। वह अश्वमेध इसलिए करता है कि धर्म की आज्ञा है और ब्राह्मणों का निर्णय है। अश्वमेध के अवसर पर काश्यप फिर षड्यन्त्र करता है और तक्षक के साथ मिलकर अश्वमेध में विघ्न डालने तथा महिषी को उठा ले जाने का उपक्रम करता है। पर उसमें वह विफल होता है। काश्यप भागता है और भागते समय नागों के हाथों ही मारा जाता है। तक्षक बन्दी होता है। इस विघ्न से जनमेजय उत्तेजित होता है और नागों को हवन कुंड में डालने का निश्चय करता है। उसके बाद आस्तीक के कहने से जनमेजय तक्षक को छोड़ देता है और नागों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित होता है और स्थायी रूप से नाग-आर्य संघर्ष समाप्त हो जाता है।

अनाटकीय नाटक

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक के स्पष्ट तीन टुकड़े हैं जिनका कार्य-संधान एक दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र है। उनको जोड़कर कथानक का रूप प्रसाद ने दिया है और अपने नाटक की रचना की है। इस प्रयत्न में उन्हें आवश्यक-अनावश्यक अनेक पात्रों को सामने रखना पड़ा है और आरम्भ के दृश्य कुछ साधारण घटना व्यापारों के परिचय मात्र हो गये हैं। इस प्रकार नाटक में अत्यन्त शिथिलता आ गयी है और उसका उचित संघटन नहीं हो पाया है। नाटक में साध्य और साधन का ज्ञान अन्त तक नहीं हो पाता।

दर्शक यही सोचने में रह जाता है कि उसमें क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक। सम्पूर्ण नाटकों में सन्धि-स्थल जैसी कोई चीज है ही नहीं। कार्य की अवस्थाओं का भी पता नहीं चल पाता। प्रत्येक अंक का आरम्भ और अन्त नीरस व्यापारों से होता है जिनके कारण वे प्रभावहीन हो गये हैं और अनाटकीय से लगते हैं। हम इस नाटक के सम्बन्ध इतना ही कह सकते हैं कि वह एक उलझे हुए कथावस्तु के साथ प्रस्तुत किया गया अनाटकीय नाटक है।

नाटक के तत्वों को अलग रखकर यदि पात्रों को देखा जाय तो प्रत्येक पात्र के चरित्र की मौलिक वृत्ति का आभास मिलता है और उनके चित्रण में प्रसाद की प्रतिभा अपने स्वरूप में परिलक्षित होती है।

सरमा

सरमा के रूप में प्रसाद ने हमारे सम्मुख एक आदर्श नारी को उपस्थित किया है। वह कुकुर वंश की यादवी है। प्रभासक्षेत्र में अर्जुन के साथ जाते हुए वह नागों द्वारा धर्षित होती है। इस बात को स्वीकार करने में उसे तनिक भी लज्जा नहीं है। वह मनसा से तो वह यह कहता ही है कि—"**क्या मैं ही तुम्हारे भाई पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से नहीं चली आयी**? जनमेजय के सम्मुख भी वह कहती है कि **मैंने अपनी इच्छा से नाग परिणय किया था**। नाग परिवार में उसको जातीय अपमान ही मिलता है। उनमें वह कुटिलता देखती है। देखती है कि वे दिन रात आर्यों से अपना प्रतिशोध लेने की चिन्ता में रहते हैं। जब उसे अपना जातीय अपमान असह्य हो जाता है, मनसा के विषाक्त व्यंगों से क्षुब्ध हो जाती है, तो निर्भीकता के साथ नाग-कुल का त्याग करके चल देती है। वह स्वाभिमान अपने साथ लेकर जाती है। जाते समय वह यह बता कर जाती है कि—

मनसा मैं व्यंग सुनने नहीं आयी हूँ...यह समझ रखना कि कुकुरवंश के यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ और अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आयी है। इस वक्षस्थल म अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है। आगे वह स्पष्ट शब्दों में कहती है—**जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती।... मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदयहीन उद्दंड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।**

जहाँ सरमा में इस प्रकार का जात्याभिमान है, निर्भीकता और स्वावलम्बन की भावना है, वहीं उसमें दाम्पत्य प्रेम भी कूट कूट कर भरा है। वह नागजाति को ठुकरा कर भी अपने पति की उपेक्षा नहीं कर पाती। वह स्वाभामान वश ही अपने पति से अलग होती है। पर जब पति कहता है—

क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं। वह सरल भाव से उत्तर देती है—**आपका और सब अधिकार है, पर मेरी सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने का नहीं...इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूंगी, पर अपमानित होने के लिए नहीं। आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।**

सरमा पति-प्रेम को अक्षुण्ण रखते हुए दासी बनी रहना नहीं चाहती। उसे अपनी स्वतन्त्रता अभीष्ट है। उसके इस स्वर में आज की नारी बोल रही है; किन्तु आज की नारी की तरह वह पति की उपेक्षा नहीं करती। वासुकि को कष्ट में पड़ा देखकर वह विचलित हो उठती है। उसका नारी हृदय चीत्कार कर उठता है। जिस समय वासुकि जनमेजय की सेना से घिर जाता है, उस समय उसका प्रति-प्रेम उमड़ पड़ता है। वह कह उठती है—

देवता, तुम संकट में हो, यह सुन कर भला मैं कैसे रह सकती हूँ। मेरा अश्रुजल समुद्र बन कर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा; मेरी शुभकामना तुम्हारा वर्म बन कर तुम्हें सुरक्षित रखेगी। तुम्हारे लिए अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी?

और हम देखते हैं कि पति की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर वपुष्टमा की दासी बनती है और अपने पति को सब संकटों से बचाती है। सरमा उस भारतीय नारीका आदर्श है जो एक बार अपना पति चुन कर उस पर अपने को आत्मोत्सर्ग कर देती है।

सरमा की दूसरी विशेषता उसका दृढ़ चरित्र है। नागों द्वारा अपमानित होकर भी वह नागों के अनिष्ट की कल्पना नहीं कर सकती। मनसा ने सरमा का अपमान किया। तक्षक दो बार सरमा को मारने उठा। फिर भी नाग जाति के प्रति उसके मन में कलुष नहीं है। वह मनसा को वचन देती है—**मुझसे नागों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा**। जनमेजय की राजसभा में सरमा अपमानित होती है। वह राज-सभा में अपने पुत्र के प्रति न्याय के लिए जाती है और उसे प्रतारणा मिलती है। जनमेजय कहता है—**चुप रहो। पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है**। वपुष्टमा भर्त्सना करती है—**छी! आर्य ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया। तभी तो यह लांछना भोगना पड़ती है**। पर इन अपमानों का प्रतिकार अवैध रूप से लेना उसे अभीष्ट नहीं है। उसका पुत्र माणवक उसे प्रतिशोध के लिए उत्तेजित करता है। कहता है—**मां, मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमंडियों के वे वक्र लोचन बरछी की तरह लग रही है। मां, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा, मुझे आज्ञा दो...** पर वह धैर्य से काम लेती है। वह माणवक के गुप्त हत्या के प्रस्ताव का विरोध करती है। वह राजकुल से अपना बदला लेने को अवश्य दृढ़ है, पर लुक छिप कर नहीं, प्रत्यक्ष रूप से। वपुष्टमा के यहाँ दासी के रूप में काम करती है। उस समय वपुष्टमा का अपहरण होता है। अपमान का प्रतिशोध लेने का इससे बढ़ कर और कौन-सा अवसर हो सकता था! पर नहीं, वह प्रतिशोध अपकार करके नहीं उपकार द्वारा लेने में विश्वास करती है। वपुष्टमा के जीवन और सतीत्व की रक्षा करती है। वपुष्टमा को क्षमा माँगना पड़ता वह स्वीकार करती है कि—**मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज तुम्हारे सामने आंख उठाते लज्जा आती है। तुमने मुझ पर जैसी विजय पायी है वह अकथनीय है।**

सरमा की मानवता हमें एक अन्य रूप में भी देखने को मिलती है। वह उत्तंक की रक्षा करती है, मंगलमयी बन कर वपुष्टमा को राजा से मिलाती है और मणिमाला का जनमेजय के साथ पाणिग्रहण करा कर आर्यों और नागों का विरोध समाप्त कराती है।

जीवन के उत्थान-पतन, आशा-निराशा के बीच सरमा का जीवन गिरता और उठता है। वह अनेक कष्ट और अपमान सहते हुए विश्व मैत्री और साम्य आदर्श का मनसा वाचा कर्मणा सतत् पालन करने की चेष्टा करती है। लोक व्यवहारों के बीच उसका चरित्र अलौकिक है।

मनसा

सरमा की तरह ही मनसा में भी जाति-गौरव है। उसे नाग जाति की गिरी अवस्था से घोर दुःख है। उसे इस बात का गौरव है कि आर्यों के सदृश नागों का भी विस्तृत राज्य था, उनकी भी अपनी एक संस्कृति थी। नाग जाति वीर्य या शौर्य में आर्यों से कम न थी। आर्यों ने नाग जाति के साथ जो व्यवहार किया उससे वह बहुत क्षुब्ध है। नागों के साथ आर्यों की नृशंसता उसे उत्तेजित और नाग जाति को प्रतिशोध लेने को प्रेरित करती रहती है। सच्चे अर्थों में जात्याभिमान उसमें जोर मार रहा है। जाति कल्याण के लिए उसने अपना यौवन जरत्कारु नामक वृद्ध तपस्वी ऋषि को अर्पित कर दिया है। केवल जातीय प्रेम से प्रेरित होकर उसने यह अत्याचार अपने ऊपर किया है। और वह अपनी जाति के लुप्त गौरव, विस्तृत राज्य, प्रशस्त संस्कृति और अतुल शौर्य की गाथा कह कर नाग जाति को प्रोत्साहित करती रहती है। वह निरन्तर नागों को आर्यों से युद्ध करने और उनसे अत्याचारों का प्रतिशोध लेने को उभाड़ा करती है। यही उसके जीवन का लक्ष्य है। प्रतिशोध की इस चरम भावना ने उसे व्यवहार में रुक्ष बना दिया है और उसकी किसी से नहीं पटती। यहाँ तक कि वह जब अपने पुत्र को अपने इस विद्वेष बुद्धि का विरोध करते देखती है तो उसका भी तिरस्कार कर देती है। जब जनमेजय का अश्व आता है तो मनसा अश्व को छीन लेने का आदेश देती है। नाग अश्व को छीन लेते हैं और जनमेजय के सैनिकों से नागों का युद्ध होता है। युद्ध में नागों की पराजय होती है। इस युद्ध के विषम फल को देख कर वह दुखी होती है और अपनी भूल का अनुभव करती है। वह कहती है—**यदि स्त्रियाँ अपने इंगित की आहुति न दें तो विश्व में क्रूरता की अग्नि प्रज्वलित ही नहीं हो सकती। बर्बर रक्त को खौला देना इन्हीं दुर्बल रमणियों को उत्तेजनापूर्ण स्वीकृति का कार्य है। उनकी कातर दृष्टि में जो बल, जो कर्तृत्व शक्ति है, वह मानव शक्ति का संचालन करने वाली है। जब अनजान में उसका दुरुपयोग होता है, तब तत्काल इस लोक में दूसरा दृश्य उपस्थित हो जाता है।**

मनसा का चरित्र एक जात्याभिमानी का चरित्र है। उससे अपनी जाति पर मर मिटने की प्रेरणा हमें मिलती है। किन्तु लोककल्याण की दृष्टि से हमारे सामने इस जात्याभिमान का जो सद्फल आना चाहिये वह इस पात्र द्वारा सामने नहीं आता। हम देखते हैं कि उसका परिणाम विनाश ही है। अतः यहाँ हमें मनसा के चरित्र को सूक्ष्म दृष्टि से देखने की आवश्यकता होती है। वह केवल अपनी ओर देखती है, दूसरी ओर देखना वह नहीं चाहती। यही उसकी कमजोरी है। मनसा के चरित्र का मूर्त उदाहरण हमारे सामने हिटलर का है। उत्पीड़ित जर्मनों के भीतर उसने जिस प्रकार जात्याभिमान भरा, बहुत कुछ वह उसी ढंग पर था, जिस ढंग को मनसा ने अपनाया था। उसका

परिणाम भी वही हुआ जो हिटलर का। अतः वह कहना अत्युक्ति न होगी कि मनसा और हिटलर एक थे। केवल समय का अन्तर है।

उतंक

उत्तंक दो रूपों में हमारे सामने आता है। एक तो देव के शिष्य के रूप में और दूसरे तक्षक के शत्रु रूप में। दोनों जीवनों की उसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं। छात्र जीवन में वह चरित्रवान और मेधावी है। अपने साथियों की अपेक्षा उसे दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ शीघ्र समझ में आती हैं। उसे गुरु-पत्नी दामिनी की कामुकता किसी प्रकार विचलित नहीं कर पाती। वह अपने को संयत बनाये रखने में सफल रहता है। दामिनी की कष्ट-साध्य कुंडल-लालसा की पूर्ति में वह विचलित नहीं होता और अपने प्राणों का मोह न करके भी उसको पूरा करता है। स्थिर भाव से कहता है—गुरुदेव यही होगा। कल मैं जाऊँगा। राजसभा में जाता है और जिस निर्भीक और व्यवहारिक ढंग से बात करता है उसमें उसकी प्रकृति की दृढ़ता और कठोरता परिलक्षित होती है। मणिकुंडल लेकर वापस आते समय मार्ग में तक्षक उससे बलपूर्वक मणिकुंडल लेना चाहता है। वह वध के लिए छुरी लिए सामने खड़ा है फिर भी हम देखते हैं कि उत्तंक विचलित नहीं होता। वह उसे अपने आत्मबल और ब्रह्मबल के आधार पर उसे ललकारता है—

यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके। पाखंडी तेरा पतन समीप है।

उत्तंक की दृढ़ता और कठोरता में चाणक्य का चरित्र परिलक्षित होता है। जिस प्रकार नन्द द्वारा अपमानित होने पर चाणक्य उसके समूल नाश की प्रतिज्ञा करता है वसा ही उत्तंक नागों के नाश के लिए बद्धपरिकर है। वह जनमेजय को अपने प्रतिशोध और प्रतिज्ञापालन के लिए साधन बनाता है। उसे नागों के नाश के लिए उत्तेजित करता है। नाग-नाश का औचित्य जिस रूप में वह व्यक्त करता है उससे जान पड़ता है कि उसके मन में व्यक्तिगत विरोध की भावना कम लोक-कल्याण की भावना ही अधिक है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। जो कुछ कहता है वह उसकी कूटनीतिज्ञता ही है। वह जनमेजय को उत्तेजित करते हुए कहता है—

सम्राट को किंकर्तव्य विमूढ़ होना शोभा नहीं देता। मनोबल संकलित कीजिये, दृढ़ प्रतिज्ञ हृदय के सामने सब विघ्न स्वयं दूर हो जायेंगे। सबल हाथों में दण्ड ग्रहण कीजिये। कोई दुराचारी क्यों न हो, दंड से वह मुक्त न रहे सम्राट् अपने पिता का प्रतिशोध लीजिये, जिसमें इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुर्वृत्त नागों का दमन हो।

वह अपनी प्रतिज्ञा को गौण मान सम्राट के प्रतिशोध को महत्व देता है। किन्तु जब सम्राट को निरुत्साही पाता है तो स्पष्ट शब्दों में अपने क्रोध को चाणक्य की तरह प्रकट करता है:—जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुर्वृत्त नाग जल कर भस्म न होंगे, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। बल मद से मत्त चाहे कोई शक्ति हो, ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका

फल अवश्य भोगेगा। बताइये. . .मेरा प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते हैं या नहीं, अन्यथा मैं दूसरा यजमान ढूंढूं।

स्पष्ट है प्रतिशोध उसका प्रधान लक्ष्य है किन्तु जब वह वपुष्टमा से बात करता है तो कहता है—

साम्राज्ञी, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करने और अपयश से बचने के लिए ही तो यह समस्त आयोजन है।

वपुष्टमा जव उससे पूछती है—यह सब करने पर भी क्या होगा? तो वह कहता है—राष्ट्र और समाज के शासन को दृढ़ करना ही इसका एक मात्र उद्देश्य है। लोकपीड़क नागों के दमन द्वारा ही राष्ट्र और समाज की दृढ़ता और उसका मंगल संभव है। अर्थात् जो कुछ किया गया है और किया जा रहा है वह सब लोक-कल्याण है।

अपने हितसाधन के लिए वह कूटनीतिज्ञ की तरह ही वह बातें करता है। जब जनमेजय कहते हैं कि मनुष्य प्रकृति और अनुचर का दास है। तो उत्तंक उनसे कहता है—अपने कलंक के लिए रोने से क्या वह छूट जायेगा? उसके बदले में सुकर्म करने होंगे। सम्राट् मनुष्य जब तक यज्ञ का रहस्य नहीं जानता तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। किन्तु जब वपुष्टमा के सामने वह जाता है तो नियति की ही बात करने लगता है। कहता है—आप साम्राज्ञी हैं फिर ऐसी दुर्बलता क्यों? नियति की क्रीड़ा कन्दुक नीचा ऊँचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जायेगा। चिन्ता क्या है। केवल कर्म करते रहना चाहिये।

उत्तंक चाणक्य की तरह कूटनीतिज्ञ और उसी की तरह क्रोधी भी है। सारे ब्राह्मणों के विरुद्ध हो जाने पर भी अपने निश्चय को पूर्ण करने के लिए जनमेजय का साथ देता है और नाग यज्ञ के विधान में उसकी आन्तरिक उत्तेजना चरम सीमा पर पहुँच जाती है, और उसकी क्रूरता सामने उभर आती है। मानवता उसमें रह ही नहीं जाती। वह क्रोधान्ध व्यक्ति ही प्रतीत होता है। किन्तु हृदयहीनता की चरम सीमा पर पहुँच कर भी वह समझता है कि उसके हृदय है। इस पर जब दामिनी चोट करती है—हृदय है तब तो तुम उसको दुर्बलता से और भी भली भांति परिचित होगे—तब उसका क्रोध पारे की तरह नीचे उतर आता है और वह समझता है कि यह सब उसका दम्भ था।

इस प्रकार उत्तंक का चरित्र एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है जो बुद्धिमान होते हुए, वासना पर विजय प्राप्त करते हुए भी, भावना के वशीभूत होकर प्रतिहिंसा की प्रतिमूर्ति बन बैठता है और मस्तिष्क खो देता है। वह समझता है कि जो कुछ कर रहा है, उचित और लोक-कल्याण के लिए है। यहीं वह चाणक्य से भिन्न दृष्टिगोचर होता है। फिर भी उत्तंक मानव मनोवृत्तियों का सजीव चित्रण है।

जनमेजय

जनमेजय के चरित्र में राजोचित विनम्रता, सहिष्णुता, और उदारता पर्याप्त मात्रा में है। काश्यप के आचरणों से अपने को अपमानित अनुभव करते हुए भी, तुरकावषेय के कहने पर उसे संतुष्ट करने का यत्न करता है। ब्रह्मचारी उत्तंक का स्वागत भी

वह राजोचित ढंग से करता है और उत्कण्ठा के साथ गुरुकुल का कुशल समाचार पूछता है। अनजाने जरत्कारु ऋषि की हत्या हो जाने पर जिस प्रकार वह दुखी होता है वह उसके हृदय की सरलता और शुद्ध भावना को प्रकट करता है। वह इस कृत्य के लिए खिन्न होता है और अपने को ब्रह्महत्या का पापी मानकर उसके प्राश्चित स्वरूप अश्वमेध करने को प्रस्तुत होता है। ब्राह्मण और यक मडल के असन्तोष, परिषद की अन्यमनस्कता और कर्मचारियों की उपेक्षा उसे क्षुब्ध नही बनाते। वह उनके इस क्षोभ को उचित ही समझता है और किसी प्रकार के प्रतिकार का प्रयत्न नही करता। आस्तीक उससे जब इस हत्या का न्याय के नाम पर प्रतिफल चाहता है तो उसे तनिक भी झिझक नही होती। इस प्रकार एक शासक के रूप में वह पूर्णतया आदर्श है। किन्तु उसके चरित्र का दूसरा पहलू भी है। नागों के साथ उसका द्वेष परम्परागत है, उनके प्रति उसकी दुर्भावना स्वाभाविक है, पर उसकी दुर्भावना ने इतना भीषण रूप ले लिया है कि जब सरमा उसके पास न्याय के लिए जाती है तो वह अपना राजोचित कर्त्तव्य भूल जाता है और यह सुनते ही कि उसने नाग परिणय किया है, परित्यक्ता जानकर भी उसका अपमान करता है:—**दस्यु महिला के लिए कोई आर्य न्यायाधिकरण मे नहीं बुलाया जायेगा, पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। असभ्यों मे मनुष्यता कहाँ? उनके साथ तो वैसा ही व्यवहार होना चाहिये।** जिस समय उत्तंक उससे अपनी प्रतिज्ञा की बात कहता है और उसके पिता की हत्या की बात बताता है और प्रतिशोध के लिए उत्तेजित करता है, वह अविवेकी की भांति, उत्तंक के इस कथन मात्र से कि **बल मद से मत्त चाहे कोई शक्ति हो, ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य भोगेगा। बताइये ···मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते है या नहीं? अन्यथा मैं दूसरा यजमान ढूंढूं**—भयभीत होकर प्रतिज्ञा कर बैठता है—**पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग यज्ञ होगा।** नागों का दमन जिस क्रूरता के साथ किया जाता है वह मानवता की सीमा को पार कर पशुता तक पहुँच जाता है। अश्वमेध में विघ्न, वपुष्टमा के अपहरण और ब्राह्मणों के विश्वासघात से क्षुब्ध होना स्वाभाविक है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया जिस रूप में प्रकट होती है, उसमे वह अपने पर से अधिकार खो बैठता है और इतनी क्रूरता से काम लेता है कि तक्षक भी विचलित हो उठता है और उसे कहना पड़ता है कि **क्रूरता मे तुम किसी से कम नहीं हो।**

नाग जाति दस्युवृत्ति ग्रहण करके हत्या, लूट आदि द्वारा आर्यो को त्रस्त करते रहे है। उनका दमन करना आवश्यक था। राजधर्म के अनुसार सगत भी था; किन्तु जिस रूप मे दमन किया गया है वह जनमेजय की आत्मा की दुर्बलता का परिचायक है। यह दुर्बलता मानव स्वभाव है पर आदर्श नही। इस प्रकार जनमेजय मनुष्य मात्र है, आदर्श नही।

जनमेजय के चरित्र की दूसरी कमजोरी उसकी भाग्यवादिता है। एक शक्तिशाली सम्राट होते हुए भी नियति और प्रकृति के चक्कर में पड़ा हुआ है। वह समझता है कि **मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।** वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। उसमें अपने आप कुछ करने का साहस नही है। यदि उत्तंक उसे उत्तेजित न करता तो कदाचित वह

तक्षशिला पर आक्रमण न करता और न अश्वमेध करने की ओर ही उसका ध्यान जाता। उस ओर उसका ध्यान जाने पर भी अश्वमेध करने से हिचकता है। वेदव्यास की प्रेरणा ही उससे यज्ञ करने को तैयार कर पाती है। उसका व्यवहार ऐसा है जैसे सब कुछ करते हुए भी वह कछ नहीं कर रहा है। नियतिवाद की इतनी गहरी छाप है कि वह स्वयं अकर्मण्य है। दूसरों के ढकेलने पर ही कुछ कर पाता है।

जनमेजय को एक स्थल पर हम एक दूसरे रूप में भी कमजोर पाते हैं। उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलता उस समय सामने आती है, जब मणिमाला से उसकी भेंट होती है। वहाँ उसके बातचीत में राजोचित संयम नहीं है। वह मणिमाला को देखकर विचलित हो उठता है और उसपर आसक्त हो जाता है। तभी तो उसके मुंह से निकल पड़ता है—मैं तो तुम सी नागकुमारी का प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ। कुछ लोग भले ही इसे मणिमाला के सौन्दर्य-व्यक्तित्व से प्रभावित हृदय की निश्छलता और गुणग्राहकता का द्योतक कहें पर उसमें वासना निहित है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

जनमेजय नाटक का प्रधान पात्र अवश्य है पर उसका अपना व्यक्तित्व नहीं है। वह सारे नाटक में यन्त्रवत् काम करता है। सम्राट होकर भी वह मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठ नहीं सका है।

तक्षक

जिस प्रकार जनमेजय का नागों के प्रति विद्वेष है और वह उनके विनाश के प्रति सचेष्ट होता है, उसी प्रकार तक्षक भी आर्यों के प्रति शत्रुभाव रखता है। किन्तु वह जनमेजय की तरह निष्क्रिय नहीं है। उसे किसी प्रकार के उत्तेजना की आवश्यकता नहीं होती वह स्वयं उत्तेजित है। उसे कहते हुए हम पाते हैं:—मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते देख रहा हूँ। और स्वयं दस्युयों के समान अपनी ही धरती पर से, रखते हुए भी कांप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस छाती में धधक उठती है। तिहिंगे तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूंगा। इस प्रवंचना, कपट अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे। रक्तरंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन, शवगन्धपूरित धूमसे भर कर तेरी धूपदानी बनेगा। उसके इन शब्दों से उसका चरित्र स्पष्ट है। उसे हम इसी के अनुसार आदि से अंत तक काम करते हुए पाते हैं। नागों को संघटित कर वह दस्युकर्म द्वारा आर्य जनपदों में हत्या, लूट आदि कार्यों से आतंक उत्पन्न कर देता है। उत्तंक की कपटपूर्ण क्रूर हत्या करना चाहता है। रानी वपुष्टमा का वह अपहरण करने का यत्न करता है।

अपने कार्यों की पूर्ति के लिए सब प्रकार के साधनों को एकत्र करने में वह कुशल है। प्रलोभन देकर काश्यप को अपनी ओर मिला कर राजकुल के रहस्यों को प्राप्त कर लेता है। दामिनीको अपने यहां आश्रय देकर उत्तंक के कार्योंकी जानकारी प्राप्त करता है और उसके प्रतिकार का प्रयत्न करता है। ब्राह्मणों को बुद्धिभेद द्वारा अपनी ओर करने का सफल प्रयत्न करता है। जिन लोगों को अपने काम में सहायक समझता है, उनको अपनाता है और जो उसके कार्यों में बाधा डालते हुए प्रतीत होते हैं, उनको अपना होते हुए भी

उपेक्षित और तिरस्कृत कर देता है। वह इसमें अपने पराये का भेद नहीं मानता। सरमा को अपने विचारों का विरोधी पाकर ठुकरा देता है और उसकी हत्या करने तक को प्रस्तुत हो जाता है। अपनी पुत्री मणिमाला से स्नेह अवश्य करता है पर जब वह देखता है कि वह उसके कार्यों की विरोधिनी है तो उसकी उपेक्षा करता है उसके अनुरोधों को ठुकरा देता है। आस्तीक के महान् व्यक्तित्व के प्रति उसको कोई आस्था नहीं है। इसके विपरीत मनसा और वासुकि को अपना मानता है। वे उसके विचारों के समर्थक हैं, इसका कारण यदि वे कुछ अप्रिय कार्य भी करते हैं तो वह उसको सहन कर लेता है। सरमा की हत्या को एक बार मनसा रोकती है और दूसरी बार बासुकि।

तक्षक में दृढ़ निश्चय, और साहस कूट-कूट कर भरा हुआ है। बन्दी होकर भी उसमें, अपने कार्यों के प्रति किसी प्रकार का परिताप नहीं है। वह जनमेजय से न तो अपने प्राणों की भिक्षा चाहता है और न उसकी अधीनता स्वीकार करता है। मनसा ही जो कुछ कहना होता है कहती है। वही सन्धि की घोषणा करती है। तक्षक तो बन्दी होकर भी जनमेजय की भर्त्सना करने में नहीं चूकता। वह कह ही बैठता है कि **क्षत्रिय सम्राट क्रूरता में तुम किसी से कम नहीं हो।** सब दृष्टियों से तक्षक का चरित्र यथार्थ है। उसके जीवन में आदर्श की कृत्रिमता कहीं दिखाई नहीं पड़ती।

अन्य पात्र

इन पात्रों के अतिरिक्त इस नाटक के पुरुष पात्र हैं—काश्यप, वासुकि, वेद, आस्तीक, सोमश्रवा, च्यवन, वेदव्यास, त्रिविक्रम, माणवक, जरत्कारु, चण्डभार्गव, तुरकावषेय, अश्वसेन, भद्रक, और शौनक। स्त्री पात्रों में वपुष्टमा, मणिमाला, दामिनी और शीला हैं। इनमें से अधिकांश नाटक में सहायक रूप में जरा-जरा सी देर के लिए आये हैं, इस कारण उनके चरित्र के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। वे परिस्थिति के संयोजन अथवा विकास के लिए ही सामने आते हैं।

काश्यप क्रोधी, उद्धत, कुचक्री एवं महान् अर्थ लोलुप है। पैसे के लोभ में किसी प्रकार का षड्यन्त्र करने और किसी का गला काटने, अहित करने में उसे संकोच नहीं है। कभी वह जनमेजय के पास लौट आता है कभी तक्षक के पक्ष में जा मिलता है। उसका प्रधान लक्ष्य अपना भला है।

वासुकि बर्बर नाग जाति का प्रतिनिधि है। तक्षक का प्रधान सहायक है। आर्यों के तक्षशिला आक्रमण के समय उसने ही पहले पहल नाग सेना एकत्र कर उनका प्रतिरोध किया है। इस प्रकार सर्व प्रकार से वह तक्षक का भक्त अनुचर है। पर उसमें अन्धभक्ति नहीं है। कर्तव्याकर्तव्य का उसे ध्यान है। पत्नी के साथ विचारों का विरोध होने पर भी वह दृढ़ता के साथ उसकी हत्या का विरोध करता है।

आस्तीक नाग रमणी के गर्भ से उत्पन्न आर्यपुत्र है। उसे आर्य-नाग वैमनस्य पसन्द नहीं है। वह मंगल भावना से दोनों विरोधी जातियों में सन्धि कराने का इच्छुक है। इसके कारण उसे उसकी माता त्याग देती है। फिर भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहता है। उसमें विवेक सदा प्रसारित होता रहता है।

वेदव्यास ज्ञान, विवेक और ब्रह्मत्व के प्रतीक हैं। सर्वद्रष्टा और विश्वकल्याण के मूर्त रूप हैं। उनके हृदय में सबके हितसाधन की प्रबल मनोकामना है। इनके अतिरिक्त अन्य पात्रों का महत्व नगण्य है।

स्त्री पात्रों में **वपुष्टमा** राजमहिषी है। उसका चरित्र उसके उपयुक्त है। वह गम्भीर, उदार और न्यायप्रिय है। आर्यों और नागों के संघर्ष में उसका कोई सक्रिय भाग नहीं है। पतिपरायण नारी की भांति पति की कल्याण कामना ही उसका चिन्तन है। संघर्ष के परिणामों से वह सदा सशंक रहती है। नारी होने के नाते उसमें नारी दुर्बलता भी है। इसी के परिणाम स्वरूप सरमा के प्रति उसकी सहानुभूति नहीं जागती। उसे लांछित करना ही अच्छा लगा। पर सरमा की महत्ता प्रकट होते ही अपने प्रति उसको कम ग्लानि नहीं होती। वह सरमा से क्षमा चाहती है।

मणिमाला नाग जाति में जन्म लेकर भी नाग जाति की बर्बरता से पृथक आर्य संस्कृति से ओतप्रोत रमणी है। सरलता भावुकता और उदारता उसके चरित्र में भरा हुआ है। उसकी भावुकता कवि की सी भावुकता है। उसके प्राण में करुणामयी मूर्छना है। वह सारे सुन्दर भावों के डुबाये रखने की कामना रखती है। उसका सर्जन इस नाटक का सरस बनाये रखने के लिए ही किया गया है।

दामिनी वृद्धस्य तरुणी भार्या है। उसका वही स्वरूप है जो अन्य वृद्धस्य तरुणी भार्या में पाया जाता है। उसमें न कोई विशेषता है और न नवीनता।

शीला का चरित्र एक सामान्य नारी का चरित्र है, उसके व्यक्त होने का नाटक में कोई अवसर नहीं मिला है।

उद्देश्य के प्रति निराशा

समष्टि रूप से नाटक पर दृष्टि डालने से नाटककार के उद्देश्य के प्रति निराशा सी होने लगती है। नाटकार को इष्ट रहा है हमारे सम्मुख हमारे अतीत का आदर्श उपस्थित करना। यही उसने विशाख की भूमिका में बताया है। किन्तु इस नाटक के द्वारा हमारे सम्मुख उपस्थित किया गया है कि हमारे पूर्वज आर्य उतने ही बर्बर थे जितने कि बर्बर दस्यु कही जानेवाली नाग जाति। आर्य जाति बर्बर रही भी हो तो आज वह आदर्श नहीं माना जा सकता। आर्य जाति में लोक-कल्याण की भावना रही है, यह इस नाटक कहीं भी प्रकट नहीं होता। आर्य और नाग दोनों जातियों के लोगों की मनोवृत्ति, भावना और विचारधारा एक ही दिशा में बहती हुई दिखायी गयी है। अपनी गिरी दशा को ऊपर उठाने के लिए जो संदेश मिलना चाहिये वह नहीं मिलता है। जो मिलता है वह यह कि हम भी बर्बर के साथ बर्बर बनें।

सामयिक प्रश्न

इतना सब होते हुए भी नाटक में यत्र तत्र सामयिक प्रश्नों की भी चर्चा है। उनकी ओर प्रसाद ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और अपने विचार प्रकट किये हैं। हमारे सामाजिक जीवन में बढ़ते हुए फैशन की टीका शीला और दामिनी के निम्नलिखित वार्तालाप में की गयी है:—

दामिनीः—तुमने तो अभी तक वेषभूषा भी नहीं की ।

शीला—वेशभूषा ! क्यों ?

दामिनी—क्यों ? जब वहां बहुत सी कुल ललनाएं और राजकुल की स्त्रियाँ अच्छे-अच्छे गहने कपड़ों से सज कर आवेंगी, तब क्या तुम इसी वेश म उनमें जा बैठोगी ?

शीला—क्यों, क्या इसमें कुछ लज्जा है ?

दामिनी—अवश्य, जहाँ जैसा समाज हो, वहाँ उसी रूप में जाना चाहिये ।

शीला—यह विडम्बना है । पवित्र हृदयको इसकी क्या आवश्यकता है ? बनावटी बातें क्षणिक होती हैं; किन्तु जो सत्य है,वह स्थायी होता है । बहन दामिनी, मेरी समझ में तो स्त्रियाँ विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बठती हैं । वस्त्रों और आभूषणों की रक्षा करने और उन्हें सम्हालने में जो कार्य करने पड़ते ह, वे ही पुरुषों के लिए विभ्रम हो जाते हैं । चलने में आभूषणों के कारण संभाल कर र रखना, कपड़े को बचाने के लिए उन्हें समेटकर उठाते, हटाते, खींचते हुए चलना, यह सब पुरुषों की दृष्टि को तो कलुषित करता ही है, हमारे लिए और भी बन्धन हो जाता है । खुले हृदयसे, स्वच्छन्दता से, उठना बैठना और बोलना चालना भी दुष्कर हो जाता है । वेश भूषा के नियमों में उलझ कर अस्त व्यस्त हो जाना पड़ता है ।

दामिनी—क्या संसार में इनका प्रयोग व्यर्थ है ?

शीला—मेरी सम्पत्ति तो यह है कि सरलता, हृदय की पवित्रता, स्वच्छता और अपनी प्रसन्नता के लिए उतना ही स्त्रीजन सुलभ शृंगार पर्याप्त है,जो स्वतंत्रता में बाधा न डालता हो जो दूसरे का मनोरमण करने के लिए न हो । कुटिलों का लक्ष्य बनने के लिए कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नहीं, किन्तु पाप भी है ।

ऐतिहासिक भूल

आज की फैशनपरस्ती की इस रूप में भर्त्सना करते समय प्रसाद ने एक बड़ी ऐतिहासिक भूल की है । उनका ध्यान आज की इस समस्या की टीका करने की ओर ही विशेष रहा है, इससे वे कदाचित् यह भूल गये कि जिस कालकी बात वे कह रहे हैं, उस काल का परिधान आज से एक दम भिन्न था । उस काल में कपड़ों को बचाने के लिए उन्हें समेट कर उठाते, हटाते और खींचते हुए चलने की आवश्यकता न थी । उस परम परदे और घूंघट का नाम न था जो इन शब्दों से व्यंजित होता है ।

नारी स्वतन्त्रता

नारी स्वतंत्रता का प्रतिपादन प्रसाद जी की इष्ट रहा है और इसी को उन्होंने सरमा के रूप में हमारे सामने रखा है और बताने का यत्न किया है कि पत्नी पति की दासी नहीं कि वह उसकी हर एक बात को आंख मूंद कर मानती चले । जब बासुकि सरमा से पूछता है—क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है ? तब सरमा कहती है—आपको और सब अधिकार है पर मेरी सहज स्वतंत्रता का अपहरण करने का नहीं . . . . . मैं आप के साथ चलूंगी पर अपमानित होने के लिए नहीं ।

राजनीतिक उद्‌बोधन

गुलाम भारत के लिए राजनीतिक चेतना का उद्‌बोधन भी इस नाटक में पर्याप्त मात्रा में रहा है। नाग और आर्य दोनों अपने जाति प्रेम के मूर्त आदर्श के रूप में उपस्थित किये गये हैं। जात्याभिमान के लिए मर मिटने की प्रेरणा हमें चरम रूप में नागों से प्राप्त होती है।

अजातशत्रु

ऐतिहासिक पृष्टभूमि

महाभारत के पश्चात्, भारतवर्ष का इतिहास बहुत कुछ असम्बद्ध है। इसका कारण यह है कि देश में कोई एक शासक रह नहीं गया था। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने अपने प्रदेशों पर राज्य करती थीं। इनमें कुछ में गणतन्त्र शासन प्रणाली प्रचलित थी और कुछ के अपने शासक थे। जिन दिनों भगवान बुद्ध इस पृथिवी पर थे, उन दिनों कोशल, मगध, अवन्ती और वत्स प्रमुख राष्ट्र समझे जाते थे। उन दिनों कोसल में प्रसेनजित्, मगध में बिंबसार, अवन्ती में चंडप्रद्योत महासेन और वत्स (कोशाम्बी) में उदयन शासन कर रहे थे; अर्थात् ये चारो शासक भगवान बुद्ध के समकालीन थे। किसी न किसी रूप में इनका और बुद्ध का सम्बन्ध तत्कालीन, साहित्य, इतिहास और धर्म ग्रन्थों में मिलता है। इन चारों शासकों में परस्पर राजनीतिक सम्बन्ध के अतिरिक्त कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था। कभी कभी इन शासकों में परस्पर विरोध भी हो जाता और युद्ध भी ठन जाता पर शीघ्र ही किसी न किसी रूप में उस युद्ध का अन्त होता और विरोध का शमन हो जाता।

मगध

मगध का शासक बिंबसार शिशुनाग वंश का था और उसकी राजधानी उस समय राजगृह थी। उसने अनेक रानियों से विवाह किया था। उसकी प्रमुख रानियों में कोशलनरेश प्रसेनजित की बहन कोशलदेवी, लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री छलना और मद्र राजकुमारी क्षेमा थीं। बिंबसार का पुत्र अजातशत्रु था। अजातशत्रु की माता के विषय में उपलब्ध साहित्य में बहुत मतभेद है। जैन साहित्य में वह राजकुमारी छलना का पुत्र बताया गया है और आधुनिक अधिकांश विद्वान इसी को ठीक मानते हैं। निकायों में उसे वैदेहीपुत्र कहा गया है और तिब्बत के दुलवा में उसकी माता का नाम वासवी लिखा मिलता है। अजातशत्रु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अपने पिता के शासन काल में चम्पा (आधुनिक भागलपुर के आस पास का प्रदेश) में शासन करता था। देवदत्त नामक भिक्षु भगवान बुद्ध का विरोधी था और उनसे शत्रुता रखता था। बिंबसार बौद्धधर्म के संरक्षक थे; इस कारण उनसे भी उसकी शत्रुता थी। देवदत्त ने अपने सिद्धि और चमत्कारों से अजातशत्रु को मुग्ध कर लिया और अजातशत्रु को पिता को मार कर शासन भार ग्रहण कर लेने के लिए उसकाया; और स्वयं अपना स्वतन्त्र संघ स्थापित कर बुद्धका अन्त करने का प्रयत्न करने लगा। अजातशत्रु ने उसके मत में आकर बिंबसार की हत्या करने की चेष्टा की; परन्तु बिंबसार ने जब स्वयं राजत्याग कर दिया तो अजातशत्रु ने

हत्या न कर उसे बन्दीगृह में डाल दिया और उसे निराहार रखकर मृत्यु की अवस्था तक पहुँचा दिया। कहा जाता है कि जिस दिन उसके स्वयं पुत्र हुआ और उसे पुत्र की ममता का अनुभव हुआ, वह दौड़ा हुआ पिता के पास बन्दीगृह में गया; परन्तु तब तक बिंबसार के अन्तिम क्षण बीत चुके थे। बिंबसार की इस क्रूर मृत्यु के सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। जो भी हो, बिंबसार की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी कोशलदेवी की भी मृत्यु हो गयी। कोशलनरेश प्रसेनजित ने अपनी बहन को दहेज स्वरूप काशी की आय दिया था। बिंबसार और कोशलदेवी की मृत्यु के पश्चात् उसने काशी की आय पर पुनः अपना अधिकार कर लिया और इस प्रकार मगध के शासक को प्रति वर्ष जो एक लाख की आय होती थी, बन्द हो गयी। इसके फलस्वरूप मगध और कोशल में युद्ध छिड़ गया। कभी विजय इस पक्ष की रही और कभी विजय उस पक्ष की रही। अन्त में विजय प्रसेनजित् को मिली और अजातशत्रु बन्दी कर लिया गया। किन्तु यह विरोध अधिक दिनों तक नहीं रहा। प्रसेनजित् ने अपनी पुत्री वाजिरा से अजातशत्रु का विवाह कर दिया और काशी की सम्पूर्ण आय पुनः दहेज में उसे देदी।

कोसल

कोसलनरेश प्रसेनजित् कोसल के साथ साथ काशी का भी अधिपति था और उसके अन्तर्गत शाक्य लोगों का भी प्रदेश था। शाक्यों ने षड्यन्त्र से प्रसेनजित का विवाह वासभाखत्तिया नामक एक नीच कुल की बालिका से करा दिया। इस रानी से विरुद्धक नामक पुत्र हुआ जो प्रसेनजित के उपरान्त कोसल का शासक बना। प्रसेनजित को जब अपनी पत्नी के नीच कुल का पता चला तो उसने विरुद्धक को अदस्थ कर दिया पर फिर भगवान बुद्ध के कहने से उसे शासन अधिकार दे दिया। विरुद्धक को अपनी मातृपक्ष की हीनता और शाक्यों के षड्यन्त्र का जब ज्ञान हुआ तो उसने शाक्यों का निर्ममता के साथ दलन किया।

प्रसेनजित का तक्षशिला का एक सहपाठी था बन्धुल। वह कुशिनारा का मल्ल राजकुमार था। प्रसेनजित ने राज्याधिकारी होने पर बन्धुल को अपना सेनापति बना लिया था और वह श्रावस्ती आकर रहने लगा था। वह दुर्जेय वीर और तेजस्वी था। उसकी योग्यता और ख्याति से कुछ दिनों पश्चात् प्रसेनजित को भय होने लगा। फलतः अपने मन्त्रियों की कुमन्त्रणा में पड़ कर उसने बन्धुल और उसके पुत्रों को सीमान्त जाकर विद्रोह दबाने का आदेश दिया। इसी के साथ ही उसने मार्ग में गुप्त रूप से उनके मार डालने का भी प्रबन्ध किया। तदनुसार रास्ते में वह मार डाला गया। जिस समय यह समाचार बन्धुल की पत्नी मल्लिका को मिला, उस समय वह भगवान बुद्ध एवं उनके कुछ शिष्यों को भोजन करा रही थी। समाचार पढ़कर पत्र को अपने आँचल में छिपा लिया और पुनः पूर्ववत् काम में लग गयी। उसके चेहरे से किसी प्रकार इस दुःखद घटना का आभास नहीं होने पाया। भोजनोपरान्त जब लोगों को इस समाचार का पता लगा तो वे मल्लिका के धैर्य और शान्ति पर आश्चर्य करने लगे। उसके मन में अपने अपकार करने वाले के प्रति भी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। जब यह बात प्रसेनजित् को ज्ञात हुई

तो वह बहुत पछताया और उससे क्षमा याचना की और बन्धुल के भतीजे अथवा भांजे दीर्घकारायण को सेनापति पद पर नियुक्त किया। प्रसेनजित् को मल्लिका ने तो क्षमा कर दिया पर दीर्घकारायण क्षमा न कर सका और उसने उसका घातक प्रतिकार लिया। अपने कौशल से उसने विरुद्धक को प्रसेनजित् के विरुद्ध भड़ाकाया और विद्रोह करा दिया। फलतः विरुद्धक ने सिंहासन प्राप्त किया और प्रसेनजित् दुखी होकर मर गया।

वत्स

वत्स की राजधानी कोशाम्बी थी और वहाँ का शासक उदयन था। उदयन के जन्म और जीवन के सम्बन्ध में अनेक काव्य-कथाएँ मिलती हैं। उदयन के माता-पिता के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। उन सभी मतों का समन्वय करने पर जान पड़ता है कि उसके पिता का नाम परन्तप शतानीक था; माता बिंबसार की पत्नी विदेह-कुमारी छलना की बहन मृगावती थीं। उदयन के जन्म के विषय में बड़ी मनोरंजक कथाएँ प्राप्त होती हैं। कथासरित्सागर में वर्णित कथा इस प्रकार है––शतानीक और मृगावती कोशाम्बी में रहा करते थे। उन्हें तिलोत्तमा अप्सरा ने वियोग होने का शाप दिया था। एक दिन जब मृगावती गर्भवती थी शतानीक ने उससे दोहद पूछा। मृगावती ने रक्त भरे कुंड में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। राजा ने उसकी इच्छा पूरी करने के लिए एक भारी जलकुंड में रक्तवर्ण का जल भरवाया और उसमें रानी ने स्नान किया। जब वह स्नान करके बाहर निकली तो एक आकाशचारी पक्षी ने मृगावती के रक्त से सने शरीर को खाद्यवस्तु समझा और झपट कर उठा ले भागा और उदयाद्रि नामक एक पर्वत पर ले जाकर रख दिया। वहाँ रहनेवाले जमदग्नि नामक ऋषि ने उसकी रक्षा की और वहीं उदयन का जन्म हुआ। उसमें यह भी लिखा हुआ है कि एक सर्प को बचाने के कारण उदयन को तीन अमूल्य वस्तुएँ––वीणा, तांबूली और अम्लान माला प्राप्त हुई और अन्त में चमत्कारपूर्ण ढंग से पिता पुत्र का मिलन हुआ।

बौद्ध साहित्य में इस कथा में थोड़ा परिवर्तन है। उसमें लिखा है कि परन्तप ने अपनी गर्भवती रानी को एक लाल दुशाला ओढ़ा दिया और उसके हाथ में एक अमूल्य अंगूठी पहना दी। उसी समय आकाश से हत्तिलिंग नामक पक्षी उड़ता हुआ आया और उसे उठा ले गया और ले जाकर एक बट वृक्ष पर रख दिया और स्वयं विश्राम करने लगा, इतने में मृगावती सहायता के लिए चिल्लायी और हत्तिलिंग भय से भाग गया। उसी वृक्ष पर उदयन का जन्म हुआ। वृक्ष के नीचे एक ऋषि रहते थे। उन्हीं से, इस बालक ने, जिसका नाम उदयन पड़ा, गजवशीकरण विद्या प्राप्त की। तत्पश्चात् वश किये हुए हाथियों तथा उस लाल दुशाले और अंगूठी की सहायता से उसने पिता का राज्य प्राप्त किया। एक अन्य कथा के अनुसार पक्षी शतानीक के पत्नी को उठा लेकर गया और उसकी रक्षा एक मुनिकुमार ने किया। रानी उन्हीं मुनिकुमार के यहाँ रहने लगी। बहुत दिनों तक इसी प्रकार साथ रहते रहते मुनि से उसका स्नेह हो गया और उसी से वह गर्भवती हुई और उदयन का जन्म हुआ।

उदयन की पत्नियाँ

उदयन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त जो कुछ मिलता है वह उसकी प्रेम कथाएँ हैं। कथासरित्सागर, भासकृत स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण, श्रीहर्ष कृत रत्नावली और प्रियदर्शिका में इसका पर्याप्त उल्लेख है। कथासरित्सागर में उदयन की तीन पत्नियाँ बतायी गयी हैं—वासवदत्ता, बन्धुमती और पद्मावती। श्रीहर्ष उसकी दो अन्य पत्नियों का उल्लेख करता है—अंग देशकी राजकुमारी प्रियदर्शिका तथा सिहलकी राजकुमारी रत्नावली। बौद्ध साहित्य में उसकी दो रानियों—शोभावती और माकन्दिका अथवा मागन्धी का उल्लेख मिलता है। जैन ग्रन्थों में उसकी पत्नियों का नाम वासवदत्ता, पद्मावती, वसुदत्ता और सुवीणा बताया गया है। उदयन के वस्तुतः कितनी रानियाँ थीं, कहा नहीं जा सकता।

इन नामों में सबसे अधिक महत्व वासवदत्ता को दिया जाता है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह अवन्ती के शासक चण्डप्रद्योत की पुत्री थी। उदयन और वासवदत्ता के विवाह की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—अवन्तिराज चण्डप्रद्योत ने उदयन को छल से बन्दी बना लिया और उसे वासवदत्ता को वीणा सिखाने का कार्य सौंपा। शनैः शनैः उदयन और वासवदत्ता में प्रेम हो गया और एक दिन उदयन ने अपने मन्त्री यौगन्धरायण की सहायता से वासवदत्ता का हरण कर लिया। प्रद्योत को जब यह बात ज्ञात हुई तब वह उदयन का विरोधी हो गया। पीछे अपने पुत्र गोपालक को भेज कर उसने उन दोनों का विवाह करा दिया।

पद्मावती मगध की राजकुमारी थी। उसके पिता के नाम के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। उसके विवाह की कथा इस प्रकार बतायी जाती है—जिस समय उदयन शिकार खेलने के लिए लावाणक गया हुआ था, यौगन्धरायण ने गुप्त रूप से वासवदत्ता को हटा कर अन्तःपुर में आग लगवा दी और यह प्रकट किया कि उस आग में वासवदत्ता भी जल मरी। उदयन को भी यही समाचार दिया गया। उदयन को अपत्नीक जान कर मगधराज ने विवाह की बात चलायी और पद्मावती से उसका विवाह करा दिया। पश्चात् यह भेद खुला और उदयन वासवदत्ता का पुनर्मिलन हुआ। यह षड्यन्त्र राजनीतिक हित साधन के लिए किया गया था। वत्स को अपनी खोयी हुई शक्ति बढ़ाने के लिए मगध की मैत्री अपेक्षित थी।

उदयन की तीसरी पत्नी बन्धुमती को, जिसका उल्लेख कथासरित्सागर में हुआ है, वासवदत्ता का भाई गोपालक पराक्रम से हरण कर लाया था और अपनी बहन को सौंप दिया था। एक दिन लतागृह में बन्धुमती से उदयन की भेंट हुई और उसने उससे गन्धर्व विवाह कर लिया। इसपर वासवदत्ता बहुत क्रुद्ध हुई और बन्धुमती को कारा में भेज दिया पर बाद में उन दोनों में मेल हो गया। समझा जाता है कि हर्ष ने इसी बन्धुमती को अपने नाटकों में रत्नावली और प्रियदर्शिका के नाम से चित्रित किया है। उसके दोनों नाटकों की कथावस्तु इसी घटना से मिलती जुलती है, इसी के कारण ऐसा अनुमान होता है।

बौद्ध साहित्य में उदयन की पत्नियों में शोभावती और अनुपमा का उल्लेख है। शोभावती के सम्बन्ध में लिखा है कि एक दिन उदयन ने अपने प्रासाद के बाहर बैठी हुई तरुणी शोभावती को देखा। देखते ही उस पर मोहित हो गया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह कोशाम्बी के सेठ घोषित की पोषित कन्या है। उदयन ने उससे विवाह कर लिया और वह पट्टमहिषी हो गयी। वह भगवान बुद्ध की भक्त थी और उनके लिए वह सब कुछ करने को तैयार रहती थी। उसके आगे उदयन की भी कुछ नहीं चलती थी। वह अनुपमा के षड्यन्त्र से जला दी गयी।

वासवदत्ता का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित है। कोशाम्बी से कुछ मृण्णफलक ऐसे मिले हु जिनपर उसके अपहरण की कथा अंकित है। ये फलक ईसापूर्व दूसरी शती के हैं। फिर भी बौद्ध साहित्य उसके सम्बन्ध में मौन है। अतः कुछ विद्वानों की धारणा है कि वासवदत्ता का नाम ही शोभावती रहा होगा। दोनों का उल्लेख पटरानियों के रूप में हुआ है, दोनों के चारित्रिक स्वरूप में समानता है। उदयन की अनुपस्थिति में दोनों के अग्नि में जलने का उल्लेख है। अंतर केवल इतना ही है कि एक में उसका जल मरना यौगन्धरायण की नीति का परिणाम है जो दिखावटी है; दूसरे में विपत्नी के षड्यन्त्र का फल; किन्तु यह अन्तरकथा की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखता।

अनुपमा नामक दूसरी पत्नी माकन्दिक नामक एक परिव्राजक की पुत्री थी, इस कारण उसका नाम माकंदिका भी था। कहीं-कहीं उसे मागन्धी नाम भी दिया गया है। उसके पिता उसका विवाह भगवान बुद्ध से करना चाहते थे, पर उन्होंने इस प्रस्ताव का तिरस्कार कर दिया। पश्चात् वह अपनी पुत्री को लेकर कोशाम्बी आया और उदयन से उसकी भेंट एकान्त स्थान में हुई और उसके रूप पर मुग्ध होकर उदयन ने उससे गंधर्व विवाह कर लिया। माकन्दिक मन्त्री बना दिया गया। अनुपमा शोभावती से बहुत जलती थी, उसने उदयन की अनुपस्थिति में शोभावती के प्रासाद में छल से आग लगा दी। उदयन को जब इस षड्यन्त्र का पता चला तब उसने क्रुद्ध होकर माकन्दिक और अनुपमा को इसी प्रकार जला देने की आज्ञा दी, परन्तु यौगन्धरायण की युक्ति से वे दोनों बच गये। माकन्दिक अर्थात् अनुपमा का वर्णन बहुत कुछ बन्धुमती के वर्णन से मिलता जुलता है। बन्धुमती की कथा विस्तार के साथ कथासरित्सागर में नहीं दी गयी है, नहीं तो इस बात के जांचने में सहायता मिलती। अभी जो तथ्य सामने है उससे बन्धुमती और माकन्दिका दोनों एक से ही जान पड़ते हैं; अन्तर केवल इतना है कि एक राजपुत्री है और दूसरी परिव्राजक-पुत्री। पर इसको कुछ महत्व दिया जा सकता है या नहीं, यह संदिग्ध है। इसी प्रकार जैन साहित्य की वसुदत्ती भी बन्धुमती ही जान पड़ती है। यद्यपि कथा में समानता और अन्तर दोनों है।

जो हो उदयन की पत्नियों के सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उसकी तीन पत्नियां—वासवदत्ता, पद्मावती और बन्धुमती थीं। बन्धुमती के ही रत्नावली, प्रिदर्शिका, वसुदत्ती, अनुपमा, माकन्दिका, मागन्धी आदि अनेक नाम रहे होंगे। इन पत्नियों की चर्चा हमने इतने विस्तार के साथ इसलिए की कि नाटक के कथावस्तु पर उनका जो प्रभाव है, उसे अच्छी तरह समझा जा सके।

बुद्धके शिष्य

उपर्युक्त राजवंशों और व्यक्तियों के अतिरिक्त इस काल से सम्बन्ध रखनेवाले भगवान बुद्ध के कुछ शिष्य भी हैं। इनमें मुख्य रूप से तीन व्यक्तियों का नाम लिया जा सकता है। पहले हैं आनन्द। आनन्द भगवान बुद्ध के चचेरे भाई थे अर्थात् राजा शुद्धोधन के भाई अमितोदन के पुत्र थे और उनका भी जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन भगवान बुद्ध का। आनन्द भगवान बुद्धके प्रिय शिष्यों में से थे और उनके अंतिम दिनों में वे ही उनके साथी और सेवक थे। धर्म के सम्बन्ध में उनका गम्भीर अध्ययन था। बौद्धधर्म के प्रमुख प्रचारकों में उनकी गणना की जाती है। भगवान बुद्ध के दूसरे शिष्य सारिपुत्र थे। उनका मूल नाम उपतिस्स था। उनके पिता वणगंत नामक ब्राह्मण थे और उनकी माता का नाम रूपसारी था। भगवान बुद्ध उन्हें अपने शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ मानते थे और अपने बाद उन्हीं की मर्यादा स्थापित की थी। सारिपुत्र के बाद भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में महामौग्गलायन थेर का प्रमुख स्थान था। मौग्गलायन का जन्म राजगृह के निकट कोलित ग्राम में हुआ था। उनका जन्म उस ग्राम के ब्राह्मण मुखिया के घर हुआ था और उनकी माता का नाम मोग्गली था। मोग्गलायन और सारिपुत्र के परिवारों में कई पीढ़ी से घनिष्टता चली आ रही थी, इस कारण इन दोनों बौद्ध शिष्यों में अभिन्न मैत्री थी। ये दोनों ही भगवान बुद्ध से आयु में बड़े थे।

आम्रपाली

भगवान बुद्ध की शिष्याओं में आम्रपाली का उल्लख विशेष रूप से बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। वह वशाली की गणिका थी। वैशाली के राजकुमार उसके प्रेमी थे। उसके प्रेमी के रूप में मगधनरेश बिंबसार का भी नाम पाया जाता है। आम्रपाली का पुत्र जीवक, जिसकी ख्याति मगध के चिकित्सक के रूप में विशेष है बिंबसार से जन्मा बताया जाता है। अपने जीवन के अंतिम काल में आम्रपाली भगवान बुद्ध से दीक्षित हुई थी। भगवान बुद्ध को वैशाली के निकट कोटिग्राम में आया सुन कर वह अपनी परिचारिकाओं के साथ उनके पास गयी और अपने यहां भोजन के लिए निमन्त्रित किया। दूसरे दिन भगवान बुद्ध उसके यहां भोजन करने गये। विदाई के समय उसने अपना उद्यान उन्हें भेंट किया। उस समय गणिकाएँ आज की तरह हेय दृष्टि से नहीं देखी जाती थीं। उनका समाज में विशिष्ट स्थान था। जिस प्रकार वशाली में आम्रपाली की ख्याति थी उसी प्रकार काशी में सामावती की प्रसिद्धि थी। दोनों ही गणिकाएँ समकालीन थीं और दोनों का सम्बन्ध इसी काल से है।

काल्पनिक पात्र

प्रसाद ने इन्हीं व्यक्तियों को अपने नाटक--अजातशत्रु का पात्र बनाया है। बिंबसार-अजातशत्रु, प्रसेनजित-विरुद्धक, बुद्ध-देवदत्त और उदयन-पद्मावती का पारस्परिक वैमनस्य ऐतिहासिक तथ्य हैं। इन्हीं विरोधों के चारों ओर इस नाटक के कथावस्तु की रचना की गयी है और उसके संयोजन में उन सभी ऐतिहासिक व्यक्तियों का उपयोग किया गया है, जिनका ऊपर परिचय दिया गया है। विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं को, जो स्वतः अपने

में पूर्ण हैं, एक सूत्र में आबद्ध करने के प्रयत्न में उन्होंने अपनी कल्पना का मुक्त रूप से प्रयोग किया है। यद्यपि इस नाटक में अपेक्षाकृत कल्पित पात्र कम है, तथापि जो ऐतिहासिक पात्र हैं उनमें से कुछ का स्वरूप काल्पनिक हो गया है। इस नाटक में प्रसाद की सबसे बड़ी कल्पना यह है कि उन्होंने तीन स्वतंत्र ऐतिहासिक व्यक्तियों को एक में समेट लिया है। उदयन की पत्नी बन्धुमती अर्थात् माकन्दिका या मागन्धी, काशी की वेश्या सामावती और वैशाली की गणिका आम्रपाली, तीनों का इतिहास में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा है, इन तीनों में परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। इस ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध नाटक के विकास के नाम पर और कौतुक उत्पन्न करने के लिए, उन तीनों को मागन्धी नामक एक पात्र के रूप में समेट लिया गया है। आरम्भ में वह उदयन की पत्नी मागन्धी अथवा अथवा माकन्दिका के रूप में प्रस्तुत की गयी है, वही बाद में चलकर सामावती अर्थात् श्यामा नामक वेश्या बन जाती है और अन्त में आम्रपाली के रूप में भगवान बुद्ध के शरण में आती है। इस प्रकार की स्वच्छन्दता कुछ अन्य घटनाओं के साथ भी बरती गयी है।

कथावस्तु

इन कल्पनाओं के सहारे नाटक की कथावस्तु का स्वरूप इस प्रकार स्थिर किया गया है—

मगध शासक के दो पत्नियां हैं। एक है—कोसलनरेश प्रसेनजित् की बहन वासवी, जो बड़ी महारानी हैं और पद्मावती की मां हैं। पद्मावती का विवाह कोशाम्बी के राजा उदयन से हुआ है। बिंबसार की छोटी महारानी लिच्छवि-कुमारी छलना है। उसे राजकुमार अजातशत्रु की माता होने का गौरव प्राप्त है। छलना वासवी के प्रति सपत्नी का द्वेष रखती है। इस कारण वह पद्मावती और वासवी का अपमान करती है और उलटे बिंबसार के पास जाकर वासवी पर अपमान करने का आरोप करती है और सम्राट से अजातशत्रु का राज्याभिषेक करने का आग्रह करती है। इसी बीच भगवान बुद्ध आ जाते हैं और बिंबसार से अजातशत्रु को राज्यभार सौंपकर इस भीषण भोग से विश्राम लेने की सलाह देते हैं। बिंबसार पहले संकोच करते हैं पर जब भगवान बुद्ध भौतिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं तो वह राज्य त्याग करने को तैयार हो जाते हैं और वासवी के साथ अलग एकांत में रहने लगते हैं। अजातशत्रु के शासन में राजमाता छलना और देवदत्त का प्रधान हाथ रहता है। देवदत्त संघ से अलग होकर भगवान बुद्ध के बढ़ते हुए प्रभाव को नष्ट करने की ओर सचेष्ट होता होता है और चाहता है कि बिंबसार राजगृह से दूर चले जांय क्योंकि उनके रहते भगवान बुद्ध का मगध से प्रभाव नहीं हट सकता। बिंबसार अपनी नयी अवस्था में निर्धन से हो गये हैं। याचकों के लौट जाने पर उन्हें दुःख होता है। ऐसी अवस्था में वासवी कहती है कि काशी राज्य मुझे मेरे पिता ने आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये। और वह जीवक से काशी का राजस्व प्रप्त करने का उद्योग करने को कहती है। जीवक काशी के दंडनायक से मिलता हुआ कोशाम्बी जाता है। वहां उसे ज्ञात होता है कि उदयन नयी रानी मागन्धी के वशीभूत है और रानी पद्मावती से असन्तुष्ट है और उसके

भवनमें नहीं जाता। जब जीवक उससे मिलने गया तो उससे भी अच्छी तरह नहीं बोला और बिंबसार की अवस्था सुनकर भी उस पर कोई मत नहीं प्रकट किया। पद्मावती जीवक की को वापस जाने की सलाह देती है और अपने विरुद्ध किसी षड्यन्त्र की आशंका प्रकट करती है। जीवक कोशाम्बी से कोसल जाता है। उसके कोसल पहुँचने से पहले ही प्रसेनजित को सुदत्त से अजातशत्रु द्वारा बिंबसार के तिरस्कृत किये जाने का समाचार मिलजाता है। प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक अजातशत्रु के कार्य का समर्थन करता है जिससे प्रसेनजित असन्तुष्ट हो जाता है और उसे निकाल देता हैं। जीवक के पहुँचने पर प्रसेनजित अपने मन्त्री को काशी की प्रजा को सूचित करने का आदेश देता है कि वे अपना कर वासवी को प्रदान करें। कुमार विरुद्धक बन्धुल की पत्नी मल्लिका पर आसक्त है, किन्तु वह उसे तिरस्कृत करती है और कोसल में भी वह कंटक के समान समझा जाता है। इससे वह हताश सा है। पर उसकी मां उसे प्रोत्साहित करती है और वह प्रोत्साहन पाकर प्रतिशोध के लिए कटिबद्ध होता है।

उधर कोशाम्बी में पद्मावती के विरुद्ध षड्यन्त्र होता है। वीणा में सांप का बच्चा रखकर उदयन पर यह प्रभाव डालने का यत्न किया जाता है कि पद्मावती उसकी हत्या करना चाहती थी। उदयन इस पर क्रुद्ध हो जाता है। जिस समय पद्मावती भगवान बुद्ध को राजमार्ग से जाते देखने के लिए खिड़की पर आती है, उदयन आकर उसपर बुद्ध के प्रति वासना भाव का आरोप करता है और मारने के लिए तलवार निकालता है। पद्मावती अपने को निर्दोष कहती हुई भी दंड ग्रहण करने को तैयार हो जाती है। इसी बीच वासवदत्ता आकर रोकती है और कहती कि इस तरह मेरे इस राजमंदिर में आपको हत्या करने का अधिकार नहीं है। यहां अपराध और अपराधी का विचार भी मैं करूंगी। मागन्धी की दासी नवीना ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है। वासवदत्ता दासी को आदेश देती है कि मागन्धी और नवीना को बुलाया जाय। इतने में दासी राजमहल में आग लगने की सूचना देती है। उदयन की समझ में षड्यन्त्र आ जाता है और वह पद्मावती से क्षमा मांगता है। मागन्धी के महल में में आग की लपटें दिखाकर प्रथम अंक समाप्त हो जाता है।

दूसरा अंक

दूसरे अंक का आरम्भ अजातशत्रु की राजसभा से होता है। समुद्रदत्त आकर सूचित करता है कि काशी की प्रजा राजकर देने से इनकार कर रही है। अजातशत्रु को इसमें अपनी विमाता का व्यंगस्वर जान पड़ता है और वह उसका प्रतिकार करने की बात सोचता है। इतने में देवदत्त का प्रवेश होता है। अजातशत्रु उसे काशी की प्रजा में विद्रोह के भाव जगने का समाचार सुनाता है। देवदत्त उसे गौतम का षड्यन्त्र कहता है और स्वयं उसके साथ प्रतिद्वन्दिता करने की बात करता है। स्थिति पर विचार करनेके लिए अजातशत्रु परिषद् बुलाने का आदेश देता है। इतने में विरूद्धक का पत्र लेकर कोशल से एक गुप्त अनुचर आता है। उस पत्र को पढ़कर अजातशत्रु और देवदत्त प्रसन्न होते हैं और सुयोग का अनुभव करते हैं। परिषद के सभ्य एकत्र होते हैं और देवदत्त परिषद से निश्चय करा लेता है कि साम्राज्य का सैनिक अधिकार अपने हाथ में लेकर सेनापति के रूप में कोसल

के साथ विग्रह और उसका दमन करने के लिए सम्राट् अर्थात् अजातशत्रु को अग्रसर होना चाहिये और परिषद की देखरेख महारानी छलना करें तथा बिंबसार और वासवी पर गुप्त रूप से नियन्त्रण रखा जाय'।

प्रसेनजित बन्धुल को काशी का सामन्त बनाकर भेजता है। विरुद्धक उसके पास आता है और बताता है कि कोसलनरेश उसकी वीरता से आतंकित हैं इसलिए सम्मानस्वरूप नहीं, वरन् षड्यन्त्र के रूप में उसे काशी का सामन्त बनाकर भेजा जा रहा है ताकि उसका अस्तित्व रह न जाय। विरुद्धक इसके साथ ही अपने को साहसिक बताता है और बन्धुल उसे बन्दी बनाना चाहता है। तब विरुद्धक अपना परिचय शैलेन्द्र नामक सुप्रसिद्ध साहसिक के रूप में देता है और तलवार खींचता हुआ चला जाता है। मार्ग में उसे श्यामा नामक वेश्या मिलती है। उसके स्वगत भाषण से ज्ञात होता है कि वह मागन्धी है, जिसके कोशाम्बी राजमहल में जल मरने की बात प्रचलित है। श्यामा विरुद्धक उर्फ शैलेन्द्र पर मोहित है और वह उसके प्रणय भिक्षा मागने आयी है। शैलेन्द्र उस पर विश्वास करता है और उसके साथ जाता है। विरुद्धक की माता महामाया बन्धुल की पत्नी मल्लिका के पास आती है और उसे सूचित करती है कि बन्धुल की वीरता से महाराज को आतंक हो गया है और उन्होंने शैलेन्द्र डाकू के नाम आज्ञा पत्र भेजा है कि यदि वह बन्धुल का वध कर डालेगा तो उसके पिछले सब अपराध माफ कर दिये जायगे। मल्लिका को अपने पति की वीरता पर विश्वास है। वह कहती है कि यदि शलेन्द्र प्रकट रूप से युद्ध करेगा तो उसका पति उसे अवश्य बन्दी कर लेगा। वह अपने पति से लौट आने को कहकर राजभक्ति के प्रति विद्रोह नही कर सकती। मल्लिका गर्व के साथ महामाया से यह बात करती है। आगे के दृश्य में श्यामा के स्वगत से ज्ञात होता है कि बन्धुल छल से मारा गया और शैलेन्द्र घायल होकर बन्दी हुआ। वह उसके बचाने का उपाय सोचती है। इतने में समुद्रदत्त उसके पास आता है। वह समुद्रदत्त के लिए विश्राम की व्यवस्था करती है। उसी समय उसे सूचना मिलती है कि दण्डनायक शैलेन्द्र को बिना किसी लालच के छोड़ने को तैयार है यदि उसके स्थान पर कोई आदमी मिल जाय क्योंकि सेनापति की हत्या हो गयी है और शैलेन्द्र के पकड जाने का समाचार भी चारों ओर फल गया है। इसलिए उसके स्थान पर शूली पर चढ़ाने के लिए कोई न कोई आदमी आवश्यक है। यह आदमी रातोरात शूली पर चढ़ा दिया जायगा क्योंकि किसी ने उसे पहचाना नही है। श्यामा समुद्रदत्त को अपना शिकार बनाती है और कहती है कि मेरा एक सम्बन्धी किसी अपराध में बन्दी हुआ है। यदि दंडनायक के पास रातभर में हजार मोहरे पहुंच जायेंगी तो वह उसे छोड देगा। समुद्रदत्त उसकी बातों में आ जाता है और वेश बदल कर मोहरें ले जाने को तैयार हो जाता है। श्यामा उसे बलि का बकरा बनाकर भेज देती है।

मल्लिका को अपने पति बन्धुल के मरने का समाचार मिलता है। वह उसे अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण करती है। सारिपुत्र मौद्गलायन उसके यहा आमन्त्रित है। एसी अवस्था मे भी उनके सत्कार की व्यवस्था कर्त्तव्य मान करती है और तनिक भी विचलित नहीं होती। उसके इस व्यवहार से सारिपुत्र और आनन्द दोनों बहुत प्रभावित होते हैं। इसी बीच प्रसेनजित को अपने किये पर पाश्चाताप होता है, और वह बन्धुल की हत्या के अपराध

के लिए मल्लिका से क्षमा मांगने आता है। वह विनम्र होकर उनसे किसी प्रकार के कटु वाक्य न कहकर अपने को ही उनके राज्य से हट जाने की इच्छा प्रकट करती है।

अगले दृश्य में नाटककार हमें फिर पाटलिपुत्र ले जाता है। वहां छलना बिंबसार और वासवी के पास यह समाचार लेकर आती है कि कोसल सेनापति बन्धुल के मारे जाने से जिस समय सेना घबरायी हुई थी, उसी समय अजातशत्रु ने उसपर आक्रमण कर दिया और वह विजयी हुआ। काशी पर अधिकार हो गया। वह स्वयं इस समाचार को इसलिए कहने आती है कि वह **वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर लक्ष्य** कर सके। इसी समय जीवक आकर बिंबसार को मागन्धी के षड्यन्त्र खुल जाने और पद्मावती को पूर्ववत् गौरव प्राप्त हो जाने का हर्ष समाचार देता है। वह यह भी बतलाता है कि विरुद्धक ही शैलेन्द्र है और उसने अजातशत्रु के साथ मिलकर बन्धुल को मार डाला। महाराज प्रसेनजित घायल होकर रणक्षेत्र से लौट गये। अगले दृश्य में मल्लिका और दीर्घकारायण की बातचीत से प्रकट होता है कि दीर्घकारायण ने जानबूझ कर कोसल सेना को पराजित होने दिया।

मल्लिका की कुटी में घायल प्रसेनजित की सुश्रुषा होती और वह स्वस्थ होकर श्रावस्ती जाता है। प्रसेनजित मल्लिका के उपकारों से विनत होकर उसके पैरों पर गिरता है और दीर्घनारायण को अपना सेनापति बनाने की आज्ञा चाहता है। प्रसेनजित के मल्लिका की कुटी से चले जाने के पश्चात् गुप्तचर से प्राप्त सूचना के आधार पर उसे खोजता हुआ अजातशत्रु आता है। मल्लिका से उसकी वार्ता होती है और वह उससे प्रभावित होकर यह कह कर जाता है कि **अब कोसल पर आक्रमण नहीं करूँगा**।

शैलेन्द्र श्यामा के साथ श्रावस्ती के एक उपवन में दिखायी पड़ता है। शैलेन्द्र उससे ऊब चुका है। उसे अपने कर्त्तव्यपथ में बाधक समझता है; गला घोट कर उसकी हत्या कर डालता है और उसके आभूषण लेकर भाग जाता है। इतने में आनन्द के साथ गौतमबुद्ध आते हैं और श्यामा के शव को देखकर उसे उठा ले चलने को कहते हैं। आनन्द उसका विरोध करते हैं कि उसे विहार में ले चलने से कलंक लगेगा और प्रतिद्वन्दी लाभ उठायेंगे। पर भगवान बुद्ध उन्हें उपदेश देते हुए कहते हैं कि **करुणा का आदेश कलंक के डर से भूल जाओगे? वह मरी नहीं है**। और वे उसे उठाकर विहार में ले जाते हैं। विहार में ले जाने के पश्चात् चारों ओर जनता में यह प्रचार हो जाता है कि गौतम बुद्ध ने उसे मार डाला। इस हत्या में उनकी ही कोई बुरी इच्छा थी। पर इस बीच श्यामा जीवित हो जाती है और सारी बातें स्पष्ट हो जाती है और लोग गौतम की सराहना करने लगते हैं।

दीर्घकारायण ने कोसल का सेनापतित्व तो स्वीकार कर लिया है फिर भी अभी उसके हृदय में अपने मातुल के प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही है। रानी शक्तिमती उसकी इस भावना पर चोट करती है और उसके लिए चेष्टा करने के लिए उभारती है। विरुद्धक से उसे गुप्त सैन्य संघटन के लिए धन प्राप्त होता है और शक्तिमती भी उसे सहायता देने की बात कहती है। कारायण कहता है कि **कुछ सेना अपनी निजकी भी प्रस्तुत कर लेता हूँ जो राजसेना से बराबर मिली-जुली रहेगी और काम के समय हमारी आज्ञा मानेगी**। किन्तु जब रानी कहती है कि **कोशाम्बी और कोसल की सेना मिलकर अजातशत्रु**

पर आक्रमण करेगी उस समय तुम क्या करोगे ? तो करायण कहता है कि **मगध पर आक्रमण करूँगा और अजातशत्रु को बन्दी बनाऊँगा। घर कीबात घर में निपटेगी।** कोसल और कोशाम्बी मिलकर मगध पर आक्रमण करना चाहते हैं या बात जीवक और बसन्तक की बात से और स्पष्ट हो जाती है।

छलना अजातशत्रु के पास आकर उसे अकर्म्मण्यता के लिए धिक्कारती है। अजातशत्रु युद्ध की भीषणता की बात कहता है तो छलना उसे कायर बताती है। इसी समय देवदत्त कोसल और कोशाम्बी की संयुक्त सेना के मगध की ओर बढ़ने का समाचार देता है। इस बातचीत के बीच विरुद्धक आता है और अजातशत्रु के साथ मिलकर अपने पिता की सेना के विरुद्ध लड़ना चाहता है। वह खड्ग लेकर शपथ करता है कि वह कोशाम्बी की सेना पर आक्रमण करेगा। कारायण उसकी ओर मिला हुआ है इस कारण कोसल सेना निर्बल है, उस पर अजातशत्रु आक्रमण करे। दोनों मिलकर युद्ध में जाते हैं।

तीसरा अंक

तीसरे अंक के प्रारम्भ के साथ हमें पता चलता है कि अजातशत्रु बन्दी हुआ। छलना इसका दोष देवदत्त को देती है और दोनों में अच्छी खासी झड़प हो जाती है और छलना देवदत्त के कुकृत्यों का उद्घाटन करती है। इतने में वासवी आती है। उसे देखकर छलना का सहपत्नीत्व जाग उठता है और वह उससे कहती है कि **अजात् के बन्दी होने से तो तुम्हारा हृदय संतुष्ट हुआ।** वासवी जब कहती है कि **अजात् के बन्दी हो जाने से मुझे सुख मिला, यह बात तुम्हारे मुख से कैसे निकली** ? **क्या वह मेरा पुत्र नहीं है** ? तो छलना उसे डायन आदि बनाती है और उसका हृदय निकाल लेने की बात कहती है। वासवी कहती है **इसका मुझे डर नहीं है।** पर साथ ही चेतावनी देती है कि **कोसल के लोग जब मेरी यह अवस्था सुनेंगे तब अजात को शीघ्र मुक्त कर देने के बदले कोई दूसरा काण्ड उपस्थित न करेंगे।** इसलिए वह एक बार अजात को लाने के लिए वह अनिच्छा से भी कोसल जाना चाहती है। छलना उसकी इस बात को निकलकर बच भागने का बहाना समझती है। पर वासवी उसे समझाती है कि वह केवल विवाद मिटाने के लिए जाना चाहती है। छलना के इस बात के लिए प्रमाण मांगने पर वह प्रमाण के रूप में वह आर्यपुत्र को देती है। छलना का मातृत्व जागता है और वह रोने लगती है और कुणिक की भीख मांगती है। उसे अपने कुकृत्य पर पश्चाताप होता है।

दूसरे दृश्य में नाटककार हमें कोसल के राजमहल से लगे बन्दीगृह में ले जाता है। वहां कोसल राजकुमारी वाजिरा अजातशत्रु पर मोहित दिखायी पड़ती है। अजातशत्रु से उसकी बातें होती हैं और वह अपने को अजातशत्रु को समर्पित कर देती है। इतने में सेनापति कारायण आ जाता है और इस प्रेम लीला के लिए दोनों से प्रश्न करता है। वहीं प्रकट होता है कि कारायण ने वाजिरा के कारण ही युद्ध में भाग लिया। वाजिरा उसे डाटती है और अजातशत्रु उसे द्वन्द युद्ध के लिए ललकारता है। युद्ध किसी दूसरे समय के लिए टाल दिया जाता है। वाजिरा अपने आत्मसमर्पण की बात उससे कह देती है। इन सब के चले जाने पर वासवी के साथ प्रसेनजित आता है और अजातशत्रु बन्दीगृह

से मुक्त होता। अजातशत्रु वासवी को मां कहकर पुकारता है और अपमान करने के लिए क्षमा मांगता है।

मल्लिका अपनी कुटी में रख कर घायल विरुद्धक की सेवा करती है। उसका वह मनमाना अर्थ लगाता है। मल्लिका इसके लिए उसे सचेष्ट करती है। विरुद्धक कहता है कि पिता ने जब तुमसे मेरा व्याह करना स्वीकार नहीं किया उसी समय से मैं विरुद्ध हुआ उसका परिणाम यह है। मल्लिका उसे बताती है कि उसने धर्म समझ कर ही उसके कलंक जीवन को बचाया है, और इसलिए बचाया है कि पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित करे। इसी बीच श्यामा आती है और उस पर विश्वासघात और हत्या का आरोप करती है। मल्लिका विरुद्धक की भर्त्सना करती है और श्यामा को अपनाने को कहती है पर श्यामा इनकार कर देती है और मल्लिका की सेवा से ही सन्तुष्ट रहना चाहती है। मल्लिका विरुद्धक से कोसल लौट जाने को कहती है और श्रावस्ती जाकर प्रसेनजित से अपराध क्षमा करा देने की बात कहती है। फलतः श्यामा को अपने आश्रम पर छोड़ वह विरुद्धक के साथ श्रावस्ती जाती है।

कारायण वाजिरा के न मिलने से दुखी होता है। उसकी रानी शक्तिमती से बातचीत होती है। उस समय वह कहता है हम इधर से भी गये और उधर से भी गये। विरुद्धक को भी मुंह दिखाने लायक नहीं रहे और वाजिरा भी नहीं मिली। शक्तिमती उसको कुछ उत्तेजित करती है और कुछ उपहास——**जब मगध के युद्ध में मैंने तुम्हें सचेत किया था। तब तुम धर्मध्वज बन गय थ और हमारे बच्चे को धोखा दिया. . . . . . तुम इतने डरपोक हो और सहनशील दास हो, मैं ऐसा नहीं समझती थी। जिसन तुम्हारे मातुल का वध किया, उसी की सेवा करके अपने को धन्य समझ रहे हो। तुम इतने कायर हो यदि मैं पहले जानती** कारायण उसकी बातों से उत्तेजित होता है पर वह उत्तेजना हिंसात्मक नहीं हो पाती। वह शक्तिमती की निर्बलताओं पर ही आघात करता है और एक प्रकार से उसे विचारक बना देता है। इतने विरुद्धक और मल्लिका आ जाते हैं। और सब परस्पर अपने किय पर क्षमा मांगते हैं।

पाँचवें दृश्य म वर-वधू रूप में अजातशत्रु और वाजिरा दिखाई पड़ते हैं उनके साथ प्रसेनजित, मल्लिका , विरुद्धक, वासवी और कारायण सामने आते हैं। मल्लिका इस शुभ अवसर पर प्रार्थना के रूप में शक्तिमती के परित्याग के औचित्य का प्रश्न उठाकर उसको ग्रहण करने पर विवश करती है , विरुद्धक को क्षमा दिलाती है। इसी अवसर पर भगवान बुद्ध आते हैं और मनुष्य मनुष्य के बीच ऊँच-नीच भावना को दम्भ बताते हुए विरुद्धक को युवराज बनाने को कहते हैं और प्रसेनजित उसे स्वीकार करते हैं। आगे के दृश्य से हमें ज्ञात होता है कि देवदत्त सरोवर में जल पीने उतरा फिर ऊपर नहीं आया। या तो उसने आत्महत्या करली या उसे कोई ग्राह पकड़ ले गया। यहीं बसन्तिक के मुंह से सुनायी पड़ता है कि मागन्धी आम की बारी लेकर बेचा करती है। अर्थात् मागन्धी आम्रपाली के रूप में प्रस्तुत की जाती है। उसके आम्रकानन में भगवान बुद्ध आते हैं। उसे उपदेश देते हैं। फिर उससे कुछ खाने को मांगते हैं और वह आम्रकानन को संघ को सौंप देती है।

आठवें दृश्य में पद्मावती छलना से अपने कुकृत्य पर लज्जा प्रकट करती है और वासवी के प्रवेश करने पर उसके पैरों पर गिर पड़ती है। उसके बाद वार्तालाप मनोविनोद का रूप ले लेता है। नवें दृश्य में कुणिक अर्थात् अजातशत्रु अपने पिता बिंबसार के पास आता है और क्षमा चाहता है। छलना भी आकर क्षमा चाहती है। वासवी भी क्षमा करने को कहती है। पद्मावती भी आकर क्षमा की बात कहती है। और इस प्रकार का नाटक का अन्त होता है।

कथावस्तु का गठन

कथानक की दृष्टि से नाटक में जो एक निर्बाध गति होनी चाहिये, वह प्रस्तुत नाटक में नहीं दिखायी पड़ती। कथानक किसी एक क्षेत्र अथवा किसी एक व्यक्ति समूह से सम्बन्ध न रख कर कई क्षेत्रों और कई व्यक्ति समूहों से सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक व्यक्ति समूह का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि नाटक के कथानक का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि कई कथानकों का यह नाटक है।

मल कथानक

मूल कथानक वासवी और छलना—दो सपत्नीकों के पारस्परिक विद्वेष, अजातशत्रु के सिंहासन हस्तान्तरण, बिंबसार की विरक्ति, कोसलनरेश द्वारा काशी के राजसिंहासन पर अधिकार, फलस्वरूप मगध-कोसल का युद्ध, प्रसेनजित की पराजय, कोसल का मगध पर आक्रमण, अजातशत्रु की गिरफ्तारी और वाजिरा से विवाह, तत्पश्चात् पुत्र उत्पन्न होने पर अजातशत्रु के पश्चाताप तक ही सीमित है। यह कथानक अंक १ के दृश्य १,२,३, ४,७; अंक २ के दृश्य १, ६, १०; अंक ३ के दृश्य १, २, ८, और ६ में पूर्ण हो जाता है। अन्य दृश्यों में इस कथानक के साथ अन्य कथानकों को जोड़ने का संकेत मात्र है। इसलिए यदि केवल इन दृश्यों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाय तो नाटक बिना किसी परिवर्तन के अपने आप में पूरा हो जाता है और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं दिखायी पड़ती।

तीन उपकथानक

नाटक में इस मूल कथानक के अतिरिक्त तीन उपकथानक हैं—पहला उपकथानक कोशाम्बी से सम्बन्ध रखता है। मागन्धी का गौतम के प्रति प्रतिशोध की भावना, उससे जनित सपत्नीक विद्वेष, विद्वेष के परिणाम स्वरूप पद्मावती के विरुद्ध षड्यन्त्र, फलस्वरूप उदयन का पद्मावती पर कुपित होना और मारने का यत्न करना, षड्यन्त्र का प्रकट हो जाना और उदयन का पश्चाताप तथा मागन्धी के भवन में आग लग जाना और उसका जल मरना अपने आप में एक स्वतन्त्र कहानी है। यह कहानी प्रथम अंक के दृश्य ५,६, ६, तक ही सीमित है। उसमें भी दृश्य ६ केवल मूल कथानक के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए है, अन्यथा अनावश्यक है। मूल कथानक के साथ इन कथानक का सम्बन्ध अंक १ दृश्य ४ में कहे जीवक के इस वाक्य से स्थापित होता है कि **इसके पहले मेरा कोशाम्बी जाना एक बार आवश्यक है।** इसी कथन का विस्तार छठे दृश्य में किया गया है,

और सूत्र को बनाये रखने के लिए जीवक के मुख से यहां कहलाया गया है कि **अब मैं कोसल जाऊँगा**। उपर्युक्त तीनों दृश्य हटा देने से नाटक के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि उन तीनों दृश्यों को अलग कर दिया जाय और छठे दृश्य का सूत्रात्मक अंश निकाल दिया जाय तो वह स्वतः एक लघु नाटिका बन जायगी, जिसमें किसी वस्तु की अपेक्षा न होगी।

दूसरे उपकथानक का घटनास्थल कोसल है। इसका आरम्भ प्रथम अंक के ७वें दृश्य से होता है। यद्यपि इस दृश्य का मूल कथानक को आगे बढ़ाने में हाथ है, वह दो नये कथानक को जन्म देता है। एक का सम्बन्ध राजपरिवार के आन्तरिक अशांति से और दूसरे का सम्बन्ध कोसलनरेश की आत्मदुर्बलता से है। ये दोनों कथानक परस्पर आबद्ध किये गये हैं पर उनका स्वतंत्र अस्तित्व मिटाया नहीं जा सका है। पहला कथानक राजकुमार विरुद्धक के आस पास सीमित है और दूसरे का केन्द्रविन्दु बन्धुल और उसकी पत्नी मल्लिका है।

विरुद्धक अपने पिता से असन्तुष्ट है। वह स्वयं सिंहासन प्राप्त करने का अकांक्षी है। प्रसेनजित उसे निकाल देता है। वह अपने को अपमानित अनुभव करता है और प्रतिशोध लेने को प्रस्तुत हो जाता है। वह प्रतिशोध के लिए साहसिक बन जाता है। उसका सम्बन्ध श्यामा नामक एक वेश्या से हो जाता है। वह बन्धुल की हत्या करता है और श्यामा साहसिक विरुद्धक को, जो शैलेन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, बचाती है। एक दिन शैलेन्द्र श्यामा से ऊबकर उसकी हत्या कर डालता है। आगे चलकर विरुद्धक मगध-कोसल युद्ध में अजातशत्रु के साथ हो जाता है। विरुद्धक घायल होता है और मल्लिका उसकी सेवा करती है। उस सेवा को विरुद्धक अपने प्रति आकर्षण मानता है पर मल्लिका उसके इस भ्रम को दूर कर देती है और दोनों कोसल जाते हैं। वहां मल्लिका विरुद्धक के लिए क्षमा प्राप्त करती है और भगवान बुद्ध के कहने से प्रसेनजित उसको सिंहासन का अधिकारी बनाते हैं। इस प्रकार इस कथानक को अंक १ दृश्य ७, ८; अंक २ दृश्य १, ४, ८, १०; अंक ३ दृश्य ३, ४, और ५ में दिखाया गया है।

इस स्वतंत्र कथानक का मूल कथानक के साथ सम्बन्ध केवल दूसरे अंक के १०वें दृश्य में व्यक्त विरुद्धक और अजातशत्रु की मैत्री द्वारा दिखाया गया है। यह मैत्री ही इस कथानक को मूल कथानक के साथ जोड़ती है। यदि इस कथानक को नाटक से हटा लें तो मूल कथानक पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता और कोई अपूर्णता नहीं आती। पर यह कथानक कोशाम्बी वाले कथानक की तरह स्वतः कोई रूप नहीं धारण कर पाता। उसके साथ एक दूसरा कथानक आबद्ध है। दोनों मिलकर एक स्वतंत्र नाटक बन सकते हैं।

यह सह-कथानक बन्धुल और उसकी पत्नी मल्लिका की, अथवा अधिक उचित शब्दों में मल्लिका की है। मल्लिका के चरित्र चित्रण के लिए ही बन्धुल को सामने रखा गया है। बन्धुल के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर प्रसेनजित भयभीत होता है और उसे वह काशी का सामन्त बना कर भेज देता है। विरुद्धक उससे आकर मिलता है और उसे बताता है कि कोसल-नरेश को तुम्हारी वीरता से सन्तोष नहीं, वरन् आतंक है। तुम्हें सामन्त

बनाकर सम्मान नहीं किया गया वरन् वह एक षड्यन्त्र है जिसमें तुम्हारा अस्तित्व रह न जाय। बन्धुल उसकी बातों की उपेक्षा करता है और विद्रोहपूर्ण बातों के लिए उसे बन्दी करना चाहता है। मल्लिका महामाया अर्थात् शक्तिमती से अपने पति की वीरता का बखान करती है। महामाया उसे सावधान करती है कि इस वीरता से महाराज को आतंक हो गया है। और गुप्त आज्ञापत्र शैलेन्द्र डाकू के नाम भेजा जा चुका है, कि यदि तुम बन्धुल का बध कर सकोगे तो तुम्हारे पिछले सब अपराध क्षमा कर दिये जायंगे। किन्तु मल्लिका इन बातों की उपेक्षा करती है और अपने पति को कर्त्तव्य से च्युत करने को तैयार नहीं होती। काशी से वापस चले आने को नहीं कहती। यहीं यह बात व्यक्त होती है कि महामाया मल्लिका को अपनी पुत्रबधू बनाना चाहती थी। शैलेन्द्र बन्धुल को द्वन्दयुद्ध के लिए आमंन्त्रित करता है और उसे मार डालता है। यह सूचना मल्लिका को मिलती है पर वह उसका साहसपूर्वक सामना करती है। उसके घर सारिपुत्र, मौद्गलायन और आनन्द आते हैं पर वह इस विपत्ति के कारण उनके अतिथ्य में त्रुटि नहीं होने देती। दोनों उसके चरित्र, धैर्य और कर्त्तव्य के आदर्श को देखकर चकित होते हैं। प्रसेनजित अपने कुकृत्य पर लज्जित होकर मल्लिका से क्षमा मांगने आता है। मल्लिका प्रसेनजित से कुछ नहीं चाहती और कोशल राज्य से बाहर चला जाना चाहती है। इस प्रकार प्रसेनजित और बन्धुल का कथानक की दृष्टि से अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे दोनों मल्लिका के चरित्र विकास के लिए ही सामने आते हैं। मल्लिका अपनी कुटीमें अपने भ्रातृपुत्र दीर्घकारायण को, जो मातुलबध का प्रतिशोध लेना चाहता है, शांत रहकर कोशल सेना की सेवा करने को प्रस्तुत करती है, और प्रसेनजित, जो युद्ध में घायल होकर उसके यहां सुश्रुषा प्राप्त कर रहा था, कारायण को अपना सेनापति बनाता है और वह उसके साथ कोशल जाता है। अजातशत्रु प्रसेनजित को ढूंढ़ता हुआ मल्लिका की कुटी में आता है। वह उसे यद्ध विमुख करती है। विरुद्धक घायल होकर उसकी कुटी में आता है; वह उसकी सेवा करती है और उसको अपने पिछले कुकर्मों का प्रायश्चित कर अपने को सुधारने को प्रेरित करती है। उसको श्रावस्ती ले जाकर उसके तथा उसकी माता के लिए प्रसेनजित से क्षमा प्राप्त करती है। इस प्रकार नाटकके एक बहुत अंश का मल्लिका के आदर्श चरित्र को उपस्थित करने के लिए उपयोग किया गया है। इसका विस्तार अंक १ दृश्य ७; अंक २ दृश्य २, ३, ५, ७; अंक ३ दृश्य ३, ४, और ५ में किया गया है। इन दृश्यों को, अथवा मल्लिका और बन्धुल से सम्बद्ध अंशों को हटा लेने पर नाटक पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। ये दृश्य स्वतः मल्लिका का आदर्श चित्र उपस्थित करते हैं और यदि हलका-सा विस्तार कर दिया जाय तो स्वतः एक नाटक का रूप धारण कर लेते हैं। मूल कथा के साथ इसका सम्बन्ध केवल अजातशत्रु को युद्ध-विरत करनेवाली वार्ता तक ही सीमित है। उसका इससे कुछ अधिक सम्बन्ध ऊपर वर्णित विरुद्धक की कथा से है, पर यह कथानक उसपर आश्रित हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अन्य दृश्य

इन कथानकों और उपकथानकों के अतिरिक्त देवदत्त, बुद्ध, और कारायण के चरित्र भी कुछ दृश्यों में अंकित किये गये हैं। उन दृश्यों को भी नाटक से हटाया जा सकता है।

भगवान बुद्ध हमारे सामने अंक १ दृश्य १, ६; अंक २ दृश्य ८; अंक ३ दृश्य ५, और ७ में आते हैं। अंक १ दृश्य १ और अंक ३ दृश्य ५ में भगवान बुद्ध क्रमशः अजातशत्रु और विरुद्धक को सिंहासन दिलाने के लिए आते हैं। यह काम एक साधारण पात्र द्वारा सरलता से सम्पन्न कराया जा सकता था। पहले अंक का दृश्य ६ अनावश्यक है यह पहले ही बताया जा चुका है। उसमें भगवान बुद्ध जीवक को केवल उपदेश मात्र करते हैं। अंक २ दृश्य ८, भगवान बुद्ध के विरोधियों द्वारा कलंकित किये जाने और उसको असरता को दिखाने के लिए जोड़ा गया है। उसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार मूल कथानक से नहीं है। उसी प्रकार अंतिम अंक के ७ वें दृश्य में आम्रपाली और बुद्ध भगवान के सम्बन्ध को दिखाने के लिए जोड़ा गया है। देवदत्त का प्रवेश मूल कथानक में मिश्रित किया गया है। वहां तक उनका अस्तित्व नाटक के लिए आवश्यक लगता है। यद्यपि बहुत नहीं। पर उसकी मृत्यु दिखाने के लिये एक स्वतन्त्र दृश्य अंक ३ दृश्य ६ नाटक के बाहर की चीज जान पड़ती है। कारायण की राजभक्ति और प्रतिशोध भावना के द्वन्द से जनित दुर्बलता भी नाटक के कुछ दृश्यों का विषय बनाया गया है पर वह भी कथानक को कुछ बल प्रदान नहीं करता।

कथानक की जटिलता

इस प्रकार यह नाटक अनेक कथानकों को एक में आबद्ध करने का प्रयत्न है। उपन्यास में इस प्रकार अनेक घटनाओं का समावेश तो हो सकता है पर नाटक में इसके लिए गुंजाइश नहीं होती। दर्शक का ध्यान कथानक के विकास पर केन्द्रित होता है। उसे बार-बार एक कथानक से दूसरे कथानक पर ले जाना उसके लिए भार स्वरूप होता है। इस प्रकार का जटिल कथानक नाटक के सर्वथा अनुपयुक्त है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि किसी नाटक में अनेक घटनाओं का समावेश न हो। हो, पर वे एक सूत्र में बंधे हुए कथानक को आगे बढ़ाने में सहायक हों न कि उसे इधर-उधर लेजाने में।

बहु-कथानक युक्त नाटक होने के कारण कथानकों को समेटने के लिए इस नाटक में प्रसाद को कई ऐसे दृश्यों की रचना करनी पड़ी है जिनसे अनेक बार दर्शक अनुभव करता है कि नाटक का अन्त हो गया। प्रथम अंक का नवां दृश्य कोशाम्बी की घटनाओं पर यवनिका पात करता है। वह दृश्य प्रथम अंक का अन्तिम दृश्य है इस कारण वहां दर्शक को घटना का अन्त स्वाभाविक जान पड़ता है पर अन्यत्र वह बोझ बन कर ही सामने आता है। तीसरे अंक का प्रत्येक दृश्य स्वतंत्र रूप से एक-एक घटना को समेटता चलता है। पहले दृश्य में देवदत्त के प्रति छलना का रोष सामने आता है। दूसरे दृश्य में दृश्य में अजातशत्रु और वासवी का मिलन है। तीसरे दृश्य में विरुद्धक और श्यामा का पश्चाताप व्यक्त है। चौथे दृश्य में दीर्घकारायण और शक्तिमती को पश्चाताप करते देखते हैं। पांचवें दृश्य में तो अजातशत्रु और वाजिरा के विवाह के रूप में मगध-कोसल की शत्रुता मैत्री का रूप तो धारण करता ही है, शक्तिमती और विरुद्धक को भी क्षमा प्राप्त होती है। छठे दृश्य में दो नागरिकों के वार्तालाप के रूप में देवदत्त का अन्त सामने आता है। सातवां दृश्य आम्रपाली अथवा श्यामा और मागन्धी का सुखद रूप दिखाता है। आठवां पद्मावती, छलना और वासवी को एक करता है, अन्तिम दृश्य बिंबसार और

अजातशत्रु के मिलन का है। इस प्रकार प्रत्येक दृश्य के अन्त पर पाठक की उत्सुकता का अन्त होता है और आगे की ओर बढ़ना नहीं चाहता। पांचवा दृश्य तो मिलन की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। वहां से फिर उतर कर दूसरी चरम सीमा तक पहुँचने के लिए दर्शक को धैर्य रखना पड़ता है। इस प्रकार नाटक में उतार-चढ़ाव का ध्यान रखे बिना दृश्यों की रचना की गयी है।

नाटककार का उद्देश्य

इस प्रकार अनेक कथानकों को एक में समाविष्ट करने के कारण नाटक का सुगठन नहीं हो सका है और उसमें समष्टि प्रभाव का सर्वथा अभाव है। रस की निष्पत्ति भी शुद्ध नहीं हो पायी है, तथापि उसके पीछे नाटककार का एक उद्देश्य छिपा हुआ जान पड़ता है। वह सांसारिक जीवन के प्रत्येक प्रकार के उतार-चढ़ाव को हमारे सामने रखना चाहता है और उसके पीछे उसकी भावना है सुख और समृद्धि पूर्ण परिवार की स्थापना की। मगध, कोशाम्बी और कोसल के राजपरिवार की घटनाएं एक प्रकार से तीन परिवारों की घटनाएं हैं। यद्यपि इन घटनाओं में राजनीति खेलती तिरती-सी जान पड़नी है, पर प्रजा का नाटक में कोई स्थान नहीं है। राजनीति समाज से हट कर परिवार में सीमित हो गयी है। एक-तन्त्र शासन के युग में यह अस्वाभाविक भी नहीं है। अतः यदि नाटक के कथावस्तु को हम राजनीति से कुछ ऊपर उठकर देखें तो वह शुद्ध परिवारिक चित्रण है।

काशी-कोसल की घटनाएं

काशी और कोसल की घटनाएं एक ही चित्र के दो स्वरूप हैं। बिंबसार, अजातशत्रु और छलना जो कुछ मगध में करते हैं, वही प्रसेनजित, विरुद्धक और शक्तिमती कोसल में। जिस प्रकार अजातशत्रु अपने पिता को पदच्युत कर सिंहासन का अधिकारी हुआ, उसी प्रकार विरुद्धक अपने पिता प्रसेनजित को सिंहासन से उतारना चाहता है। जिस प्रकार छलना अपने पुत्र को कुमार्ग पर चलाती है उसी प्रकार शक्तिमती विरुद्धक को साह-सिक बनाने में गौरव का अनुभव करती है। छलना ने जिस प्रकार अपने पति के साथ विश्वासघात किया, उसी प्रकार शक्तिमती अपने पति के साथ करती फिरती है। किन्तु इस समानता के साथ दोनों के कार्य-स्वरूप में इतनी भिन्नता है कि वे जीवन के दो स्पष्ट भिन्न चित्रों को सामने उपस्थित करते हैं। अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों महत्वाकांक्षी हैं पर अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए जहां अजातशत्रु विनम्रता से काम लेता है, विरुद्धक अपनी उद्दण्डता का परिचय देता है। गौतम के यह पूछने पर कि **क्यों राजकुमार, तुम राज्य का कार्य मन्त्रिपरिषद की सहायता से चला सकोगे**? अजातशत्रु शीघ्रता से, पर संयत शब्दों में उत्तर देता है—**क्यों नहीं, यदि पिताजी आज्ञा दें**। ठीक इसके विपरीत विरुद्धक उद्दण्डता के साथ कहता है—**पुत्र यदि पिता से अपना अधिकार मांगे तो उसमें दोष ही क्या है**? अजात अपनी विनम्रता के कारण सफल होता है और विरुद्धक अपनी उद्द-ण्डता के कारण असफल। बिंबसार और प्रसेनजित दोनों पिता हैं; बिंबसार अपने पुत्र की आकांक्षाओं के सम्मुख झुक जाता है पर प्रसेनजित नहीं झुकता। बिंबसार, अनिच्छा-पूर्वक ही सही, अजातशत्रु को शासनभार सौंप देता है और प्रसेनजित विरुद्धक को राज्य

से बाहर निकाल देता है। छलना और शक्तिमती दोनों ही अपने पुत्र के लिए कुछ करना चाहती हैं। किन्तु छलना अपने इस कार्य-साधन में देवदत्त की कूट व्यवहारों का शिकार हो जाती है किन्तु शक्तिमती स्वयं अपने हित साधन के लिए सचेष्ट होती है और अपनी कार्यसिद्धि के लिए कभी मल्लिका को भड़काती है और कभी दीर्घनारायण को।

इस प्रकार की कार्य-वैभिन्नता के बावजूद हम देखते हैं कि जिस प्रकार बिंबसार छलना और अजातशत्रु को क्षमा प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रसेनजित शक्तिमती और विरुद्धक को। एक बात में और भी अद्भुत समानता है। जिस प्रकार भगवान बुद्ध अजातशत्रु को राज्यभार प्रदान कराते हैं उसी प्रकार वे विरुद्धक को भी।

मगध और कोशाम्बी की घटनाएँ

इस नाटक में जिस प्रकार मगध और कोसल की घटनाओं के आधार पर प्रसाद ने जीवन के एक स्वरूप के दो चित्र उपस्थित किये हैं, उसी प्रकार उन्होंने नाटक में मगध और कोशाम्बी की घटनाओं के सहारे जीवन के एक दूसरे रूप के दो चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये हैं। वह है सापत्न्य का स्वरूप। मगध में छलना का सापत्न्य-द्वेष वासवी के प्रति है, वह अपने इस द्वेष की शांति के लिए अपने पुत्र का सहारा लेती है। कोशाम्बी में मागन्धी का सापत्न्य द्वेष पद्मावती के प्रति है। उसकी शांति के लिये वह अपने पति को माध्यम बनाती है। पर दोनों ही अपने उद्देश्य पूर्ति में असफल रहती हैं।

संघर्षों का चित्रण

इस नाटक में वाह्य संघर्षों—यथा पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सौत-सौत, भिक्षु-भिक्षु—को चित्रित किया गया है। किन्तु जीवन में चलने वाले ये संघर्ष हमारे आन्तरिक विचारों के ही परिणाम होते हैं। अपने विचारों के अनुसार ही मनुष्य कार्य करता है। अतः कुछ आलोचकों का यह कहना है कि **यह नाटक आन्तरिक रूप से करुणा और क्रूरता, महत्वाकांक्षा और अधिकार, ईर्षा और अनुकम्पा, पाखण्ड और पुण्यके बीच होनेवाले संघर्ष का चित्र है।** यदि इस आधार पर नाटक पर विचार किया जाय तो इस नाटक के पात्रों को संघर्ष के दो क्षेत्रों—सत् और असत् में बांटकर पात्रों के चरित्रों का आंका जा सकता है।

अजातशत्रु

अजातशत्रु प्रस्तुत नाटक का प्रधान पात्र है और उसी के नाम पर नाटक का नामकरण हुआ है; किन्तु उसमें प्रधान पात्र कहलाने वाले गुणों का सर्वथा अभाव है। सम्पूर्ण नाटक में न तो उसके कार्य-व्यापारों की प्रधानता दिखाई पड़ती और न उसके व्यक्तित्व का कोई व्यापक प्रभाव ही चित्रित है। वह हमारे सामने क्रूर, उश्रृङ्खल और दुर्विनीत स्वरूप लेकर आता है। प्रथम दृश्य के उसके मुख से निकले ये शब्द—**क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया। मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?** जहां उसके राजकुमार का अधिकार-दर्प व्यक्त करता है वहीं आगे के शब्द—**हाँ तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र ला तो मेरा कोड़ा।** उसके क्रूर स्वभाव को हमारे सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। अपनी बहन पद्मावती से जिस ढंग से बात करता है वह उसकी उश्रृङ्खलता

और दुर्विनीतता का परिचायक है। इन्हीं दुर्गुणों के आधार पर उसके चरित्र का निर्माण हुआ है। शासक हो जाने पर उसके चरित्र के ये दुर्गुण पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने आते हैं। काशी की प्रजा की विरोधवार्ता को एक योग्य शासक की तरह अपनी किसी त्रुटि का आभास न मान कर एक दम उत्तेजित हो उठना और उबल पड़ना कि **क्या यह सच है समुद्र, मैं यह क्या सुन रहा हूँ ? प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है। चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। राजकर मैं न दूंगा यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गयी ? काशी का दंडनायक कौन मूर्ख है। तुमने उसी समय उसे क्यों नहीं बन्दी किया ?** उसके अविवेकशील और और क्रूर प्रकृति को ही व्यक्त करता है। राजभार ग्रहण करने पर तो उसमें पूज्यजनों के प्रति विनयाचरण के स्थान पर तिरस्कार एवं कपटाचरण के ही दर्शन होते हैं। बिंबसार के समय में जो याचक धनधान्यादि से पुरस्कृत एवं सेवित होते थे, वे निराश कर दिये जाते हैं। इतना ही नहीं, उसकी प्रकृति इतनी नीच हो उठती है कि वह अपने पिता बिंबसार और विमाता पर नियन्त्रण बैठाने का प्रस्ताव परिषद से स्वीकार करा लेता है और उसके अनुरूप व्यवहार भी करता है।

क्रूर और दुर्विनीत स्वभाव के साथ-साथ अजातशत्रु स्वतन्त्र व्यक्तित्व और कर्तृत्वसे भी विहीन है। उसमें आत्मचरित का सर्वथा अभाव है। वह छलना और देवदत्त के हाथ का कठपुतली मात्र है। वह सदैव दूसरे के महत्वकांक्षाओं की पूर्ति का सहज साधन बनता दिखाई देता है। उसमें सोचने समझने की शक्ति का भी अभाव जान पड़ता है। मल्लिका का उपदेश सुनकर उसमें सद्भाव जागते हैं और वह कोसल पर पुनः आक्रमण न करने का निश्चय करता है पर छलना और देवदत्त के डांटने और पुचकारने पर पुनः युद्ध के लिए तैयार हो जाता है। वासवी का सौम्य व्यवहार देख कर तुरत द्रवित हो जाता है। इस प्रकार उसका न तो अपना विवेक है और न व्यक्तित्व। युद्ध-भूमि में भी उसने रण-कौशल का परिचय नहीं दिया। कोसल राज्य पर आक्रमण करने जाता है और बन्दी हो जाता है। उसकी इस दुर्बलता में उसका उतना दोष नहीं है, जितना उसपर डाले जानेवाले संस्कारों का। विवेक जाग्रत होने पर वह स्वयं इस बात का अनुभव करता है। वह पिता के सम्मुख स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि **मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान, अपने को विश्वभर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा सम्मान।** छलना, देवदत्त और समुद्रदत्त आदि के द्वारा ही उसमें इन दुर्गुणों का वपन और विकास हुआ था।

इन दुर्बलताओं के होते हुए भी अजातशत्रु में कुछ आत्मभिमान की भावना भी है, ऐसा कुछ आभास तब होता है जब हम उसे प्रसेनजित के कारागार में बन्दी की अवस्था में दीर्घकारायण की मुखरता का उत्तर इन शब्दों में देते हुए पाते हैं--**मैं तुमको उत्तर देना नहीं चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्दिता है, उनके सेवकों से नहीं।** दीर्घकारायण को अपनी मर्यादा की सीमा से बाहर जाते देख द्वन्दयुद्ध के लिए आह्वान भी उसके आत्म-सम्मान को व्यक्त करता है। हो सकता है उसके पीछे कुछ साहस भी हो। पर यह साहस वीर का साहस न होकर प्रेमी की प्रतिद्वन्दिता से जनित ही साहस ही कहा जायगा। वाजिरा के सम्मुख अजातशत्रु के लिए अपने को हीन प्रमाणित होने न देना स्वाभाविक ही है।

व्यवहारपक्ष की अपेक्षा अजातशत्रु का हृदयपक्ष अधिक प्रकृत है। कोसलकुमारी वाजिरा के अनुपम लावण्य के प्रति उसका मन हठात् आकृष्ट हो जाता है और उससे प्रेम करने लगता है। उस समय वह प्रसेनजित के वैमनस्य को भूल जाता है। वह कह उठता है—**सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजय करता है। आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे हृदय को विजित कर लिया......**। वह वाजिरा के प्रेम में अपना समस्त अहं भाव न्योछावर कर देता है। वह शुद्ध हृदय से वाजिरा को विश्वास दिलाता है—**मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ प्रिये। हम तुम अभिन्न हैं। यह जंगली हिरन इस स्वर्गीय संगीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है**। अपनी विमाता वासवी को बन्दीगृह से मुक्ति दिलाते देख उसका सारा वैमनस्य, सारा विरोध ममता के रूप में छलछला पड़ता है। वह वासवी की गोद में चिपककर पुकार उठता है—**नहीं तुम मेरी माँ हो, माँ! इतनी ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया है।** पिता होकर तो अजातशत्रु की सारी दुर्बलताएँ ममता की धारा में बह जाती है और वह अनुभव कर पाता है कि पिता की ममता क्या होती है।

बिंबसार

बिंबसार मगध का वृद्ध शासक और अजातशत्रु का पिता है। एक ओर उसकी छोटी रानी छलना उसे विवश करती है—**आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी,** दूसरी ओर भगवान बुद्ध उपदेश करते हैं—**तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बना दो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो**। इन दोनों के बीच पड़कर विवश होकर वह अनिच्छा से राज्य त्याग करता है और वाणप्रस्थ ग्रहण करता है। परन्तु अधिकारों के प्रति मोह को छोड़ नहीं पाता। वह चिन्तन द्वारा राजमोह पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। मोह और विरक्ति के बीच जब द्वन्द छिड़ता है तो यह विचार कर आत्मसंतोष करता है कि **संसारी को त्याग तितिक्षा या विराग होने के लिए यह पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर और वीतराग हो जाने पर, असन्तोष नहीं रह जाता, क्योंकि मनुष्य अपनी आत्मा का भोग उसे भी समझता है।** वासवी उसके इस सन्तोष को बल प्रदान करती है अपने शब्दों द्वारा यह कह कर कि **मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वंचित होने का दुख नहीं है।** किन्तु उसके मन में बराबर द्वन्द बना रहता। छलना से सुनकर कि कोसल और मगध से युद्ध हो रहा है, अजातशत्रु भी उसमें गया है; साम्राज्य भर में आतंक है, बिंबसार के मुख से जो शब्द निकलते हैं वे उसके अन्तर्द्वन्द की अवस्था को बहुत ही स्पष्ट कर देते हैं— **युद्ध में क्या हुआ** (मुंह फिरा कर) **अथवा मुझे क्या?** एक ओर फल जानने की उत्सुकता और दूसरी ओर सारे प्रपंचों से तटस्थता व्यक्त करने की चेष्टा, दोनों ही बातें सामने आ जाती हैं।

वाणप्रस्थ ग्रहण करके भी बिंबसार सुख और शांति का अनुभव नहीं कर पाता। अजातशत्रु के क्रूर व्यवहारों से उसे क्षोभ होता है, याचकों के निराश लौट जाने से उसे वेदना होती है, अजातशत्रु द्वारा स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध उसे क्षुब्ध कर देता है। छलना जब व्यंगभरी कटूक्तियों द्वारा वासवी पर प्रहार करती है, तब वह अपने को संयत नहीं रख

पाता । उसका आत्मगौरव जाग उठता है । वह उग्र हो जाता है और उसकी मनस्थिति स्पष्टतः हमारे सामने आ जाती है——**छलना, मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है, किन्तु मनुष्यता ने अभी मेरा परित्याग नहीं किया है । सहन की भी सीमा होती है । अधम नारी चली जा । तुझे लज्जा नहीं । बर्बर लिच्छवि रक्त** !

इस प्रकार उसके मन में राग-विराग का द्वन्द निरन्तर बना रहता है । कभी-कभी उसकी बातों से प्रकट हो जाता है, पर उसकी सदैव यह चेष्टा रहती है कि वह अपने को विरक्त अनुभव करे अथवा दूसरों पर यह प्रकट न हो कि उसमें आसक्ति शेष है । वासवी द्वारा आंचल में प्राप्त काशी की आय उसके हाथ आने की बात कहती है तो वह यह कहकर उसकी उपेक्षा करता सा जान पड़ता है कि **मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवि, जिन्हें अभी छोड़ आया** । जब '**महाराज की जय**' कहता जीवक आता है तो वह उससे कहता है—**यह कैसा परिहास ! यह सम्बोधन अब क्यों** ? जीवक के कोशाम्बी जाने की बात कहने पर वह कहता है——**नहीं जीवक, मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता** । इसी तरह आगे जब जीवक काशी के दंडनायक से मिलते जाने की बात कहता है तो उसका उत्तर होता है——**जैसी तुमलोगों की इच्छा** ।

आरम्भ का राग-विराग का यह द्वन्द धीरे-धीरे कम होता जाता है । राजभार से अलग होकर जब वह एक दर्शक की भांति वैभव के लिये चारों ओर द्वेष, कलह, युद्ध, हत्या उत्पात आदि देखता है तो उसकी वैभव लिप्सा के प्रति विरक्ति होती जाती है । उसे समस्त उपद्रवों के मूल में वैभव और अधिकार देखकर उससे विमुख होने में सफल होता है और यह अनुभव करता है कि **सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल कि‍सलयों के झुर-मुट का अधखिला फूल होना अधिक अच्छा है** । और वह उसी की कामना करता है । उसे सम्राट कहकर पुकारा जाना भी अब अरुचिकर जान पड़ता है । जीवक जब सम्राट कहकर पुकारता है तो वह उसकी भर्त्सना करता है——**चुप, यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो । भयानक सम्बोधन मुझे नहीं चाहिये** ।

प्रसेनजित

प्रसेनजित बिंबसारकी तरह ही पिता है और पति भी,किन्तु उसकी प्रकृति एक दम भिन्न है । उसमें सत्ता का घमंड और अभिजाति कुल का दंभ है । इसी दंभ के कारण उसने अपनी पत्नी और पुत्र को परित्याग कर अधिकार च्युत कर दिया है । वह अदूरदर्शी, क्रोधी और ईर्षालु है । अजातशत्रु के विप्लव का समाचार की जब चर्चा होती है और उसका पुत्र विरुद्धक एक सामान्य-सी बात कहता है कि **युवराज को राज्यसंचालन की शिक्षा देना महा-राज का कर्त्तव्य है** । तो वह अनायास उत्तेजित हो उठता है और अपनेको अपदस्थ किये जाने का प्रयत्न मानने लगता है,उसी उत्तेजनामें विरुद्धक को दु:शब्द भी कहता है। इस क्रोध और अदूरदर्शिता से ही वह अपने पुत्र को अपना शत्रु बना लेता है । अपने सेनापति के उत्कर्ष को अपने अपकर्ष का द्योतक समझ कर उससे ईर्षा करना शासक की सबसे बड़ी निर्ब-लता है । उसकी यह ईर्षा द्वेष में बदल जाती है और वह बन्धुल की हत्या का क्रूर षड्यन्त्र रच डालता है । अपनी इन्हीं दुर्बलताओं के कारण वह अजातशत्रु से युद्ध में पराजित होता है ।

स्वभाव की दुर्बलताओं के साथ-साथ वह मन से भी दुर्बल है। बन्धुल की हत्या करा कर उसको मानसिक शांति नहीं होती, वरन् बढ़ जाती है। वह अनुभव करने लगता है कि उसने दुष्कर्म किया है और वह मल्लिका के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार करता है कि **मेरा हृदय शुद्ध नहीं था**। युद्ध में पराजित होने पर उसे अपने पापमय आचरण की अनुभूति और तीव्र होने लगती है। मल्लिका का निश्छल व्यवहार, उदारता पूर्ण सेवा प्रसेनजित को और ग्लानि से नत कर देती है। वह अपने पापों का प्रायश्चित करने को व्याकुल हो उठता है। उसके ये शब्द उसके हृदय की व्यथा को व्यक्त करते हैं---**देवि मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा कर मुझे कठोर दण्ड दिया है, हृदय में इसकी ज्वाला है। देवि एक अभिशाप भी दे दो, जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पाये**। बार-बार क्षमा मांगने पर भी उसका हृदय शांत नहीं हो पाता। वह अपने को आश्वस्त नहीं समझता। सदैव वह शंकाकुल रहता है। कोशल की राजसभा में मल्लिका के मुंह से यह निकलते ही--**मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है**। प्रसेनजित का पापी मन त्रस्त हो उठता है। वह अधीर होकर कह उठता है---**वह बड़ा भयानक है। देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं, अब**। उसकी मानसिक दुर्बलता इतनी बढ़ी हुई है कि वह अपने पापों को राजसभा के मध्य सार्वजनिक रूप से प्रकट होने से घबराता है। उसे सुनने से भागता है।

स्वभाव और मन से दुर्बल होने पर भी उसमें स्नेह और आत्मीयता की कमी नहीं हैं, यह वासवी के प्रति व्यक्ति अनुराग और सहानुभूति से प्रकट है। वह अजातशत्रु की अनाधिकार चेष्टा का समाचार सुनते ही आत्मप्रेरणा से अपने बहन और बहनोई के निर्वाह के लिए काशी का राजस्व अजातशत्रु को न देकर उन्हें देने का आदेश देता है। वासवी के कहने पर अजातशत्रु को मुक्त ही नहीं, अपनी पुत्री वाजिरा से उसका विवाह भी कर देता है।

विरुद्धक

विरुद्धक अजातशत्रु के समान ही पिता से विद्रोह करने वाला युवक है, उसी की तरह महत्वाकांक्षी भी, पर वह उसकी तरह पराश्रित नहीं। वह जो कुछ करता है अपने आप और अपने बल पर। वह किसी सहारे की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार उसके चरित्र में विशिष्टता है। पिता की प्रतारणाएं उसे उसके प्रति विद्रोही बना देती हैं किन्तु प्रणय वंचित होने के कारण उसमें कुछ करने का उत्साह नहीं है। उसके ये भाव उसके स्वगतोक्ति से व्यक्त होते हैं। **घोर अपमान अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार भैरव नाद! यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोसल देश की सीमा कभी की मेरे आँखों से दूर हो जाती, किन्तु मेरे जीवन का विकाससूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बंध गया है**। उसकी यह मानवीय दुर्बलता माता की भर्त्सना सुनकर और प्रोत्साहन पाकर दब जाती है और उसमें प्रतिशोध की भावना पूर्ण रूप से जागरूक हो जाती है। वह महत्वा-कांक्षा के प्रदीप्त कुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाता है और प्रतिशोध लेने को अपना कर्त्तव्य

ग्रौर जीवन का लक्ष्य बना लेता है । वह प्रतिज्ञा करता है--**तेरे ग्रपमान के मूल कारण इन शक्यों का एक बार ग्रवश्य संहार करूँगा ग्रौर उनके रक्त में नहा कर इस कोसल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वन्दना करूँगा** । मातृभूमि के जोश, प्रतिशोध की भावना ग्रौर दृढ़ निश्चय के साथ विरुद्धक कोशल की सीमा से बाहर चला जाता है । उसके जीवन की दिशा-गति बदलती है ग्रौर वह साहसिक हो जाता है । शैलेन्द्र डाकू बनकर ग्रपने बाहुबल से ग्रधिकार ग्रौर स्वत्व प्राप्त करना चाहता है । ग्रपनी शक्तियों का विकास कर वह काशी की जनता में ग्रातंक फैला देता है । कोसलनरेश प्रसेनजित स्वयं उसकी शक्ति ग्रौर पराक्रम से प्रभावित हो जाते हैं ग्रौर ग्रपने सेनापति बन्धुल की हत्या के लिए उसकी सहायता प्राप्त करते हैं ।

साहसिक होकर भी वह व्यवहारकुशलता बनाये रखता है । ग्रपने कार्य-सिद्धि के लिए ग्रच्छा बुरा सब कुछ करता है । वह बन्धुल को ग्रपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता है । ग्रसफल होने पर ही छल का सहारा लेकर उसकी हत्या करता है । श्यामा की को ग्रपना प्रणय देकर, विश्वास के सहारे खड़ा करके भी वह उसकी हत्या करने से नहीं चूकता । वह कुछ भी करे वह ग्रपने उद्देश्य को भूलता नहीं । श्यामा के सौंदर्य की तृष्णा पड़कर भी वह सजग हो उठता है--**मैं भूल गया हूँ कि मैं कौन था, मेरा उद्देश्य क्या था. . . . यह प्रेम दिखाकर मेरी स्वतंत्रता हरण कर रही है. . . . इस गर्त में ग्रब नहीं गिरूँगा । कर्मपथ के कोमल ग्रौर मनोहर कंटकों को कठोरता से निर्दयता से हटाना ही पड़ेगा** । वह श्यामा की हत्या ही नहीं करता वरन् उसके शरीर से सारे ग्राभूषण भी उतार लेता है ग्रौर उसके घर में जो कुछ है सब उठा लाता है । ग्रौर इसलिए उठा लाता है कि उसे धन की ग्रावश्यकता है । उसके क्रूर ग्राचरणों के पीछे उसका इष्ट साधन ही एक मात्र काम करता है दिखाई देता है । उसे तो **प्रतिशोध लेना है, दावाग्नि से बढ़कर फैलना है, उसमें चाहे सुकुमार तृण कुसुम हों ग्रथवा विशाल शालावृक्ष** सबको भस्म करना है ।

वह इस बात से ग्रपरचित नहीं है कि ग्रभीप्सा पूर्ति के लिए जिस शक्ति की ग्रावश्यकता है वह इस प्रकार से प्राप्त न होगी । ग्रौर वह ग्रजातशत्रु के पास जाकर ग्रपने कौशल से उसका विश्वासपात्र बन जाता है । युद्ध की मंत्रणा करता है ग्रौर खड्ग लेकर शपथ करता है कि **कोशाम्बी की सेना पर मैं ग्राक्रमण करूँगा. . . . . . .जब मैं पदच्युत ग्रौर ग्रपमानित व्यक्ति हूँ, तब मुझे ग्रधिकार है कि सैनिक कार्य में किसी का भी पक्ष ग्रहण कर सकूं, क्योंकि यही क्षत्रिय की धर्म सम्मत ग्राजीविका है ।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि उसमें स्वावलंबन, दृढ़ता, उद्योग, पराक्रम, साहस, निर्भीकता ग्रौर कुशलता प्रचुर मात्रा में है; ग्रौर यह उसकी ऐसी चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो उसे ग्रपने लक्ष्य तक पहुँचा सकती थीं किन्तु पर्याप्त साधनों के ग्रभाव तथा ग्रजातशत्रु की दुर्बलताग्रों के कारण वह ग्रपनी लक्ष्यसिद्धि में ग्रसमर्थ रहा ।

प्रतिशोध की भावना रखता हुग्रा भी, उसके चरित्र की यह भी विशेषता थी कि कि वह विवेक खोता हुग्रा नहीं जान पड़ता । युद्ध में ग्रपने पिता से स्वयं लड़ने नहीं जाता । ग्रात्म-सम्मान भी उसमें कूट-कूट कर भरा हुग्रा है । ग्रात्मगौरव पर ग्राघात होने के कारण ही पिता के राज्य का त्याग करता है ग्रौर उस ग्रात्मसम्मान की रक्षा के लिए ग्रन्त तक

प्रयत्नशील है। यह जानते हुए भी कि स्वालम्बन के अभाव में आत्मसम्मान की यथेष्ट रक्षा सम्भव नहीं, वह आत्म विश्वास के साथ बन्धुल के प्रस्ताव को ठुकरा देता है—**मैं तो तिरस्कृत राज संतान हूँ। फिर अपमान सह कर, चाहे वह पिता का सिंहासन ही क्यों न हो, मुझे रुचिकर नहीं........मैं दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे अधिकार चाहिये, स्वत्व चाहिये........मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। क्षत्रिय कुमार हूँ। चिन्ता क्या है।**'

यद्यपि विरुद्धक का चरित्र नाटक में राष्ट्रद्रोही, कुटिल, विश्वासघाती और क्रूर के रूप में ही निखरा है। पर उसका व्यक्तित्व इसका दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परिस्थितियों ने ही उसे ऐसा बना दिया। नाटककार भी इस बात से अपरिचित नहीं था, यह मल्लिका के इन शब्दों में व्यक्त है—**राजन् विद्रोही बनाने का कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता है।**

विरुद्धक चरित्र की दुर्बलता से मुक्त नहीं है। उसकी यह दुर्बलता उसके प्रणय व्यवहार में व्यक्त होती है। वह नारी हृदय को पहचानने में सर्वथा असफल रहा है। मल्लिका को तो वह पहचान ही नहीं सका। उसने इस बात का कभी अनुभव करने की चेष्टा ही नहीं की, कि मल्लिका भी उससे प्रेम करती है या नहीं। अपनी एकांगी भावना को उसने इतना अधिक महत्व दिया कि मल्लिका का बन्धुल के साथ विवाह हो जाने पर साहस खो बैठा। किन्तु उसका ऐसा सोचना और साहसहीन हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रणय जगत की यह सामान्य घटना है। न जाने कितने लोग अपनी कल्पना से अपने को प्रेमी मान लेते हैं और समझते हैं, कि वह नारी भी उसे प्रेम करती है जिसे वे प्रेम करते हैं और सफल न होने पर हताश हो जाते हैं। विरुद्धक उन्हींमें से एक कहा जायगा। जो घटनाएँ सामने आयी हैं, उन से यह प्रकट होता है कि उसके इस एकांगी प्रेम में भी सात्विकता का सर्वथा अभाव था। बन्धुल की हत्या के समय विरुद्धक को मल्लिका के भविष्य का तनिक भी ध्यान नहीं होता। यदि उसके प्रेम में तनिक भी सात्विकता होती तो वह अपनी प्रेमिका के हृदय पर आघात लगने की बात सोचता और बन्धुल की कभी हत्या नहीं करता। सच्चा प्रेमी अपनी हानि की उपेक्षा करता और अपनी प्रेमिका को तनिक भी दुःखी नहीं देखना चाहता है। जो इसका अपवाद है वह सच्चा प्रेमी नहीं है। उदयन के हाथों घायल होने पर जब मल्लिका सहृदयता के नाते उसे लाकर अपनी कुटी में रखती है और चिकित्सा, सुश्रुषा करती है तो वह उसके इस कार्य को अपनी उसी पुरानी वासना-जनित दृष्टि से देखता है, और उसी के अनुसार उसके कार्यों की परख करना चाहता है। एक ओर उपेक्षा करनेवाली मल्लिका के प्रति उसके ये भाव हैं, दूसरी ओर सर्वस्व अर्पण करनेवाली श्यामा के प्रति उसके जो भाव हैं वे प्रणय-जगत में अक्षम्य और उसकी चरित्रहीनता के द्योतक हैं। एक ओर तो वह श्यामा के सौंदर्य पर मुग्ध होकर कहता है कि **तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था।** और उसके साथ विश्वासघात न करने के लिए सिद्धान्त की दुहाई देता है कि **विश्वास करनेवाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते। उनका भी अपना एक सिद्धान्त होता है।**' दूसरी ओर यथार्थ यह है कि वह उसका गला घोट देता है, उसका धन अपहरण कर लेता है। श्यामा उसे डाकू जानकर भी उससे प्रेम करती है, किन्तु वह

उसे वेश्या समझकर उसके साथ विश्वासघात करता है। विरुद्धक नारी हृदय को सर्वथा पहचानने में असफल रहा, यही कहा जा सकता है।

उदयन

उदयन का सम्बन्ध नाटक के मुख्य कथावस्तु से तनिक भी नहीं है, इसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। उसका सम्बन्ध यहां केवल इतना ही है कि वह कोशल के साथ मिलकर मगध पर आक्रमण करता है और युद्ध में विरुद्धक को घायल करता है। किन्तु इस रूप में भी वह हमारे सामने अपने पराक्रम को लेकर नहीं आता। दूसरे पात्रों के मुख से ही उसकी सूचना मिलती है। उसका जो चरित्र प्रत्यक्ष रूप से नाटक में हमारे सम्मुख आता है, वह एक विलासी नरेश का है। वह सुरा, संगीत और सुन्दरियों के बीच ही हमें दिखाई पड़ता है। वह मागन्धी के रूप और यौवन पर आसक्त है। अपनी आसक्ति में वह अपना व्यक्तित्व भी खो बैठता है। मागन्धी के निकट उसका सारा ज्ञान, सारे विचार पंगु हो जाते हैं और मागन्धी उस पर शासन करती है। फलतः विचारों की दृढ़ता का उसमें सर्वथा लोप हो गया है। भगवान बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर मद्यपान न करने का विचार तो करता है, मागन्धी के सम्मुख अपने इस भाव को भी प्रकट करता है, पर मागन्धी के अनुरोध की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर पाता। मागन्धी के कहने पर कि **'मैं प्रार्थना करती हूँ अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिये'** वह बिना किसी आना कानी के तत्काल कह उठता है : **'उठो, मुझे अपने हाथों से अपना प्रेमपूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।'**

उदयन में विवेक का भी अभाव है। वह सद्-असद् और मित्र-शत्रु का अन्तर कर पाने में असमर्थ है। मागन्धी जो कह देती है उस पर वह सहज विश्वास कर लेता है। हस्तिस्कन्ध वीणा में से सांप के बच्चे को निकला देखकर वह मागन्धी के कहने पर विश्वास कर लेता है कि पद्मावती ने उसके प्राण लेने का षड्यन्त्र किया है। उसमें उसे मागन्धी अथवा किसी अन्य की कुटिलता की कल्पना भी नहीं होती। वह वस्तु तथ्य को खोजने का प्रयत्न नहीं करता, पद्मावती के प्राणों का शत्रु बन जाता है और उसके प्रत्येक कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। उसका मन इतना कलुषित है कि पद्मावती को झरोखे से भगवान बुद्ध की वन्दना करते देख समझने लगता है कि पद्मावती का गौतम के प्रति वासना-मय आकर्षण है। और उसके मुख से निकलता है : **'पापीयसी, देख ले, यह तेरे हृदय का विष तेरे वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है।'** वह उत्तेजित होकर उसकी हत्या करना चाहता है, पर कर नहीं पाता।

षड्यन्त्र का रहस्य प्रकट हो जाने पर उसे अपनी भूल ज्ञात होती है और वह पद्मावती से क्षमा मांगता है। पर इससे उसके चरित्र की महत्ता नहीं प्रकट होती।

नाटक के इन पांच पात्रों को दो समूहों में बांटा जा सकता है। अजातशत्रु और विरुद्धक के जीवन और उससे सम्बद्ध घटनाओं में बहुत कुछ साम्य है। पर साथ ही अन्तर भी कम नहीं है। इस दृष्टि से वे दोनों एक परिस्थिति के दो स्वरूप के रूप में हमारे सम्मुख रखे गये हैं। दूसरे समूह के पात्र हैं बिंबसार, प्रसेनजित और उदयन। प्रसेनजित और उदयन के स्वभाव परस्पर कुछ सीमा तक तुलनीय हैं।

तुलनात्मक विवेचन

उदयन भावुक और विलासी है और प्रसेनजित क्रोधी और ईर्ष्यालु। दोनों ही अपनी दूषित भावनाओं और चित्तवृत्तियों के कारण शांति का अनुभव नहीं कर पाते और पराभव का अनुभव करते हैं। उदयन पद्मावती के सामने घुटने टेकता है और प्रसेनज़ित मल्लिका के सम्मुख बार बार गिड़गिड़ाता है। बिंबसार का चरित्र इन दोनों के चरित्र से एकदम भिन्न है। वह अपने आश्रमधर्म के अनुसार विरक्त है, विवेक-शील है। वह किसी के सम्मुख नत नहीं होता। अविनयी पत्नी और पुत्र ही उसके सम्मुख नत-मस्तक होते हैं और क्षमा चाहते हैं। एक आलोचक मित्र के शब्दों में '**प्रसाद जी ने काम, क्रोध और विवेकयुक्त वैराग्य को उदयन, प्रसेनजित और बिंबसार के रूप में साकार रूप प्रदान किया है। बिंबसार के व्यक्तित्व की महत्ता प्रकट कर उन्होंने काम क्रोध के विरोध में विवेक पूर्ण वैराग्य मनोवृत्ति की गौरवपूर्ण सजीव झाँकी प्रस्तुत की है।**' इन पात्रों के चरित्रचित्रण के समय प्रसादजी की यह भावना थी या नहीं यह तो कहना कठिन है किन्तु इतना तो है ही कि प्रसाद जी का आकर्षण अन्यापदेश (अलेगरी) की ओर रहा है। उन्होंने दो अन्यापदेशिक नाटक भी लिखे हैं। सम्भव है अचेतन रूप से उनकी यह भावना इस नाटक में काम करती रही हो।

अन्य पात्र

इन पात्रों के अतिरिक्त इस नाटक में आठ-दस पुरुष पात्र और हैं। वे सब इस नाटक में नगण्य महत्व रखते हैं। यदि किसी का कुछ महत्व है भी तो अत्यल्प मात्रा में। उनमें से किसी के चरित्र के विकास का कोई अवसर ही नहीं आया है।

इन पात्रों में कारायण और बन्धुल वीर सैनिक हैं। बन्धुल में स्वामिभक्ति, युद्ध-शौर्य के साथ सचाई है। वह अपनी निश्छल स्वामिभक्ति को कभी दूषित नहीं होने देता। कहीं भी वह प्रलोभन और कुचक्र में पड़ता नहीं जान पड़ता। उसके सम्मुख कर्त्तव्य ही प्रधान है।यह सूचना पाकर भी कि प्रसेनजित ने उसकी हत्या का षड्यन्त्र किया है, वह प्रसेन-जित के विरुद्ध विद्रोह नहीं करता। विद्रोही राजकुमार विरुद्धक को बन्दी बनाने के लिये ललकारता है। वह विरुद्धक के दिये गये प्रलोभनों को ठुकरा देता है। यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है। वह सरल स्वाभाविक सैनिक है। इसके विपरीत कारायण में सैनिक गुण होते हुए भी मानव दुर्बलताएं हैं। उसमें प्रबल प्रतिहिंसा की भावनाएं हैं। वह कुचक्र रचने की भी क्षमता रखता है पर इसके साथ ही वह विवेकशील भी। है वह राष्ट्र विरोधी विरुद्धक का साथ नहीं देता। वह प्रसेनजित के व्यक्तित्व को अपना विरोधी मानता है, राष्ट्र के प्रतिनिधि शासक प्रसेनजित को नहीं। व्यक्ति प्रसेनजित उसके मामा का हत्यारा है न कि राष्ट्र। वाजिरा से प्रेम करते हुए हम उसे देखते हैं पर ज्ञात होने पर कि वह उससे प्रेम नहीं करती, पश्चाताप करते हुए भी पाते हैं। संक्षेप में दीर्घकारायण मनुष्य के सामान्य चरित्र को व्यक्त करता है।

गौतम और देवदत्त दो अन्य पात्र हैं जो चरित्र की विभिन्नता को व्यक्त करते हैं। गौतम एक आदर्श महापुरुष हैं। वे करुणा, अहिंसा और विश्वमैत्री के साकार रूप कहे जा सकते हैं। अपनी वाणी एवं आचरणों से उक्त आदर्शों का सर्वत्र प्रचार करते हैं। उनका

प्रभाव भी व्यापक है । ठीक इसके विपरीत देवदत्त भिक्षु होते हुए भी खल है और खलनायक के रूप में ही वह नाटक में प्रस्तुत किया गया है । वह कुटिल, कुचक्री और साथ ही व्यवहार-कुशल भी है । गौतम के साथ उसका विरोध है । अपनी विरोध भावना को साकार रूप देने और गौतम को नीचा दिखाने के लिये वह राजनीति में प्रवेश करता है । अपनी कार्यसिद्धि के लिये बड़ी कुशलता के साथ छलना और अजातशत्रु में बिंबसार और वासवी के प्रति द्रोहभावना उत्पन्न करता है और उन्हें राज्यच्युत कर अजातशत्रु के शासन में कौशल से परिषद् की प्रधानता प्राप्त करता है और वासवी और बिंबसार पर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव स्वीकार करवा लेता है । गौतम के प्रति वह घोर असहिष्णु है । उसकी प्रशंसा उसे असह्य है । खल वृत्तियों का उदय, उनका विकास एवं तज्जनित जीवन के स्वरूप और विदूषक परिणाम का स्वाभाविक उदाहरण देवदत्त कहा जा सकता है ।

विदूषक के रूप में नाटककार ने बसन्तक को उपस्थित किया है । किन्तु वह केवल दर्शकों के मनोविनोद के लिये पारसी नाटकों के विदूषकों के समान नहीं आता । वस्तुतः उसकी बातों में हास्य की सामग्री कम और गंभीर बातें अधिक हैं । इस कारण वह नाटक का एक ऐसा पात्र है जो घटनाओं के क्रमबद्ध करने में शृंखला का काम देता है । राजपरिवार का निकटवर्ती होने के कारण वह स्वच्छन्दता-पूर्वक राजपरिवार से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं, परिस्थितियों एवं मनोवृत्तियों की आलोचना करता है और उसके बीच तथ्य प्रकट कर कथाप्रवाह का क्रम ठीक करता है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अनेक बातों की सूचना देता है जो अन्य रूप से सामने नहीं आ सकतीं । इतना सब होते हुए भी उसमें कोई चरित्र नहीं है । वह एक निर्जीव प्राणी है ।

नारी पात्र

नारी पात्र इस नाटक में आठ या नौ हैं । पर मुख्य रूप से वासवी, छलना, मागन्धी और मल्लिका का ही नाटक में कुछ महत्व है । पद्मावती, वासवदत्ता, शक्तिमती और वाजिरा का स्थान अत्यन्त नगण्य है ।

पद्मावती, वासवदत्ता और वाजिरा का चरित्र बहुत हल्के ढंग से हमारे सामने आता है । पद्मावती सरल बालिका, स्नेहमयी बहन और पतिव्रता पत्नी के रूप में चित्रित की गयी है । वह गौतम के उपदेशों से प्रभावित है किन्तु सौत मागन्धी द्वारा प्रपीड़ित है । इन्हीं के बीच उसके चरित्र का विकास हुआ है, जो आदर्श रूप में सामने आता है । वासवदत्ता नाटक में सपत्नी पर स्नेह करनेवाली नारी के रूप में प्रस्तुत की गयी है । मागन्धी पद्मावती से द्वेष करती है और वासवदत्ता पद्मावती से स्नेह । यही उसके चरित्र की विशेषता है । अपने इसी स्नेह के कारण वह पद्मावती की रक्षा करती है ।

वाजिरा प्रसेनजित की पुत्री है । वह रोमांटिक नायिका के रूप में प्रस्तुत की गयी है । बन्दीगृह में पड़े अजातशत्रु पर वह मोहित हो जाती है, मोह के वशीभूत होकर वह अजातशत्रु को जेल से मुक्त करती है और अपने को अजातशत्रु को समर्पित कर देती है । उसके जीवन का जो स्वरूप सामने आया है उसमें चरित्र के विकास का सर्वथा अभाव है । उसका चरित्र एक सामान्य युवती से कुछ अधिक नहीं है ।

शक्तिमती का चरित्र इन तीनों पात्रों से कुछ अधिक निखरा है। उसमें नारीत्व की मात्रा कम और पुरुषत्व अधिक है। और यही उसका चरित्र है। वह स्त्रियों की सी रोदनशीला प्रकृति लेकर भाग्य के भरोसे नहीं बैठती। पति से अपमानित होकर वह प्रतिशोध के लिये कटिबद्ध है। इसके लिये वह अपने पुत्र को प्रोत्साहित कर प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोही बना देती है। वह मल्लिका को भी, द्वेष भावना जगाकर विद्रोही बनाने का प्रयत्न करती है। दीर्घकारायण के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत करने का प्रयत्न करती है। उसमें दूसरों के मनोभावों को पहचानने की अपूर्व क्षमता है, और अपने प्रयत्न में इसका वह पूर्ण प्रयोग करती है। उसके चरित्र में पाशविकता और बर्बरता भरी हुई है। अपने पुत्र की इस प्रतिज्ञा को कि **'शक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त से नहा कर इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी बंदना करूँगा'** वह न केवल बढ़ावा ही देती है वरन् अपने पति की हत्या करने तक जा सकने की भावना भी उसमें छिपी हुई है यह उसके दीर्घकारायण के वार्तालाप से प्रकट है। दीर्घकारायण के पूछने पर **'तब क्या करतीं। अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय घोषणा स्वयं सुनातीं?'** शक्तिमती निःसंकोच उत्तर देती है **'यदि पुरुष इन कामों को कर सकते हैं तो स्त्रियाँ क्यों न करें।'**

वासवी

प्रमुख नारी पात्रों में, जिनकी चर्चा ऊपर हुई है, वासवी एक प्रकार से बिंबसार का पूरक है। उसका चरित्र बिंबसार के चरित्र से भिन्न नहीं है। वासवी में पतिभक्तिके साथ सन्तोष और सहिष्णुता चरम सीमा की है। राज्यसुख और अधिकार की लिप्सा के चक्कर में पड़ती ही नहीं कि वह कर्त्तव्य विमुख हो सके। सपत्नी छलना की दुष्टतापूर्ण कटूक्तियां भी उसकी शांति को विचलित नहीं कर पातीं। बुद्ध का परामर्श पाते ही वह पति से एक कदम आगे दिखाई पड़ती है। पति को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करती है—**'भगवान हम लोगों को तो एक छोटा सा उपवन ही पर्याप्त है। मैं वहीं नाथ के साथ रह कर सेवा कर सकूंगी।''** वह बिंबसार की इच्छा ज्ञात होते ही अपना स्वर्णजटित कंकण भिक्षुओं को उठाकर दे देती है। कहती है **'प्रभु इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रंग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थिचर्म का शरीर तक देखने नहीं पाता।'** किन्तु अधिकार लिप्सा उसके मन में बनी रहती है। वह उससे द्वन्द्व करती दिखाई पड़ती है। उपवन में रहने की इच्छा प्रकट कर आभूषणों का दान करते जहां हम उसे देखते हैं, वहीं उसके मुख से यह भी सुनते हैं: **'जो आपका है वही न राज्य का है, उसी का न अधिकारी कुणीक है और जो कुछ मेरे पीहर से मिला है उसे जब तक मैं न छोड़ूं तब तक तो मेरा ही है। काशी का राज्य मुझे मेरे पिता ने आँचल में दिया है। उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिये।'**

अधिकार की इस भावना के साथ-साथ आत्म सम्मान का भाव भी उसमें बना हुआ है। वह उपर्युक्त वाक्य मान बचाने के लिये कहती है। आगे हम जीवक और बिंबसार की वार्ता के बीच कहते सुनते हैं . **'तब भी आपको भिक्षा वृत्ति नहीं करनी होगी। अभी हम लोगों में वह त्याग, मानापमान से रहित अपूर्व स्थिति नहीं आ सकेगी।'** फिर **'जो शत्रु से अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसको भिक्षावृत्ति पर अवलम्बन करने को हृदय नहीं कहता।'**

वासवी के जीवन में अन्तर्द्वन्द्व बना हुआ है पर वह संयम को सदा बनाये रखती है, सहनशील बनी रहती है और अपने गौरव को गिरने नहीं देती। दूसरे अंक के छठे दृश्य में युद्ध के परिणाम की चर्चा के रूप में छलना, बिंबसार और वासवी में जो वार्तालाप होता है उसमें छलना की कटूक्तियों को सुनकर बिंबसार उत्तेजित हो उठता है पर वासवी अपनी गंभीरता का परिचय देती हुई शांत भाव से यही कहती है **'बहिन, जाओ, सिंहासन पर बैठ कर राज्यकार्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा। और अधिक तुम्हें क्या कहूँ। तुम्हारी बुद्धि।'**

अजातशत्रु के घायल होकर बन्दी होने का समाचार पाते ही उसकी ममता, उसका मातृत्व जाग उठता है। वह यह नहीं सोचती कि वह सपत्नी की सन्तान है, और ऐसी सपत्नी की, जिसने उसे बन्दी बना रखा है; वह पति की सेवा का भार छलना पर छोड़कर कोशल पहुँचती है और अजात को बन्दी रूप में देखकर विचलित हो उठती है और तत्काल मुक्त कराती है।

वासवी को जब हम यह कहते सुनते हैं कि **'चल-चल तुझे पति भी दिला दूँ और बच्चा भी। यहाँ बैठ कर मुझसे लड़ मत कंगालिन।'** तो उसके हृदय की निश्छलता और सरलता मूर्तिमान हो उठती है। उसमें कहीं भी अधिकार का गर्व परिलक्षित ही नहीं होता।

छलना : मगध-सम्राट् बिंबसार की पत्नी, अजातशत्रु की माता और वासवी की सपत्नी है। उसमें पत्नीधर्म का सर्वथा लोप है। उसे अपनी सपत्नी से स्वाभाविक द्वेष है और वह अपने पुत्र अजातशत्रु को सामने रखकर अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करना चाहती है। अपनी इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति में जो कुछ करती है उसमें उसकी क्रूरता और कुटिलता परिलक्षित होती है। उसे पितृकुल का अपने श्वसुर कुल से अधिक अभिमान है। वह अपने पति से कहती सुनाई पड़ती है 'मेरी धमनियों में लिच्छिवी रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है।' वह अपने पुत्र को निरन्तर क्रूर और अविनयी बनाने में लगी दिखाई पड़ती है। वह अपने पति पर शासन करती हुई कहती है **''आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।'**

छलना को राजसत्ता हस्तगत करके ही सन्तोष नहीं होता वरन् वह बिंबसार और वासवी को अप्रत्यक्ष रूप में बन्दी की अवस्था को पहुँचा देती है। उन पर सैनिक नियंत्रण होने लगता है। इतने से ही उसे संतोष नहीं होता। वह वासवी को पग-पग पर अपमानित करने का प्रयत्न करती है। वह इतनी ओछी प्रकृति की है कि अपनी दुर्नीति की तनिक सी सफलता उसे वासवी को व्यंग्यविद्ध करने के लिये उत्साह प्रदान करतो है और वह अकारण ही वासवी के पास जाकर वाक्प्रहार कर आहत करने का असफल प्रयत्न करती है। अजातशत्रु के काशीविजय का जब उसे संदेश मिलता है तो गर्व में भरी हुई अपने को बवण्डर बताती हुई वासवी के पास पहुँचती है और इस विजय की सूचना देती है। और यह सूचना देने स्वयं केवल इसलिये जाती है कि, **'वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और सन्देश भी अच्छी तरह नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य नहीं रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।'** उसके इन शब्दोंमें उसके हृदय का सारा कलुष प्रकट हो गया है। उसकी कुटिलता, क्षुद्रता और प्रमाद सभी

कुछ इन शब्दों में मूर्तिमान होकर अपना स्वरूप प्रकट कर रहे हैं। संकट काल उपस्थित होने पर भी छलना के स्वभाव में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। अपनी दुर्बलताओं को लेकर वह सबल होने का प्रयत्न करती है। द्वितीय युद्ध में जब अजातशत्रु बन्दी हो जाता है तो छलना की सफलताएं हिंसा का रूप ग्रहण कर प्रकट होती है और वह वासवी से कहती है **'मीठे मुंह की डायन, अब तेरी बातों से मैं ठंडी नहीं होने की। ओह, इतना साहस! इतनी कूटचातुरी! आज मैं उसी हृदय को निकाल लूंगी, जिसमें यह सब भरा था। वासवी सावधान हो जा; मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।'** वह अपनी इस हिंसा भावना में इतनी अन्धी हो जाती है कि वह हित अहित की बात को भी भूल जाती है और उसे अपना अहित ही दीख पड़ता है। वासवी कोशल जाकर अजातशत्रु को छुड़ा लाने का यत्न करने की बात कहती है तो उसे जान पड़ता है वह हाथ से निकल कर भागना चाहती है **"यह और भी अच्छी रही, जो हाथ का है उसे भी जाने दूं। क्यों वासवी, पद्मावती को पढ़ा रही हो।'**

अपनी दुर्नीतियों में असफल होने पर वासवी के आंचल में ही उसे त्राण मिलता है। छलना के चरित्र की तुलना शक्तिमती के चरित्र के साथ अच्छी तरह की जा सकती है। दोनों के जीवन और चरित्र में अद्भुत समानता है। दोनों में ही राजलिप्सा, अधिकारलिप्सा और महत्वाकांक्षा इतनी अधिक हैं कि वे अपने अभीष्ट-साधन में विवेकशून्य हो जाती ह। दोनों ही अपने पुत्रों के माध्यम से अपनी इच्छा पूरी करना चाहती हैं और उसके निमित्त दोनों ही अपने पुत्रों में दुर्भावनाएं भरती, उत्तेजित और प्रोत्साहित करती हैं। विवेक का जागरण भी दोनों में समान रूप से ही होता है।

मल्लिका

मल्लिका के रूप में नाटककार ने भारतीय नारी के आदर्श चरित्र को उपस्थित किया है। उसमें पत्नी-मर्यादा का भव्य रूप दिखाई पड़ता है। उसे अपने पति और उसकी वीरता पर अटूट विश्वास है। **"वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकनेमें असमर्थ है।"** और इस विश्वास को लेकरपति को अनुराग और सुहाग की वस्तु मानते हुए उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करती है। महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही वह अपना कर्त्तव्य नहीं मानती। वह कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक भी नहीं होना चाहती। कर्त्तव्य क्या है उससे वह अवगत है और उसे पति के मारे जाने का भय आतंकित कर नहीं पाते। वह कर्त्तव्य पर दृढ़ रहती है। महामाया (शक्तिमती) उसे कोशलनरेश की कुटिलता का परिचय देते हुए बताती है कि बन्धुल की गुप्त रूप से हत्या करने का आदेश शैलेन्द्र को दिया गया है। अतः वह बन्धुल को काशी वापस बुला ले। इतनी भयानक सूचना पाकर भी वह निर्भीक और दृढ़ बनी रहती है; कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान खो नहीं बैठती है। वह कहती है : **'मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय।'**

दुर्भाग्य से मल्लिका का सौभाग्य सिन्दूर पुछ जाता है। वह पति को खो कर नारी के हृदय में जो हाहाकार है, उसका अनुभव करती है। उसको शरीर की धमनियां खींचने लगती हैं। फिर भी इस कठोर स्थिति में वह कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करती। जिस दिन अपने वैधव्य का समाचार सुनती है, उसी दिन उसके घर धर्माचार्य सारिपुत्र और आनन्द भिक्षा करने आते हैं। वह वैधव्य दुख को, जो नारि जाति के लिये कठोर अभिशाप है, अपने अतिथियों पर व्यक्त होने नहीं देती। शांति समन्वित श्रद्धा से अपने अतिथियों को भोजन कराती है। उस समय उसका चरित्र धैर्य और कर्त्तव्य के मूर्तिमान रूप में व्यक्त होता है, और उसके इस रूप को देखकर आनन्द आश्चर्य चकित रह जाते हैं। वस्तुतः ऐसी कठिन अवस्था में ऐसे अगाध धैर्य का परिचय अत्यन्त सबल आत्मा का काम है।

यह जान कर भी कि उसके पति की हत्या का कारण कौन है, उसके मुखमंडल पर ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का चिह्न लेशमात्र भी व्यक्त नहीं होता। उसे अपकार का स्मरण अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं कर पाता। वह प्रसेनजित के अपराध को न केवल उपेक्षित भाव से देखती है वरन् संकट उपस्थित होने पर उसकी सेवा भी करती है और उसे राजधानी तक सकुशल पहुँचा देने की व्यवस्था भी करती है। विरुद्धक ने, शैलेन्द्र के रूप में उसके पति की हत्या की थी। यह भी उससे कदाचित् छिपा नहीं है। फिर भी उसके प्रति मन में मलिन भाव नहीं है। उसकी भी वह निःस्पृह भाव से सेवा करती है।

मल्लिका अपने आचरण और व्यवहार से नाटक के सभी खल-पात्रों को प्रभावित करती है और उन्हें शांति, सौजन्य और मर्यादा का पाठ पढ़ाती है। विरुद्धक और उसकी माता शक्तिमती को प्रसेनजित से क्षमा प्रदान कराती है। संक्षेप में नाटककार ने मल्लिका के रूप में बौद्धधर्म को साकार सामने रखने की चेष्टा की है। संकट में धैर्य धारण करना और शत्रु के प्रति प्रतिकार भावना रखना तो दूर, आवश्यकता पड़ने पर उसकी सेवा करना, और विश्वकरुणा और विश्वमैत्री का परिचय देना किसी सामान्य व्यक्ति से संभव नहीं। प्रतिकूल भावना तो मल्लिका के मन में उठती ही नहीं, अपने मनोभावों पर भी एक मुक्त पुरुष का सा अधिकार उसका है। इस प्रकार मल्लिका में आदर्श अपने अति में व्यक्त हुआ है, जिससे उसका चरित्र असम्भव सा लगता है और वह कल्पना जगत की सी नारी लगती है। कुछ आलोचक मित्रों को नाटककार के इस पात्र के चरित्र में परम स्वाभाविकता और सजीवता जान पड़ती है। और वे गौतम जैसे सर्वगुण सम्पन्न महात्मा के युग में ऐसे पात्र की कल्पना को यथार्थ मानते हैं। वस्तुतः नाटककार स्वयं अपने पात्र की असाधारणता से अपरिचित नहीं था। अपनी कमजोरी को मिटाने के लिये ही उसने अपने पात्रों से बार बार 'देवि' शब्द का प्रयोग कराया है। अपनी भावनाओं को अधिक स्पष्ट करने के लिये उसने श्यामा के मुख से कहलाया है— 'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है?' यही सम्पूर्ण मनुष्यता मल्लिका के रूप में हमारे सामने रखी है।

मागन्धी

प्रस्तुत नाटक में मागन्धी एक ऐसी पात्री है जिसके सम्बन्ध में कहना होगा कि वह प्रसादजी की कल्पना का दुस्साहस है। तीन स्वतंत्र ऐतिहासिक पात्रों के एक होने

की कल्पना करना, दुस्साहस नहीं तो और क्या कहा जायगा, वह भी ऐसा दुस्साहस जो जानबूझकर नाटक में वैचित्र्य लाने के लिये किया गया है। यदि हम यह भुला दें कि मागन्धी के पीछे तीन ऐतिहासिक पात्र हैं तो उसका स्वरूप हमारे सामने एक अद्भुत रूप-चित्र उपस्थित करता है। हम उसको महारानी, वेश्या और एक साधारण आम्रवाटिका की पालिका के रूप में देखते हैं। उसके ये तीनों रूप उसके जीवन-नाटक के तीन अंक से लगते हैं। और इस नाटक का सूत्रधार नियति है। नाटककार ने इस पात्र के चरित्र का विश्लेषण स्वयं उपस्थित किया है और वह पात्र के मुख से ही निम्न लिखित स्वगत में: 'कभी बैलों को चारा देते-देते हाथ नहीं थकते थे, कभी हाथ से जल का पात्र तक उठाकर ने में संकोच होता था, कभी शील का बोझ एक पैर भी महल के बाहर चलने में रोकता था और कभी निर्लज्जा गणिका का आमोद मनोनीत हुआ। ..... वास्तविक रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आयी। अपनी परिस्थिति को संयम में न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया। काल्पनिक सुखलिप्सा में ही पड़ी उसी का यह परिणाम है। स्त्री सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये।'

वस्तुतः मागन्धी रूपगर्विता है। अपने उठते यौवनकाल में बुद्ध द्वारा तिरस्कृत कर दी जाती है। इस तिरस्कार का विक्षोभ ही उसे आजीवन वात्याचक्र की तरह चक्कर लगवाता सा प्रतीत होता है। एक साधारण ब्राह्मण बालिका के रूप में उसका पालन-पोषण हुआ। भगवान बुद्ध द्वारा उसका तिरस्कार हुआ। वह किसी प्रकार उदयन के राजमहल में रानी हो गयी। यहां उसे उस रूप का गौरव तो मिलता है जिसका बुद्ध ने तिरस्कार किया था किन्तु अब वह दरिद्र की कन्या होने के अपमान से दुखी है। उसको मानसिक शांति नहीं है। इसी अशांति को लेकर वह दिखला देना चाहती है कि सुन्दरी स्त्रियां भी संसार में अपना अस्तित्व रखती हैं, इसी दम्भ को लेकर वह आगे बढ़ती है, छल द्वारा पति पर अधिकार जमाना चाहती है और उसके द्वारा वह बदला लेना चाहती है उन लोगों से जो उसको तिरस्कृत करते हैं अर्थात् भगवान बुद्ध और राजमहल की उसकी सपत्नियां। घटनाचक्र से यहां भी उसे विफलता हो जाती है और उसे प्रासाद छोड़कर भागना पड़ता है। प्रासाद से निकलने पर हम उसे श्यामा नाम से काशी की विख्यात वार विलासिनी के रूप में पाते हैं। यहां उसके रूप को गौरव प्राप्त है और दरिद्र की पुत्री कहनेवाला कोई नहीं है। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठ उसके चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं फिर भी उसके हृदय में ज्वाला उठती दिखाई देती है। वह नयी ज्वाला है शैलेन्द्र के प्रति अनुरक्ति की। जिस अनुराग की चाह है उसे वह धन और मान देनेवाले राजपुरुषों और श्रेष्ठियों से प्राप्त नहीं होता और वह एक डाकू से वह प्राप्त करना चाहती है। शैलेन्द्र को वह मुग्ध कर लेती है और उसके प्रति उसका प्रेम स्थिर भी हो जाता है। शैलेन्द्र की रक्षा के लिये वह कुचक्र रचती है। समुद्रदत्त की हत्या कराकर उसे बचा लेती है। पर उसे प्रेम के स्थान पर अन्त में विश्वासघात ही मिलता है। शैलेन्द्र उसकी हत्या के लिये उसका गला घोंट देता है और एक बिहार के निकट डाल देता है। वह मरते-मरते बचती है। भगवान बुद्ध की सामयिक सहायता से वह जी उठती है। इस घटना से वह इतनी प्रभावित

होती है कि वह अपने जीवन से विरत हो उठती है और मल्लिका की छाया में विश्राम लेती है, अन्ततो गत्वा आम की बारी लेकर बेचना आरम्भ करती है और एक दिन ऐसा आता है जब उसे भी बौद्ध संघ को समर्पित कर देती है। इस प्रकार वासनामय नारी के जीवन का चढ़ाव उतार मागन्धी के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु इस चरित्रके नाटकीय स्वरूप का अंत भी नाटककार ने नाटकीय ढंग पर ही किया है। और वह मागन्धी-बुद्ध मिलन के रूप में। मागन्धी कहती है : 'अन्त में मेरी विजय हुई नाथ! मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। किन्तु वह समय ठीक भी नहीं था। आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को, अपना कर धन्य हो रही हूँ।'

सामयिक प्रश्न

प्रसाद जी ने इस नाटक में इन पात्रों के सहारे जहां जीवन के संघर्षों का चित्रण किया है वहीं उन्होंने अवसर निकाल कर कुछ सामयिक प्रश्नों पर भी विचार किया है। कारायण के माध्यम से समाज और जीवन में नारी के अधिकार पर उन्होंने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं:—

'विश्वभर में सब कर्म सबके लिए नहीं हैं। इसमें कुछ विभाग हैं अवश्य। सूर्य जिस आलोक को उष्णतापूर्वक फैलाता है, चन्द्रमा उसी को शीतलता से फैलाता है। क्या उन दोनों में परिवर्तन हो सकता है? मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन संग्राम में प्रकृति पर यथा शक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह, स्नेह, सेवा, करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना का अभय वरदहस्त का आश्रय, मानव समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व शासन की एक मात्र अधिकारिणी, प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचार पूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़ कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़-धूप में क्यों पड़ती हो। तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत का उच्चतम विकास है। जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है। रमणी का रूप, संगठन और आधार भी वैसे ही हैं। उन्हें दुरुपयोग में न ले आओ।'

प्रसाद जी के इन विचारों से नारी समाज कहां तक सहमत होगा और पुरुष समाज अपने स्वभाव विश्लेषण को कहां तक उचित समझेगा, यह कहना कठिन है। पर तथ्य यह है कि आज के स्त्री-पुरुषों के बीच भी यही संघर्ष चल रहा है।

स्वगत-कथन और गान

नाटक के स्वरूप की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। कला की दृष्टि से देखने पर लगता है कि इसमें स्वगत-कथनों और गानों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। शायद ही कोई ऐसा दृश्य हो जिसमें स्वगत न हो। स्वगत भी वाक्य दो वाक्य के नहीं, पूरे लम्बे-लम्बे भाषण हैं। इन स्वगतों के कारण नाटक का सौन्दर्य बहुत कुछ समाप्त हो गया है। यही अवस्था गीतों की भी है। नाटककार होने के साथ साथ प्रसादजी महाकवि थे। उनके लिये यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इन गीतों में पात्रों की मनःस्थिति का चित्रण

है जो काव्य साहित्य के लिये आदर की वस्तु हो सकते हैं परन्तु नाटक में तो वह नौटंकी के अवशेष सा ही लगता है। कविता में कहीं वासवी सुखद गृहस्थी का चित्र खींचती है, कहीं गौतम करुणा अथवा नश्वरता की व्यापकता दिखलाते हैं, कहीं उदयन और कहीं मागन्धी आंख खोलकर या मींचकर कविता में बरते हैं। यह सब यदि गद्य में होता तो अधिक स्वाभाविक होता। कई स्थानों पर पात्र मनोभावोंमें डूब कर गंभीर विश्लेषण करते दिखलाई पड़ते हैं। कविता की दृष्टि से वे सुन्दर कहे जा सकते हैं पर गीतितत्व का उनमें अभाव सा हो गया है। हां, कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं। मागन्धी के मुख से जितने गीत निकले हैं वे सब सरस, भावपूर्ण और संगीत तत्वों से युक्त हैं।

कथोपकथन

कथोपकथन कहीं कहीं आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं। भाषा कहीं जड़ी सी लगती है। प्रथम अंक के आठवें दृश्य में विरुद्धक मल्लिका की कल्पना मल्लिका पुष्प के रूप में करता हुआ भावना को खींचे चला जाता है।

"जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया। मल्लिका, तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कंठ की रसीली तानें पुकार बन कर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हाल कर उतारने के लिए नक्षत्रलोक गयी थीं। शिशिरकणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया। तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत की कुटिल गृहस्थी के आलवाल में आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप में तुम्हें सब ने देखा। यह कैसा इन्द्रजाल था, प्रभात का वह मनोहर स्वप्न था.... और दर्शक उसकी वाणी को सुनकर सोचने लगता है यह क्या कह रहा है।"

इसी प्रकार पत्नियों के बीच खिंचे-खिंचे फिरने वाले उदयन की रूपासक्ति की वाणी सुनिये: **"तो मागन्धी, कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरद्‌चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लांघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि निश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।'**

ऐसी जड़ाऊ भाषा अनेक स्थलों पर पाई जाती है। और यह जड़ाऊपन नाटक को अभिनय गुण से वंचित कर देता है। पर कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रसादजी ने भाषा को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है जो पाठकों और दर्शकों पर चमत्कारिक प्रभाव उपस्थित करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण तीसरे अंक के आठवें दृश्य में वासवी और छलना का वार्तालाप है।

'छलना--(पैरों पर गिरकर) कुणीक की तुम्हीं वास्तव में जननी हो। मुझे तो बोझ ढोना था।

पद्मावती--माँ, छोटी माँ पूछती हूँ क्या मेरा अपराध क्षम्य है।

वासवी--(मुसक्याकर) कभी नहीं, इसने कुणीक को उत्पन्न करके मुझे बड़ा सुख दिया, जिसका इस छोटे से हृदय से मैं उपभोग नहीं कर सकती। इसलिए, मैं इसे क्षमा नहीं करूँगी।

छलना--(हँसकर) तब तो बहिन मैं भी तुम से लड़ाई करूँगी। क्योंकि मेरा दुःख हरण करके तुमने मुझे खोखली कर दिया। हृदय हलका होकर बेकाम हो गया है। अरे सपत्नी का काम तो तुम्हीं ने कर दिखाया। पति को तो वश में किया ही था, मेरे पुत्र को भी अपनी गोद में ले लिया। मैं......

वासवी--छलना, तू नहीं जानती, मुझे एक बच्चे की आवश्यकता थी, इसलिए तुझे नौकर रख लिया था। अब तो तेरा काम नहीं है।

छलना--बहिन, इतनी कठोर न हो जाओ।

वासवी--(हँसती हुई) अच्छा जा, मैंने तुझे अपने बच्चे की धात्री बना दिया। देखो अबको अपना काम ठीक से करना, नहीं तो फिर ले लूं.....

छलना (हाथ जोड़कर) अच्छा स्वामिनी।

✣ ✣ ✣

छलना--बेटी पद्मा, चल। इसी को कहते हैं कि काठ की सौत भी बुरी होती है। देखो निर्दयता, अजात को यहाँ न आने दिया।

वासवी--चल, चल, तुझे तेरा पति भी दिला दूं और बच्चा भी। यहाँ मुझसे लड़ मत कंगालिन।'

काश प्रसादजी इसी प्रकार के कथोपकथन लिख सकने में अधिक समर्थ होते!

✣ ✣ ✣

चन्द्रगुप्त मौर्य

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मगध के नन्दवंश के विनाश और मौर्य साम्राज्य के उद्भव का विस्तृत इतिहास आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है। साथ ही भारत पर यवनों के आक्रमण तथा उसके प्रभाव का असंदिग्ध विस्तृत विवरण भी प्राप्य नहीं है। भारतवर्ष के इतिहास में इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध इतने निकट का है कि एक का लेखक दूसरे की उपेक्षा नहीं कर सकता। जो कुछ इस सम्बन्ध की सामग्री प्राप्त है उसके आधार पर उस काल का जो इतिहास प्रस्तुत किया जा सका है वह इस प्रकार है।

शोण और गंगा के संगम पर स्थित पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। मगध के शासकों में एक शासक नन्द था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बहुत ही क्रूर और विलासी था। उसके शासन के अन्तर्गत जो प्रदेश थे उनमें पिप्पली कानन नामक प्रदेश भी था। इस प्रदेश में भगवान बुद्ध के जीवन काल में एक गणतन्त्रीय राज्य था। मोरिय जाति के क्षत्रिय वहाँ रहते थे। इन मोरियों का उल्लेख दीर्घ निकाय में हुआ है। चन्द्रगुप्त सम्भवतः न्हीं मोरिय क्षत्रियों के किसी सरदार का पुत्र था। किन्तु उसके पूर्वजों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग उसका सम्बन्ध सीधे नन्द वंश से जोड़ते हैं और मुरा नामक दासी का पुत्र बताते हैं। किन्तु यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है। कुछ विद्वानों को स बात के प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि चन्द्रगुप्त का नन्द राजकुमारी से प्रेम था। कालान्तर में उन दोनों का विवाह हुआ और बिन्दुसार उन्हीं की सन्तान था जो चन्द्रगुप्त के पश्चात् मगध का शासक हुआ।

वस्तुस्थिति जो हो, नन्द के कोप के ही कारण चन्द्रगुप्त को मगध छोड़ना पड़ा और वह मगध छोड़कर सुदूर पश्चिमोत्तर सीमा पर पहुँचा। वहाँ उसका परिचय विष्णुगुप्त नामक ाह्मण से हुआ जो तिहास में चाणक्य और कौटिल्य के नाम से प्रसिद्ध है। वह तक्षशिला का निवासी और वहीं के विश्वविद्यालय का स्नातक था। भेंट के सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। चाणक्य का परिचय चन्द्रगुप्त से तक्षशिला में नहीं हुआ था ऐसा भी लोग मानते हैं। कहा जाता है कि चाणक्य शिक्षा समाप्त कर तक्षशिला से मगध की राजधानी में आये और वहां कुछ कारणों से नन्द के विरोधी हो गये और उन्होंने उस वंश को नाश करने की प्रतिज्ञा की। जिन दिनों वे पाटलिपुत्र आये उन्हीं दिनों उन्होंने बालक चन्द्रगुप्त को राज का खेल खेलते देखा था और उससे प्रभावित हुए थे। युवावस्था में चन्द्रगुप्त नन्द का कोपभाजन हो सीमाप्रान्त की ओर चला गया था।

यह वह समय था जब सिकन्दर भारत में वेश कर रहा था। उत्तर पश्चिमी भारत में अनेक स्वतन्त्र शासक और गणतन्त्र राज्य थे। उनमें पारस्परिक एकता न थी और वे एक दूसरे के पतन और विनाश को ही अपनी प्रसन्नता मानते थे। ऐसी द्वेषात्मक स्थिति का सिकन्दर ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। यवन लेखकों के अनुसार सिकन्दर ने धनलोलुप

गान्धार नरेश आंभीक को कुछ धन देकर अपना मित्र बना लिया और उसने सहर्ष सिकन्दर के लिये भारत प्रवेश का मार्ग खोल दिया। और सिकन्दर ने जहलम पार कर पुरु (पोरस) से युद्ध किया। इस युद्ध में यद्यपि पुरु पराजित आ तथापि सिकन्दर को स्वीकार करना पड़ा कि आज हमें अपनी बराबरी का भीम पराक्रमी शत्रु मिला और यवनों को समान बलशालियों से पहली बार युद्ध करना पड़ा। पुरु को पराजित करके उसने उसे व्यास और जेहलम के दोआब का क्षत्रप नियुक्त कर दिया। उसके बाद उत्तर के अन्य छोटे-छोटे राज्यों और शासकों को अपने अधीन करता हुआ सिकन्दर दक्षिण की ओर बढ़ा। उस समय वहाँ अनेक छोटे-छोटे प्रजातन्त्र राज्य थे यथा आग्नेय (अगलस्सोय), मालसव (मल्लोइ), क्षुद्रक आदि। ये गण राज्य वीर होते हुए भी ऐक्य के अभाव में सिकन्दर के सामने न ठहर सके। मालव और क्षुद्रकों ने अपना संयुक्त संघटन किया और एक अनुभवी सेनानायक के अधीन सिकन्दर से मोर्चा लेने की तैयारी भी की पर इसके पूर्व कि उनकी सेना सजग हो सिकन्दर की सेना ने अकस्मात उन पर आक्रमण कर दिया। उस समय वे लोग खेतों में काम कर रहे थे। फिर भी उन्होंने साहस पूर्वक उनका सामना किया और भयकर युद्ध हुआ। सिकन्दर बहुत बुरी तरह घायल हुआ और मूच्छित भी हो गया। इस पर यवन सेना बौखला उठी और उसने नृशंस होकर स्त्रियो और बच्चों की हत्याएँ की। पर इसके बाद सिकन्दर की सेना आगे बढ़ने का साहस न कर सकी और जलमार्ग से अपने देश को वापस लौट गयी। रास्ते में बेबिलू पहुँचते-पहुँचते उसका देहान्त हो गया।

सिकन्दर विजयी योद्धा मात्र न था। उसके चरित्र की अन्य विशेषताएँ भी थीं। साधु और विद्वानों के प्रति उसका आकर्षण था। उनका वह पर्याप्त सम्मान करता था। भारत आने पर तक्षशिला के अनेक साधु महात्माओं से मिला था, उनके आश्रमों पर गया था। यवन लेखकों ने उसकी काफी चर्चा की है। तक्षशिला में जिन लोगों से वह मिला था उनमें एक मुडनिस या दंडमिस भी था। उसके अनेक शिष्यों की यवन लेखकों ने चर्चा की है और लिखा है कि उसके एक शिष्य कालानास को सिकन्दर फुसला कर अपने साथ ले गया था। दंडमिस के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस समय सिकन्दर उसके आश्रम पर गये, उसने उसे उसकी नृशंस विजय के लिये भर्त्सना की थी।

कहा जाता है कि जिस समय सिकन्दर तक्षशिला में था, उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य उससे मिला था। वह सिकन्दर से किस उद्देश्य से मिला था यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, वह उसे मगध पर आक्रमण करने के लिये उत्साहित करने गया था या यवन रणकौशल से परिचित होने, दोनों ही बातें संभव हो सकती हैं पर इतना तो निश्चित ही है कि मगध पर आक्रमण करने के लिये यदि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को उभारा भी हो तो उसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसकी बातों में तीव्र महत्वाकांक्षा होने के कारण दर्प की मात्रा अत्यधिक थी जिससे उसने सिकन्दर को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा रुष्ट कर दिया और चन्द्रगुप्त को वहाँ से चला आना पड़ा। यवन शिविर में रहने का उसे यह लाभ अवश्य मिला कि वह यवन रणनीति से परिचित हो सका और रणनीति का उपयोग उसने अपने जीवन में सफलता पूर्वक किया।

सिकन्दर से असन्तुष्ट होकर चन्द्रगुप्त एक प्रकार से सिकन्दर का शत्रु बन गया। वह और चाणक्य दोनों मिलकर पंचनद के गण राज्यों को सिकन्दर के विरुद्ध संघटित

करने लगे। इस संघटन में उन्हें सफलता मिली। फलस्वरूप सिकन्दर को इरावती से पाटल तक पहुँचने में दस मांस लग गये और सिकन्दर को युद्ध में काफी क्षति उठानी पड़ी। और उसे अपना भारत विजय का विचार त्याग स्वदेश लौटने को बाध्य होना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि पंचनद और सीमाप्रान्त के अनेक शासक चन्द्रगुप्त के अनुगत हो गये। सिकन्दर भारत छोड़ते समय फिलिप को यहाँ का क्षत्रप बना कर छोड़ गया था पर वह इन लोगों द्वारा मारा गया। इस प्रकार उन प्रदेशों से विदेशी सत्ता को उच्छिन्न कर ने के उपरान्त अपने इन अनुगतों की सेना लेकर चन्द्रगुप्त मगध की ओर बढ़ा। इस अभियान में मुद्राराक्षस के अनुसार उसका प्रधान सहायक पर्वतेश्वर था। कुछ लोग उसी को पोरस अथवा पुरु मानते हैं। उन लोगों ने जाकर मगध को घेर लिया।

उस समय मगध की अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। आन्तरिक विग्रह के कारण नन्द का शासन जर्जरित हो रहा था, पन्द्रह दिन के घेरे के बाद उसका पतन हुआ और चन्द्रगुप्त विजयी होकर शासक बना। नन्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि पराजित होने के बाद उसने मगध छोड़कर चले जाने की आज्ञा चाही। सम्भवतः उसे यह स्वतन्त्रता मिल भी गयी थी। किन्तु बाद में किसी प्रकार गुप्त रूप से उसकी हत्या कर दी गयी। इस हत्या के पीछे चाणक्य का हाथ था ऐसा समझा जाता है। चन्द्रगुप्त के शासन को निष्कंटक बनाने के लिये चाणक्य ने पीछे पर्वतेश्वर की भी हत्या करवा डाली। इस हत्या के उद्देश्य के सम्बन्ध में घोर मतभेद है पर उन मतों की चर्चा प्रस्तुत प्रसंग में अनावश्यक है। इतना अवश्य है कि इस हत्या का दोष नन्द के प्रधानामात्य राक्षस के सिर मढ़ा गया।

मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् चन्द्रगुप्त दक्षिण विजय के लिये निकला। दक्षिण में उसने विजय भी प्राप्त की। उसके कुछ समय बाद ही साम्राज्य पर यवन आक्रमण का भय फिर उत्पन्न हुआ। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त उसके सेनापतियों ने विजित प्रान्तों पर अपना अधिकार जमा लिया था और स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे। उनमें सिल्युकस भी था। पारस्परिक संघर्षों के पश्चात् जब सिल्युकस अपना राज्य बवेरू के आस पास स्थापित करने में समर्थ हुआ तो उसमें सिकन्दर की तरह भारत विजय करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई और वह भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अपनी सेना लेकर आ पहुँचा। तत्परता के साथ चन्द्रगुप्त भी उसका मुकाबला करने पहुँच गया। उन दोनों में विकट युद्ध हुआ, ऐसा कहा जाता है यद्यपि उसके सम्बन्ध में कोई वृत्त प्राप्त नहीं है। पर इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि सिल्युकस की पराजय हुई और उसको सन्धि करना पड़ा। सन्धि के फलस्वरूप सिल्युकस को वर्तमान लासबेला, कलात, कन्दहार, हिरात और काबुल के प्रान्त चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित हो गये और यह भी कहा जाता है कि सिल्युकस ने अपनी बेटी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। जनार्दन भट्ट ने अपने 'बौद्ध कालीन भारत' में सिल्युकस की इस बेटी का नाम एथिना दिया है। इसके बाद शान्ति के साथ चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य पर शासन करता रहा।

मुद्राराक्षस और अन्य नाटक

इतिहास की इन्हीं घटनाओं को लेकर डेढ़ हजार वर्ष पूर्व विशाख ने 'मुद्राराक्षस' नाम से नाटक प्रस्तुत किया था। इसमें चन्द्रगुप्त के मगध के शासक हो जाने पर चाणक्य

द्वारा उसे स्थायित्व प्रदान करने के निमित्त किये गये चाणक्य के कूट कार्यों का चित्रण है। उसके पश्चात् इस शताब्दी के आरम्भ में उसका स्वतन्त्र अनुवाद हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उपस्थित किया। बंगला में इन घटनाओं के आधार पर द्विजेन्द्र लाल राय ने एक स्वतन्त्र नाटक प्रस्तुत किया। इस नाटक का भी हिन्दी अनुवाद लोगों के सामने आया है। इन घटनाओं ने प्रसाद जी को भी आकृष्ट किया और उन्होंने सन् १९१२ में 'कल्याणी परिणय' नाम से एक एकांकी प्रस्तुत किया। इस एकांकी में, जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, सिल्युकस की पराजय और उसकी पुत्री के परिणय की कथा है। पीछे चलकर प्रसाद जी ने १९३१ में इसी एकांकी को परिवर्धित रूप में प्रस्तुत नाटक चन्द्रगुप्त मौर्य का रूप दिया। वस्तुतः यह कहना उचित होगा कि इस नये नाटक में उन्होंने अपने उस एकांकी को मिला दिया। ऐसा कहने का कारण यह है कि दोनों की भाषा और पदावली मिलती जुलती है।

इस नाटक में प्रसाद जी ने कम से कम कल्पना का सहारा लेकर ऐतिहासिक तथ्यों पर ही मुख्य रूप से अपने कथानक को खड़ा किया है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि इस नाटक के लिखने से बहुत पूर्व उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में विशद ऐतिहासिक विवेचना की थी। यह विवेचना नाटक के आरम्भ में दी गयी है। इस विवेचना के कारण उनके पास तथ्यों का अभाव न था। नाटक का स्वरूप हमारे सामने इस रूप में रखा गया है:—

चाणक्य अपना अध्ययन समाप्त कर गुरुदक्षिणा रूप में कुछ दिनों तक अध्यापन कार्य करके गुरुकुल से गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिये निकलते हैं। इसी समय उनके पढ़ाये हुए मगधवासी चन्द्रगुप्त और मालव (मल्लोई) राजकुमार सिंहरण भी स्नातक होते हैं। तीनों की वार्तालाप के बीच पश्चिमोत्तर सीमा की राजनीति सामने आती है। इस राजनीतिक चर्चा के बीच ही अकस्मात आम्भीक और उसकी बहन अलका आ जाती है और जो बात आम्भीक के कानों में पड़ी है उससे वह अनुमान करता है कि वे लोग कोई राजनीतिक कुचक्र रच रहे हैं। वादविवाद बढ़ जाता है और तलवार चलाने की नौबत आ जाती है। अलका बीच में पड़ती है और वे लोग चले जाते हैं। चाणक्य भी चन्द्रगुप्त और सिंहरण से तक्षशिला का परित्याग करने को कहते हैं। साथ ही वे भावी घटनाओं की ओर भी इन शब्दों में संकेत करते हैं:—**"आज जिस व्यंग्य को लेकर इतनी बड़ी घटना हो गयी है, वह बात भावी गांधार नरेश आम्भीक के हृदय में शल्य के समान चुभ गई है। पंचनद नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण, वह क्षुद्र हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त का सर्वनाश होगा'।**

चन्द्रगुप्त और चाणक्य मगध लौटते हैं। सिंहरण रुक जाता है। अलका आकर सिंहरण को तक्षशिला परित्याग करने को बाध्य करती है और सिंहरण ऐसा केवल स्नेहानुरोध से करने को बाध्य होता है।

दूसरे दृश्य में हम नन्द को विलास में निमग्न पाते हैं। उसे हम कुसुमपुर के विलासी युवक और युवतियों के बीच पाते हैं। वहीं हम सुवासिनी के प्रति नन्द को आकृष्ट होते देखते हैं और वहीं सुवासिनी के कारण ही राक्षस को अमात्य पद पर नियुक्त किये जाते पाते हैं।

तीसरे दृश्य में चाणक्य मगध लौटकर अपनी भग्न कुटीर में जाता है। अपने पिता की खोज करता है। उसे पता लगता है कि उसका वृद्ध पिता चणक निर्वासित कर दिया गया। निर्वासन का कारण यह था कि उन्होंने मन्त्री शकटार के कारण राजा नन्द के विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने जब सुना कि राजा ने शकटार को बन्दीगृह में बध कर डाला तब उन्होंने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठायी। निदान निर्वासित करके उनकी सम्पत्ति बौद्ध विहार को दे दी गयी। शकटार के परिवार के सम्बन्ध में उसे बताया जाता है कि वह राजकोपानल में जल मरे और उसकी पुत्री सुवासिनी अभिनेत्री हो गयी।

चौथे दृश्य में सुवासिनी के साथ राक्षस को देखते हैं। सुवासिनी राक्षस को बाध्य करती है कि वह राजचक्र में बौद्ध मत का समर्थन करे और इसके बदले में वह उसकी होने की बात कहती है। राक्षस सुवासिनी पर इस दृश्य में पूर्ण रूप से आसक्त है। इसी दृश्य में मगध की राजकुमारी कल्याणी सरस्वती मन्दिर के उपवन में शिविका से उतरती दिखायी गयी है। वह वहाँ दो ब्रह्मचारियों के मुख से मगध नरेश के अत्याचार और विलासिता की बात सुनती है और उससे वह दुखी होती है। इतने में उसे पिंजरे से चीते के निकल भागने का समाचार नेपथ्य से मिलता है और वह कुंज में छिपने का प्रयत्न करती है इतने में एक तीर आकर चीते का सिर भेदन कर देता है और रंगमंच पर धनुष लिये। चन्द्रगुप्त आता है। और कल्याणी और चन्द्रगुप्त का पुराना परिचय ताजा होता है।

पाँचवाँ दृश्य नन्द की राजसभा का है। राक्षस और अन्य सभासदों के साथ वह बैठा है। राक्षस सूचित करता है कि दूत ने लौटकर बताया है कि पंचनद नरेश प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से परिणय नहीं कर सकते। इस समाचार से नन्द और राक्षस दोनों क्रुद्ध होते हैं। इसी समय तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक, जिनमें चन्द्रगुप्त भी है, राजसभा में आते हैं और नन्द वररुचि से उनकी परीक्षा लेने को कहते हैं ताकि निर्णय हो सके कि स्नातकों को भेजने में राजकोष का जो व्यय लगता है उसका सदुपयोग होता है या नहीं। राक्षस इसी बीच कुछ कह देता है जो सहसा प्रवेश करता हुआ चाणक्य सुन लेता है और उसका कटु उत्तर देता है। इस वार्तालाप के बीच जब नन्द को मालूम होता है कि वह ब्राह्मण है तो वह क्षुब्ध हो उठता है। पर उस क्षोभ की परवाह न करके चाणक्य सूचित करता है कि यवनों की सेना निषध पर्वतमाला तक पहुँच गयी है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसन्धि है। सम्भवतः समस्त आर्यावर्त पादाक्रान्त होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतन्त्र हैं, वे उस सम्मिलित पारसिक यवन बल को रोकने में असमर्थ होंगे। अकेले पर्वतेश्वर ने साहस किया है, इसलिये मगध को पर्वतेश्वर की सहायता करनी चाहिये।

इसी समय कल्याणी आकर कहती है--'**मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल कन्या हूँ। उस क्षत्रिय को सिखा दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं है। सेनापति को आज्ञा दीजिये कि आसन्न गांधार युद्ध में मगध की एक सेना अवश्य जाय और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी। पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसको नीचा दिखाऊँगी।**'

चन्द्रगुप्त भी चाणक्य की बात का समर्थन करता है पर नन्द अपमानित अनुभव करने के कारण पर्वतेश्वर की सहायता करने से इनकार कर देता है। और चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त को निर्वासन की आज्ञा देता है। दोनों को प्रतिहारी निकालता है किन्तु चाणक्य रुक कर नन्द वंश के विनाश की भविष्यवाणी करता है। नन्द प्रतिहारी को चाणक्य की शिखा पकड़ कर बाहर करने का आदेश देता है। वहीं चाणक्य प्रतिज्ञा करता है कि वह शिखा को तब तक न बाँधेगा जब तक नन्दकुल निःशेष न होगा।

छठे दृश्य में घटना स्थल मगध से उठकर सिन्धु तट पर जा पहुँचता है। वहाँ हम अलका और मालविका को देखते हैं। मालविका सूचित करती है कि उद्भांड में सिन्धु पर सेतु बन रहा है। युवराज आम्भीक स्वयं उसका निरीक्षण करते हैं, और उस सेतु का अधूरा मानचित्र भी अलका के सम्मुख रखते हैं। इतने में एक यवन सैनिक आकर उस मानचित्र को अलका से लेना चाहता है। और मालविका को गुप्तचर होने के अपराध में बन्दी करना चाहता है। इतने में सिंहरण वहाँ पहुँच जाता है और मानचित्र अलका के हाथ से लेकर उसे निरापद हो जाने को कहता है। उस यवन सैनिक और सिंहरण में युद्ध होता है और सिंहरण घायल होता है पर यवन भी प्रत्याक्रमण के भय से भाग जाता है। सिंहरण मानचित्र लेकर नौका पर बैठ कर चला जाता है उसके साथ परिचारिका के रूप में मालविका भी जाती है। उसके चले जाने पर यवन सैनिक चार अन्य सैनिकों के साथ आता है और अलका को बन्दी बनाने को कहता है। अलका गान्धार नरेश के पास लेजायी जाती है।

सातवें दृश्य मे फिर मगध सामने आता है। वहाँ के बन्दीगृह में चाणक्य दिखाई पड़ता है। उसके पास वररुचि और राक्षस आते हैं। वररुचि उसकी चाटुकारी करके उसे मनाता है कि वह उससे सहायता चाहता है। राक्षस बताता है कि वह उसे तक्षशिला में मगध का गुप्त प्रणिधि बना कर भेजना चाहता है। पर वह इनकार कर देता है और राक्षस उसे अन्धकूप में भेजने की बात कहता है। इतने में चन्द्रगुप्त आकर चाणक्य को छुड़ा ले जाता है।

आठवें दृश्य में बन्दी के रूप में अलका गांधार नरेश के सम्मुख उपस्थित की जाती है। वहीं प्रकट होता है कि बन्दी करने वाला यवनसैनिक सिल्यूकस है। अलका मुक्त करदी जाती है। आम्भीक आकर कहता है कि राज्य में भयानक षड्यन्त्र चल रहा है। तक्षशिला का गरुकुल उसका केन्द्र है। अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुंजी है। अलका इस बात को स्वीकार करती है। वहाँ यह बात भी स्पष्ट रूप से सामने आती है कि आम्भीक पर्वतेश्वर से क्यों रुष्ट है। उसने कायर आम्भीक से अपनी राजकुमारी का विवाह करने से इनकार कर दिया। अलका आम्भीक की भर्त्सना करती है। और फिर गान्धार में विद्रोह मचाने के लिये निकल जाती है। उसके पीछे-पीछे गान्धार नरेश भी राजभार आम्भीक पर छोड़कर अलका को खोजने जाता है।

नवें दृश्यमे हम चाणक्य को पर्वतेश्वर की राजसभा में उपस्थित पाते हैं। मगध के विरुद्ध वह सेना माँगने जाता है। पर्वतेश्वर अपनी एक भी सेना मगध भेजने से इसलिये इनकार करता है कि उसे यवनों से युद्ध करना है। जब चाणक्य यह कहता है कि सहायता मिलती तो सम्भावना इस बात की थी कि मगध की लक्षाधिक सेना यवन युद्ध मे पर्वतेश्वर की

पताका के नीचे युद्ध करती । इस पर वह पूछता है कि मगध विद्रोह का केन्द्र कौन होगा । और जब उसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त तो उसे वृषल बताकर उसका तिरस्कार करता है, साथ ही चाणक्य को अपमानित भी । चाणक्य उसे चेतावनी देता है कि वह पराजित होगा और समग्र आर्यावर्त पादाक्रान्त होगा । पर्वतेश्वर उसकी बातों को उपेक्षा कर देता है ।

दसवे दृश्य में अलका अकेली घूमती दिखाई देती है । अचानक उसे सिल्यूकस मिल जाता है । उसको वह चकमा देकर निकल भागती है । वहीं चन्द्रगुप्त और चाणक्य मंच पर आते हैं । चन्द्रगुप्त थक गया है, उसे प्यास लगी है । उसे चक्कर आता है और वह लेट जाता है । चाणक्य पानी लाने जाता है । एक व्याघ्र समीप आता दिखाई पड़ता है । सिल्यूकस उसे मार डालता है । फिर चन्द्रगुप्त को चैतन्य करने की चेष्टा करता है । चाणक्य जल के छींटे देता है, चन्द्रगुप्त स्वस्थ होता है, उनका परस्पर परिचय होता है और सिल्युकस उन्हें अपने शिविर में ले जाता है । अलका को यह देखकर संदेह होता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त यवनों के साथी हो गये हैं । वह शकाकुल हो उठती है कि अब देश की रक्षा कौन करेगा । गान्धार छोड़ने का निश्चय करती है । पर गान्धार छोड़कर जाने से पूर्व महात्मा दांड्यायन को नमस्कार करने जाती है ।

ग्यारहवें दृश्य में दांड्यायन के आश्रम में एनिसाक्रटीज आता है और सिकन्दर के पास चलने को कहता है । दाण्ड्यायन जाने से इनकार कर देते हैं और वह चला जाता है । उसके जाने के पश्चात् एक ओर से अलका और दूसरी ओर से चाणक्य और चन्द्रगुप्त आते हैं । अलका महात्मा को गान्धार छोड़कर जाने की सूचना देती है । यवनों के हाथ स्वाधीनता बेचकर उनके दान से जीने की शक्ति उसमें नहीं है । जाने से पूर्व वह अपना संदेह दाण्ड्यायन के सम्मुख उपस्थित करती है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य, जिन पर उसका विश्वास था वे अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते हैं । चाणक्य अलका को विश्वास दिलाते हैं कि उसकी शंका निर्मूल है । इसी समय सिकन्दर सिल्युकस, कार्नेलिया, एनासाक्रटीज़ आदि के साथ आते हैं । सिकन्दर दाण्ड्यायन से आशीर्वाद चाहता है । दाण्ड्यायन आशीर्वाद देने में असमर्थता प्रकट करते हैं । वहीं सिकन्दर का चन्द्रगुप्त से परिचय होता है । और सिकन्दर उसे अपने शिविर में निमन्त्रित करता है । वहीं दाण्ड्यायन सिकन्दर को भारतविजय की आकांक्षा के प्रति सावधान करते हैं तथा चन्द्रगुप्त को भावी सम्राट् बताते हैं और एक दिव्य आलोक के साथ प्रथम अंक समाप्त होता है ।

द्वितीय अंक

द्वितीय अंक का आरम्भ कार्नेलिया से होता है । वह उद्भांड में सिन्धु के किनारे यवन शिविर के पास वृक्ष के नीचे बैठी हुई है । उसे यहां का वातावरण मनोरम लग रहा है । वह भारतीय संगीत में अनुरक्त है । वहाँ फिलिप्स आता है और उससे अपना प्रेम प्रदर्शित करता है और ठुकराये जाने पर वह उसके हाथ को जबर्दस्ती पकड़ना चाहता है । वह चिल्लाती है । उसी समय चन्द्रगुप्त उपस्थित हो जाता है और फिलिप्स की गर्दन पकड़कर दबोचता है । वह क्षमा मांगता है । उसके चले जाने पर चन्द्रगुप्त भी सिल्युकस के पास जाता है । कार्नेलिया उनसे यह घटना बता देने को कहती है । यहीं एक छोटे-से स्वगत में कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण प्रकट होता है ।

कार्नेलिया के चले जाने पर इसी दृश्य में कुछ सैनिकों के साथ सिकन्दर आते हैं और दाण्ड्यायन की बातों से मन में उठने वाली शंका को व्यक्त करते हैं। वह यह मानता है है कि भविष्यवाणियाँ सत्य हुआ करती हैं। इसी समय एक ओर से फिलिप्स और आम्भीक और दूसरी ओर से सिल्युकस और चन्द्रगुप्त आते हैं। सिल्युकस और फिलिप्स परस्पर आरोप-प्रत्यारोप करते हैं। फिलिप्स सिल्युकस को षड्यन्त्र में सम्मिलित बताता है और कहता है कि उसकी कन्या दाण्ड्यायन के आश्रम में पढ़ने जाती है, वहीं विद्रोहिणी अलका भी आती है। और जनता में प्रचार किया जाता है कि चन्द्रगुप्त भारत का भावी सम्राट् होगा। सिल्युकस फिलिप्स द्वारा कार्नेलिया के अपमानित किये जाने की बात कहता है। सिकन्दर इस वाद-प्रतिवाद को रोक कर चन्द्रगुप्त से बात करता है। सिकन्दर चन्द्रगुप्त को मगध का सम्राट् बनने के निमित्त अपनी सेना की सहायता देने का प्रलोभन देता है। वह सहायता लेने से इनकार कर देता है। इस पर सिकन्दर क्रुद्ध हो जाता है और गुप्तचर होने का उस पर आरोप करता है। चन्द्रगुप्त कटुता के साथ बातें करता है और आरोप को मिथ्या बताते हुए यवन रणनीति से परिचित हो जाने की बात स्वीकार करता है। सिकन्दर उसे बन्दी कर लेने का आदेश देता है। आम्भीक, फिलिप्स, एनिसाक्रटीज़ उस पर टूट पड़ते हैं पर चन्द्रगुप्त उन तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है।

दूसरे दृश्य में जेहलम के तट पर चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अलका दिखाई पड़ते हैं। वहीं वृद्ध गान्धारराज के साथ सिंहरण आता है। पिता-पुत्री का मिलन होता है और अलका गान्धारराज को लेकर जाती है। चाणक्य शेष लोगों को छद्म वेश से पर्वतेश्वर की सेना में प्रवेश करके, कल्याणी के गुल्म के साथ, जो पुरुष वेश धारण करके एक गुल्म सेना लेकर पर्वतेश्वर की सहायता के लिये आयी है, होने का आदेश देते हैं।

इसी दृश्य में पुरुष वेश में कल्याणी सेनापति के साथ वार्तालाप करती आती है और वहीं पर्वतेश्वर भी आता है और दूर स्थित गल्म को दिखाकर पूछता है कि किसकी सेना है। उसे ज्ञात होता है कि वह मगध की सेना है। वीर युवकों का एक दल स्वेच्छा से इस युद्ध में भाग लेने आया है। उसी समय चाणक्य आदि नट-नटी, सँपेरा, ब्रह्मचारी आदि का वेश धारण करके आते हैं और अपना खेल दिखाने की चेष्टा करते हैं। वार्तालाप के बीच वे लोग सूचित करते हैं कि यवन सेना रात में वितस्ता पार हो गयी है। उन्हें गुप्तचर समझ कर बन्दी करने का आदेश पर्वतेश्वर देता है। बन्दी होकर भी चन्द्रगुप्त सचेत करता है कि सावधानी से सैन्य-परिचालन हो क्योंकि यवन-रण-नीति भिन्न है। पर्वतेश्वर के चले जाने पर कल्याणी के सम्मुख चद्रगुप्त अपने को प्रकट कर देता है।

तीसरा दृश्य युद्ध का दृश्य है। एक ही पट पर अनेक दृश्य उपस्थित किये गये हैं। पर्वतेश्वर और सेनापति सामने आते हैं। उनके वार्तालाप से युद्ध की अवस्था प्रकट होती है। वे हटते हैं। कल्याणी और चन्द्रगुप्त सामने आते हैं और कल्याणी चन्द्रगुप्त को मागध सेना का संचालन भार सौंपती है। वे हटते हैं। सिल्युकस और पर्वतक युद्ध करते सामने आते हैं। सिल्युकस घायल होकर हटता है। सेनापति भी भागती सेना को रोकने के लिये मंच से हटता है और सिंहरण और अलका सामने आते हैं। इसी समय सिल्युकस और फ़िलिप्स आते हैं और युद्ध होता है। सिंहरण और पर्वतेश्वर युद्ध में गिरते हैं। इसी समय चन्द्रगुप्त और कल्याणी प्रवेश करते हैं। दूसरी ओर से सिकन्दर आता है और युद्ध बन्द

करने का आदेश देता है। वह पर्वतेश्वर के युद्ध से प्रभावित है। वह पर्वतेश्वर से पूछता है कि अब मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ। उसका उत्तर होता है—जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है। सिकन्दर मैत्री करने की उत्सुकता प्रकट करता है। युद्ध वहीं समाप्त हो जाता है। कल्याणी इसे पर्वतेश्वर का पतन समझती है और निराश होकर अपने को प्रकट करती है। चन्द्रगुप्त और कल्याणी चले जाते हैं। सिंहरण और अलका को आम्भीक बन्दी करता है।

चौथा दृश्य मालव में सिंहरण के उद्यान का है। वहाँ चन्द्रगुप्त मालविका से मग्न प्रलाप करता दिखाई पड़ता है। इतने में अचानक चाणक्य आ जाते हैं। वे चन्द्रगुप्त की इसके लिये भर्त्सना करते हैं। चन्द्रगुप्त जो कुछ करके आया है उसका विवरण उपस्थित करता है। वह बताता है कि यवन सेना में यह सुनकर कि शतद्रु तट पर कई लक्ष मगध सेना उनकी प्रतीक्षा कर रही है, आतंक छा गया है और उनमें विद्रोह फैल गया है। उन्होंने विपाशा को पार करने से इनकार कर दिया है। सिकन्दर की सेना रावी के जलमार्ग से लौटने वाली है। इन्हीं बातों में क्षुद्रकों की तैयारी और मालवों की एकता की बात प्रकट होती है। चन्द्रगुप्त मागध सेना को शतद्रु और विपाशा के बीच अत्यन्त सकरे भूभाग में रखने का आदेश देता है और कल्याणी को अपनी सेना छोड़ जाने का आदेश भेजता है। मालविका यहीं चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकृष्ट सी दिखाई देती है।

पांचवें दृश्य में पर्वतेश्वर के बन्दीगृह में सिंहरण और अलका दिखाये गये हैं। अलका चाणक्य के चर द्वारा प्राप्त सन्देश सिंहरण को बताती है कि सिकन्दर की सेना रावी पार हो रही है। पंचनद में सन्धि हो गयी, अब यवन लोग निश्चिन्त होकर आगे बढ़ना चाहते हैं। उधर क्षुद्रकों और मालवों में सन्धि हो गयी है। चन्द्रगुप्त को उनका संयुक्त सेनापति बनाने का उद्योग हो रहा है। सिंहरण शीघ्र मालव पहुँचने की उत्सुकता प्रकट करता है। अलका स्मरण दिलाती है कि वह बन्दी है। अलका यह भी बताती है कि आम्भीक और पर्वतेश्वर में मैत्री हो गयी और सिकन्दर ने उनके विरोध को मिटाने के लिये पर्वतेश्वर की बहन की शादी आम्भीक से करा दी। और आम्भीक की इच्छा है कि मैं पर्वतेश्वर की पत्नी बन जाऊँ इसीलिये मुझे बन्दी बनाये हुए हैं। वह इस सूचनाके साथ पहले तो सिंहरण के साथ मजाक करती है फिर कहती है—चाणक्य की आज्ञा है कि पंचनद के सूत्र संचालन के निमित्त थोड़ी देर के लिये मैं वहाँ की रानी बन जाऊँ।

उसी के बाद पर्वतेश्वर वहाँ आता है और अलका उसे बातों में करके यह स्वीकार कराती है कि सिंहरण अपने मालव की रक्षा के लिये मुक्त कर दिया जायेगा और पर्वतेश्वर की सेना यवनों की सहायक न होगी। साथ ही सिकन्दर के भारत रहने तक अलका स्वतन्त्र रहेगी।

छठा दृश्य मालवों के स्कान्धावार में होती हुई युद्ध परिषद् का है। सिंहरण आते हैं और चाणक्य परिषद् को समझाते हैं और चन्द्रगुप्त क्षुद्रक मालव की संयुक्त सेना का सेनापति होना स्वीकार करता है।

सातवें दृश्य में पर्वतेश्वर अलका के पास आता है और सिकन्दर को आठ सहस्र सेना लेकर रावी तट पर मिलने का आदेश सुनाता है। पर्वतेश्वर असमंजस में है और वह अलका

से सलाह माँगता है। अलका इसे भाग निकलने का अवसर समझ कर उसकी बात स्वीकार कर लेती है पर साथ ही सेना के साथ स्वयं चलने की बात भी कहती है।

आठवें दृश्य में मालवों की युद्ध तैयारी दिखायी गयी है। चन्द्रगुप्त और सिंहरण साथ हैं। एक यवन राजदूत आता है और सिकन्दर का आदेश सुनाता है कि मालवनेता मुझसे आकर भेंट करें और मेरी जलयात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें। सिंहरण उत्तर देता है कि सिकन्दर से मालवों की ऐसी कोई सन्धि नहीं हुई है जिससे इस कार्य के लिये वे बाध्य हों। मालव सन्धिपरिषद् अथवा रणक्षेत्र में भेंट करने के लिये सदैव प्रस्तुत हैं।

नवें दृश्य में कल्याणी और चाणक्य दिखाये गये हैं। कल्याणी मगध वापस जाना चाहती है। अमात्य राक्षस आये हुए हैं। चाणक्य कल्याणी को चन्द्रगुप्त का स्मरण कराता है और कहता है कि उनका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। राक्षस के आने पर चाणक्य अपनी बातों से राक्षस और कल्याणी को ससैन्य रुकने को विवश कर देता है। यहीं वह यह सूचित करता है कि सिकन्दर की जलयात्रा में इतना अधिक विघ्न उत्पन्न हुआ कि उसे स्थल मार्ग से मालवों पर आक्रमण करना पड़ा पर वह उनके चंगुल में फंस गया। वह राक्षस को अपनी सेना लेकर विपाशा तट की रक्षा का आदेश देता है और स्वयं क्षुद्रकों की सेना के साथ पीछे से आक्रमण करने जाता है। फिर लौटकर राक्षस को सूचित करता है कि नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अतः अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक नहीं है।

इस अंक के अन्तिम दृश्य में मालव दुर्ग पर यवन सैनिकों का आक्रमण दिखाया गया है। मालव स्त्रियाँ उनका प्रतिरोध करती हैं। सिकन्दर स्वयं दुर्ग में प्रवेश करता है और सिंहरण के हाथों घायल होता है। सिल्युकस की सेना दुर्ग में घुसती है पर पीछे से क्षुद्रकों की सेना द्वारा घेर ली जाती है। चन्द्रगुप्त कृतज्ञता चुकाने के लिये सिल्युकस को मार्ग दे देता है और कहता है कि सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना।

तृतीय अंक

तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में विपाशा तट के शिविर में राक्षस टहलता हुआ दिखाया गया है। एक ओर तो वह यह अनुभव करता है कि चाणक्य ने ठीक ही कहा था कि आक्रमण-कारी किसी प्रकार का भेदभाव न करेंगे। यदि मालव और क्षुद्रक परास्त हो जाते और यवन सेना शतद्रुपार कर जाती तो मगध का नाश निश्चित था। दूसरी ओर वह अपने प्रति मगध नरेश के सन्देह की बात और उसके लौट आने के लिये बार बार आदेश आने की बात सोचता है। इतने में एक चर आकर सूचित करता है कि सुवासिनी पर आपसे मिलकर कुचक्र रचने का अभियोग है और वह बन्दी कर ली गयी है। आपको बन्दी करके लाने वालों को पुरस्कार की घोषणा की गयी है। वह इस समाचार को सुनकर क्रुद्ध होता है, पश्चात्ताप करता है। इतने में कुछ सैनिक आकर राक्षस को गिरफ्तार करने का यत्न करते हैं और कुछ दूसरे सैनिक आकर उन सैनिकों को बन्दी कर लेते हैं। राक्षस आश्चर्य में पड़ जाता है। उसे बताया जाता है कि चाणक्य के आदेश से रक्षा करने वाले वे रक्षक हैं। वह चाणक्य का कृतज्ञ होता है। इन्हीं सैनिकों से उसे पता लगता है कि अलका

का सिंहरण से विवाह होने वाला है, यवनों ने मालवों से सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा है। सिकन्दर ने दुर्ग के भीतर अपना प्रतिरोध करने वाली अलका को देखने की इच्छा प्रकट की है। मालवों और यवनों का सम्मिलित उत्सव होगा और परिणय सम्पन्न कराने सिकन्दर स्वयं आवेगा।

दूसरे दृश्य में पर्वतेश्वर सिंहरण अलका के विवाह और सिकन्दर द्वारा उनके आदर और अपनी उपेक्षा से आहत होकर आत्महत्या करना चाहता है। चाणक्य आकर उसे रोकता है और उसे सिंहरण को भाई और अलका को बहन मानने को कहता है। इसी दृश्य में वृद्ध गान्धारनरेश आते हैं और चाणक्य उन्हें कन्या सम्प्रदान के लिये ले जाता है। इन लोगों के हटते ही इसी दृश्य में चन्द्रगुप्त कार्नेलिया के साथ दिखाया जाता है। चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया के प्रति आकर्षण और कार्नेलिया का भारत भूमि के प्रति मोह प्रकट किया गया है। बातों में यह भी बताया गया है कि सम्राट् ने सिल्युकस को भारत का क्षत्रप नियुक्त न कर फिलिप्स को किया है इसलिये वह भारत में न रह सकेगी। इसका उसको दुःख है। फिलिप्स उसी समय आ जाता है और कार्नेलिया से प्रणय की बात दुहराता है। कार्नेलिया उसको दुतकारती है। फिलिप्स कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त से प्रेम करते नहीं देख सकता इसलिये वह चन्द्रगप्त को द्वन्द्व युद्ध के लिये ललकारता है और चन्द्रगुप्त उसे स्वीकार कर लेता है। उसके बाद कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से विदा लेती है। इसी स्थान पर तीसरा दृश्य सामने आता है। राक्षस, कल्याणी और चाणक्य एक साथ दिखाई देते हैं। कल्याणी को चाणक्य मगध लौटने की आज्ञा देता है। राक्षस अभी वापस जाना नहीं चाहता। चाणक्य सुवासिनी से भेंट कराने की बात कर उससे प्रत्यय के रूप में उसकी अंगुलीय मुद्रा ले लेता है।

तीसरा दृश्य सिकन्दर का भारत से विदा होने का है। वहीं चाणक्य पर्वतेश्वर से मगध के विरुद्ध सहायता करने का वचन लेता है।

चौथे दृश्य में राक्षस को अपने एक चर से पता लगता है कि चाणक्यने उसके साथ प्रवंचना की है। महाराज नन्द का कुछ भी क्रोध उसके ऊपर नहीं है और सुवासिनी बन्दी है। तत्काल राक्षस मगध के लिये रवाना हो जाता है। इसी दृश्य में पर्वतेश्वर को चाणक्य प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाता है। पर्वतेश्वर उस पर दृढ़ रहते हुए मगध आक्रमण में सहयोगी बनता है और सिंहरण को वह अपना महाबलाधिकृत बनाता है। चन्द्रगुप्त फिलिप्स से द्वन्द्व युद्ध करने रुक जाता है। चाणक्य उसे यों भी मगध जाने देना नहीं चाहता था।

पांचवां दृश्य नन्द की रंगशाला का है। नन्द सुवासिनी के साथ है। वह सुवासिनी को अपनाना चाहता है पर सुवासिनी बताती है कि वह अमात्य राक्षस की धरोहर है, सम्राट् की भोग्या नहीं बन सकती। सम्राट् इस बात की उपेक्षा कर बलपूर्वक पकड़ लेता है। अकस्मात् राक्षस आ जाता है और नन्द लज्जित हो जाता है। राक्षस सुवासिनी को लेकर चला जाता है। इसी दृश्य में आरम्भ में नन्द सुवासिनी से बात करते हुए प्रकट करता है कि उसने सेनापति मौर्य को अपने विद्रोही पुत्र चन्द्रगुप्त की सहायता पहुँचाने के अपराध में आजीवन अन्धकूप दंड दिया है।

छठे दृश्य में चाणक्य नन्द के प्रति जनता के असन्तोष को अपने कार्य के उपयुक्त समझकर मालविका को नर्तकी बनाकर नन्द की रंगशाला में भेजता है। उसे राक्षस की मुद्रा और एक पत्र देता है और कहता है कि सुवासिनी के साथ राक्षस का विवाह सम्पन्न होन से ठीक एक घड़ी पूर्व यह पत्र नन्द के हाथ में दे देना। पूछने पर बता देना कि अमात्य राक्षस ने सुवासिनी को देने को कहा था। परन्तु मुझसे भेंट न हो सकी इसलिये लौटाने के लिये लायी हूँ। इसके साथ ही वह यह भी सूचित करता है कि सिंहरण को लिख दिया है कि चन्द्रगुप्त को यहाँ भेज दें। वह सब सेना को वणिकों के रूप में धीरे-धीरे कुसुमपुर में एकत्र करना चाहता है। जिस दिन राक्षस का विवाह होगा उसी दिन विद्रोह होगा और चन्द्रगुप्त राजा होगा।

चाणक्य वहीं रहता है। इतने में एक ढह की मिट्टी गिरती है और उसमें से शकटार बनमानुष के समान निकलता है और अचेतन होकर गिर पड़ता है। चाणक्य बल निचोड़ कर चेतन करता है। शकटार नन्द से प्रतिशोध चाहता है। चाणक्य उसे अपना परिचय देकर अपने साथ ले जाता है।

सातवें दृश्य में वररुचि और सेनापति मौर्य की स्त्री नन्द के सम्मुख उपस्थित होते हैं। मौर्यपत्नी अपने पति को छोड़ जाने का अनुरोध करती है। पर नन्द उन दोनों को भी बन्दी कर लेता है। इसके पश्चात् मालविका को एक प्रतिहार लेकर आता है। वह सन्दिग्ध अवस्था में राजमन्दिर में घूमती हुई पकड़ी गयी है। वह बताती है कि वह शतद्रु तट से आयी है। उसे किसी ने, जिसका वह नाम नहीं जानती, यह पत्र देकर सुवासिनी नामक स्त्री के पास भेजा है। रास्ते म वह बीमार हो गयी जिससे पत्र पहुँचने म विलम्ब हो गया। वह पत्र और मुद्रा नन्द को दे देती है। पत्र पढ़कर नन्द क्रुद्ध होता है। मालविका बन्दी की जाती है और सुवासिनी और राक्षस को, वे चाहे जिस भी अवस्था मे हों, लाने का आदेश होता है।

आठवें दृश्य में पर्वतेश्वर चाणक्य को बताता है कि द्वन्द्व युद्ध में फिलिप्स मारा गया। चन्द्रगुप्त सार्थवाह के रूप में युद्ध-व्यवसायियों के साथ आ रहे हैं। अलका आकर मालविका के बन्दी होने तथा राक्षस आदि के शीघ्र बन्दी किये जाने की सूचना देती है। इसी बीच गफा द्वार से मौर्य, मालविका, शकटार, वररुचि और चन्द्रगुप्त जननी बाहर आते हैं। चन्द्रगुप्त का माता-पिता से मिलन होता है। कुछ नागरिक क्षुब्ध मंच पर आते हैं और शकटार उन्हें और भी उत्तेजित करते हैं और विद्रोह का आरम्भ हो जाता है।

नवें दृश्य में बन्दी रूप में राक्षस और सुवासिनी नन्द के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं और नन्द उन्हें अन्धकूप में डालने का आदेश देता है। इतने में क्षुब्ध नागरिक वहाँ आते हैं और राक्षस को बन्दी देख उत्तेजित हो जाते हैं तथा न्याय की मांग करते हैं। पहले वह उत्तेजित होता है।इतने में चन्द्रगुप्त आ जाता है और कहता है कि पशु बनने का अवसर न दीजिये। नन्द आसन्न संकट देखकर कहता है कि हमने तुम लोगों को क्षमा कर दिया पर शकटार कहता है कि '**क्षमा कौन करेगा ? तुम ! कदापि नहीं। तुम्हारे घृणित अपराधों का न्याय होगा।**' यह सुनकर नन्द फिर उत्तेजित हो जाता है। संघर्ष होता है, अन्त में नन्द

बन्दी हो जाता है। इतने में चाणक्य आ जाता है और नन्द के ऊपर अनेक अभियोग लगाता है और उस पर विचार करने की बात कहता है। जनता हल्ला मचाती है, वध करने की मांग करती है। पर्वतेश्वर कल्याणी को बन्दी बनाकर लाता है। नन्द कल्याणी के साथ जंगल में जाकर तपस्या करने की बात कहता है और नन्द जनता से इसकी आज्ञा देने को कहता है पर इस बीच मे शकटार छुरा निकाल कर नन्द की हत्या कर देता है। चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राक्षस, सुवासिनी और कल्याणी बन्धन मुक्त किये जाते हैं। राक्षस के परामर्श से परिषद् की स्थापना होती है। राक्षस, वररुचि, शकटार, चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सम्मिलित परिषद् की घोषणा नागरिक करते हैं पर चाणक्य एक सबल और सुनियन्त्रित शासक की आवश्यकता बताता है और चन्द्रगुप्त शासक घोषित होता है। जय घोष के साथ अंक समाप्त होता है।

चतुर्थ अंक

चतुर्थ अंक का आरम्भ कल्याणी के साथ मगध के राजकीय उपवन मे होता है। उसे इस बात का दुख: है कि उसके जीवन के दोनों स्वप्न पूरे न हो सके। उसके दोनों स्वप्न थे चन्द्रगुप्त की छवि और पवतेश्वर से प्रतिशोध। उसके मन में जीवन के प्रति द्वन्द्व है। इसी समय पर्वतेश्वर वहां आता है। चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाये जाने से वह क्षुब्ध है। वह आधे मगध पर अपना अधिकार समझता है और वह उसे प्राप्त करने के लिये प्राणपण मे सचेष्ट होना चाहता है। वह कल्याणी का परिचय पाकर उसे अपनाने की चेष्टा करता है। वह उसे पकड़ता है और कल्याणी उसकी हत्या कर डालती है। उसी समय चन्द्रगुप्त वहां आ जाता है। कल्याणी परिस्थिति का परिचय देते हुए प्रकट करती है कि उसने चन्द्रगुप्त को वरण किया था किन्तु पिता का विरोधी होने के नाते उसने उस प्रेम पीड़ा को कुचल डाला। उसके पश्चात् वह आत्महत्या कर लेती है और चाणक्य आकर कहता है कि अब तुम निष्कंटक हुए। वह चन्द्रगुप्त को दक्षिणापथ जाने का आयोजन करने का आदेश भी देता है।

दूसरे दृश्य में राक्षस और सुवासिनी वार्तालाप करते दिखाई पड़ते हैं। सुवासिनी कहती है कि विवाह के लिये अब पिता की अनुमति आवश्यक हो गयी है। वह साथ ही स्पष्ट करती है कि वह उसके प्रणय को अस्वीकार नहीं करती। पर राक्षस को चाणक्य के प्रति सन्देह होता है क्योंकि वह सुवासिनी का बाल-परिचित है। उसे भय है कि शकटार उसे सुवासिनी को न सौंपेगा। वह चाणक्य से टक्कर लेने की बात सोचता है। सोचता है कि यदि चन्द्रगुप्त सम्राट् हो सकता है तो दूसरे लोग भी उसके अधिकारी हो सकते हैं। वह कल्याणी की मृत्यु से नागरिकों में फैली उत्तेजना का लाभ उठाना चाहता है।

तीसरे दृश्य में मन्त्रिपरिषद् की बातों से प्रकट होता है कि चाणक्य की राय है कि विजयोत्सव न मनाया जाय। मौर्य सेनापति और उसकी पत्नी वहाँ आते हैं और इस बात पर क्षोभप्रकट करते हैं। चाणक्य अपनी बातों पर दृढ़ है। मौर्यपत्नी इसे दासता समझतीहै और मानती है कि हम लोग बन्दी हैं। मौर्य इस पर कुछ क्रुद्ध हो कर चला जाता है। चाणक्य

को इसके पीछे किसी नये अध्याय के खुलने की बात दिखाई देती है। इतने में सुवासिनी आती है। उससे राक्षस ने चाणक्य द्वारा शकटार के अपमानित किये जाने की बात कह दी है। वह चाणक्य से इसका कारण पूछती है। चाणक्य अपनी सफाई देता है। सुवासिनी को देखकर उसका मन दुर्बल हो उठता है। सुवासिनी उसे सजग करती है। यहीं उसे समाचार मिलता है कि सम्राट् के माता-पिता नगर छोड़कर चले गये। उसे चर आकर वाह्लीक में सिल्युकस की गतिविधि से परिचित कराते हैं। युद्ध की तैयारी हो रही है। मालविका आकर सूचित करती है कि चन्द्रगुप्त को दक्षिणापथ में अभूतपूर्व सफलता मिली है और वह आदेश पाकर सूदूर दक्षिण न जाकर लौट रहे हैं। चाणक्य मालविका को बताता है कि पाटलिपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है। साथ ही चन्द्रगुप्त की रक्षा का भार भी उस पर सौंपता है।

प्रकोष्ठ में चन्द्रगुप्त और मालविका बातें करते हुए चौथे दृश्य में दिखाये गये हैं। यहाँ उन दोनों का प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। मालविका चन्द्रगुप्त को 'प्रियतम' कहकर सम्बोधित करती है।

प्रतिहारी मालविका से आकर कुछ कहती है और मालविका चन्द्रगुप्त से कहती है कि यह प्राचीन राज-मन्दिर अभी परिष्कृत नहीं है इसलिये उसने चन्द्र-सौध में उसके सोने का प्रबन्ध किया है। चन्द्रगुप्त के शयन के निमित्त चले जाने पर मालविका वहाँ एकाकी रह जाती है। उसके स्वगत से ध्वनित होता है कि उसका अन्त निकट है।

पांचवें दृश्य में चन्द्रगुप्त चाणक्य से अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछता है। चन्द्रगुप्त को यह असह्य है कि चाणक्य साम्राज्य का ही शासन नहीं करता वरन् कुटुम्ब पर भी नियन्त्रण रखता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की बातों से रुष्ट होकर चला जाता है। सिंहरण आकर सूचित करता है कि कुछ विद्रोही और षड्यन्त्रकारी पकड़े गये हैं। मालविका उसके (चन्द्रगुप्त के) परिच्छद पहन कर सोयी थी। उन्होंने उसकी हत्या कर डाली। षड्यन्त्र कारियों का नेता राक्षस भाग गया। सिंहरण को जब पता लगता है कि चाणक्य चले गये तो वह भी उनकी खोज में चला जाता है। चन्द्रगुप्त अकेला रह जाता है।

छठा दृश्य सिन्धु तट पर पर्णकुटी का है। चाणक्य और कात्यायन की बातचीत में ज्ञात होता है कि गान्धार में उपद्रव हो रहा है। और इस उत्पात के मूल में राक्षस है। वह वहाँ सिल्युकस की पुत्री को पढ़ाता है। चाणक्य कात्यायन को मगध भेजता है और मगध का भार उस पर और शकटार पर छोड़ता है। चन्द्रगुप्त को भेजने के लिये आदेश देता है और सुवासिनी को भी भेजने को कहता है। कात्यायन चाणक्य से चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह करा देने के लिये कहता है। चाणक्य उसे स्वीकार कर लेता है। कात्यायन जाता है।

आम्भीक चाणक्य के पास आता है। चाणक्य आम्भीक की भर्त्सना अपने व्यंग्य वाक्यों से करता है। आम्भीक अपने पूर्व कृत्यों से लज्जित है। वह चाणक्य के आदेशों को स्वीकार करता है और यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता है। अलका तक्षशिला के नागरिकों में उत्तेजना फैलाती फिरती है। वह सिंहरण के साथ चाणक्य के पास आती है। उसके सामने आम्भीक कर्त्तव्य पालन की शपथ लेता है।

सुवासिनी आती है। उसे उसके पिता ने भेजा है। चाणक्य उसे बताता है कि वह यवन सेनानी है और तुम मगध की मन्त्रिकन्या। फिर पूछता है कि उससे परिणय करोगी। सुवासिनी इनकार कर देती है। वह चाणक्य की ओर आकृष्ट सी जान पड़ती है। पर चाणक्य बताता है कि उसका स्वप्न टूट गया था। उसके एक भ्रूभंग ने उसे भंग कर दिया। उसके लिये सुवासिनी क्षमा चाहती है। पर सबके कल्याण के लिये वह राक्षस के साथ विवाह करने पर जोर देता है। इसके बाद वह सुवासिनी को बन्दिनी बन कर यवन-शिविर में जाने और राक्षस को देशभक्त बनाने तथा राजकुमारी कार्नेलिया की पूर्व स्मृति में आहुति देन को कहता है और यह पता लगाने को कहता है कि वह चन्द्रगुप्त से विवाहित होकर सुखी हो सकेगी या नहीं। चाणक्य उसे समझाता है और अपने प्रति विरक्त करता है।

सातवें दृश्य में कार्नेलिया राक्षस को देशद्रोही और देश के प्रति कृतघ्न कहती है। वह कृतज्ञता को पुरुषत्व का चिह्न बताता है। वह प्रतिशोध चाहता है। कार्नेलिया से सिल्युकस की बातचीत होती है। वह उसे महत्वाकांक्षा से दूर रहने को कहती है। पर वह वीरता को महत्व देता है। वह उसे अपने साथ युद्ध में चलने को कहता है। सिल्युकस के सामने वस्तुस्थिति इस प्रकार है कि आम्भीक युद्ध में तटस्थ रहेगा। चाणक्य चन्द्रगुप्त से क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है। पंचनद में चन्द्रगुप्त का सहायक कोई नहीं। उसके सामने है सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य, उससे बड़ी विजय।

आठवें दृश्य में चन्द्रगुप्त और सैनिक पथ में बात करते हैं। सिंहरण ने पत्र भेजा है कि वे अपना अधिकार सौंप कर मुक्त होना चाहते हैं। चन्द्रगुप्त सेनापति का अधिकार स्वयं लेता है और सिंहरण को मुक्त करने का आदेश देता है। आम्भीक के सम्बन्ध में उसे ज्ञात होता है कि उसने यवनों से कहा है कि सेना उसकी सीमा से जा सकती है पर युद्ध के लिये सैनिक न देगा क्योंकि उसे उन पर विश्वास नहीं है। चन्द्रगुप्त शकटार के नाम पत्र देता है। उसे सैनिक, शस्त्र और अन्न चाहिये।

नवां दृश्य यवन-शिविर का है। सुवासिनी बन्दिनी करके कार्नेलिया के पास लायी जाती है। कार्नेलिया उसे अपनी सखी बना लेती है। उनके बीच कुछ सरस वार्तालाप होता है। सिल्युकस आकर सूचित करता है कि वह चन्द्रगुप्त से युद्ध करने जा रहा है। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के अपने प्रति किये गये सत्कार्यों की चर्चा करती है। सिल्युकस कहता है कि मैं चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना दूंगा। बदला चुक जायगा। मैं हत्यारा नहीं, विजेता हूँ।

दसवें दृश्य में चाणक्य युद्ध व्यवस्था करता है। चन्द्रगुप्त और सिल्युकस का युद्ध होता है, युद्ध करते हुए आम्भीक सिल्युकस को घायल करता है। साथ ही स्वयं उसकी भी मृत्यु हो जाती है। यहीं सिंहरण चन्द्रगुप्त से आकर मिलता है।

ग्यारहवें दृश्य में राक्षस सुवासिनी को लेकर जाता है। कार्नेलिया को विश्वास हो गया है कि युद्ध में उसके पक्ष की पराजय हुई अन्यथा शिविर पर आक्रमण न होता। वह आत्मसम्मान की रक्षा के लिये आत्महत्या करना चाहती है और अन्तिम समय अपने प्रेमी का नाम लेती है। नाम लेते ही चन्द्रगुप्त वहां उपस्थित हो जाता है और छुरी ले लेता

है। सिल्युकस पराजित होता है और उसे सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने के लिये ही चन्द्रगुप्त आता है।

बारहवें दृश्य में साइबर्टियस और मेगस्थनीज़ की बातचीत से पता लगता है कि मालव और तक्षशिला की सेना हिरात के पथ पर खड़ी है। यवन सेना के लिये लौटना असम्भव है। उधर आर्टिगोनस ने आक्रमण कर दिया है। चन्द्रगुप्त सन्धि के लिये तैयार है पर शर्त कड़ी है। सिल्युकस को बताया जाता है कि सिन्धु के पश्चिम के प्रदेश आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा निषध पर्वत तक ले जाना चाहते हैं। साथ ही चाहते हैं कि राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट् चन्द्रगुप्त से परिणय हो। सिल्युकस कार्नेलिया के भाव जानने पर प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है।

तेरहवें दृश्य में चाणक्य पर मौर्य आक्रमण करना चाहते हैं। इतने में सुवासिनी आकर उसे रोक लेती है जो वहाँ राक्षस के साथ छिपी हुई है। दूसरी ओर से अलका, सिंहरण, चन्द्रगुप्त की माता और चन्द्रगुप्त आते हैं। सारी बातें सुनकर चन्द्रगुप्त न्याय करना चाहते हैं। पर चाणक्य क्षमा कर देता है। राक्षस उसी समय सामने आकर अपने अपराधों का दंड चाहता है। चाणक्य के कहने से राक्षस मन्त्री बनाया जाता है, वहीं वह शकटार का जामाता घोषित किया जाता है। मौर्य को चाणक्य काषाय ग्रहण करने को कहता है।

अन्तिम दृश्य राजसभा का है। चन्द्रगुप्त सिल्युकस का स्वागत करता है। चन्द्रगुप्त आर्टिगोनस से युद्ध के लिये अपनी गज सेना देता है। सिल्युकस सन्धि का अभिलाषी होता है। चाणक्य सन्धिपत्रों को स्वार्थ से प्रबल नहीं मानता और कार्नेलिया को भारत की कल्याणी बनाने का प्रस्ताव करता है। सिल्युकस दोनों का हाथ मिला देते हैं।

घटनाओं का संविधान

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक के कथानक के अन्तर्गत तीन प्रमुख घटनाएँ हैं। सिकन्दर का भारत आक्रमण, नन्दकुल का उन्मूलन और सिल्युकस की पराजय। इन घटनाओं के बीच लगभग २५ वर्ष का समय व्यतीत हुआ। सिकन्दर भारत ३२७ ई० पू० आया था और लगभग डेढ़ वर्ष यहां रहकर ३२५ ई० पू० में लौटा था। प्रसाद जी के अनुमान के अनुसार ३२१ ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर घेरा डाला था। सिल्युकस ने भारत पर ३०६ ई० पू० में आक्रमण किया और संभवतः ३०३ ई० पू० में चन्द्रगुप्त से उसकी सन्धि हुई। कुछ लोग यह समय ३०५ ई० पू० मानते हैं। इस लम्बी अवधि के बीच घटी इन तीन महत्वपूर्ण घटनाओं का कोई पारस्परिक सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है। सिकन्दर का भारत अभियान एक ऐसी घटना है जिसका मगध की राजधानी से कोई सम्बन्ध नहीं है। मगध का विद्रोह अपने में एक पूर्ण घटना है। और इस घटना के बहुत दिनों के बाद सिल्युकस का आक्रमण हुआ था। नाटककार ने इन तीनों घटनाओं को एक सूत्र में बांधने के लिये चन्गुद्रप्त का संविधान किया है। चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला था पर उसने उस अभियान में किसी पक्ष से किसी रूप में भाग लिया था इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। केवल अनुमान मात्र है। भारत के शासक के नाते ही उसका सम्बन्ध तीसरी घटना से है। चन्द्रगुप्त को इन तीनों ऐतिहासिक घटनाओं के प्रेरक होने का श्रेय देना ही नाटककार

का इष्ट है। चन्द्रगुप्त के चरित्र-विकास-क्रम को आधार बनाकर घटनाओं और स्थितियों को इस प्रकार सजाया गया है कि इतिहास को संगति के साथ-साथ नाटक का विकास हो सके। वस्तु विन्यास की इस विशिष्टता के कारण उसका समष्टि प्रभाव जितना सुन्दर और सुसंगत है, उतना प्रसाद जी के अन्य नाटकों में नहीं पाया जाता।

नाटक का दोष

इस गुण के साथ साथ इस नाटक का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह बहुत लम्बा हो गया है। साधारणतः प्रसाद जी के नाटक तीन अंकों के हैं। स्कन्दगुप्त पांच अंकों का नाटक है। प्रस्तुत नाटक चार अंकों का है। इस कारण अन्य नाटकों से बड़ा होते हुए भी स्कन्दगुप्त से छोटा जान पड़ता है। पर इस नाटक में दृश्यों का अपेक्षाकृत बाहुल्य है। प्रथम और द्वितीय अंकों में ग्यारह-ग्यारह, तृतीय में नौ और चतुर्थ मे चौदह दृश्य है। इस नाटक के प्रथम संस्करण के अन्तिम अंक में सोलह दृश्य थे। दूसरे संस्करण में प्रसाद जी ने दो दृश्य घटा दिये। फिर भी दृश्यों की इतनी अधिकता और उनका क्रमसिद्धान्त और व्यावहारिकता के विचार से अनुचित है। कदाचित् लम्बे काल का कथानक होने के कारण कुछ घटनाओं को छोड़ना अथवा संक्षिप्त करना उनके लिये सम्भव नहीं हो सका। यद्यपि इसे छोटा करने की काफी गुँजाइश थी। चौथ अंक को दो अंकों में बांट कर उस अंक की विशालकायता कम की जा सकती थी। पाचवें दृश्य में चाणक्य के क्रुद्ध होकर चले जाने और सिंहरण के उनका अनुसरण करने पर चन्द्रगुप्त को एकाकी दिखाकर चतुर्थ अंक समाप्त किया जा सकता था। उस समय पांचवां अंक नौ दृश्यों का हो जाता जो उसी दोष से युक्त होता जिस दोषयुक्त से इस समय चतुर्थ अंक है। पर इन नौ दृश्यों में से भी कुछ दृश्य कम किये जा सकते थे। सातवां दश्य हटाया जा सकता था। उसकी विशेप आवश्यकता नाटक में प्रतीत नहीं होती। आठवां दृश्य भी अनावश्यक सा है। दसवें और ग्यारहवे को मिलाकर एक बनाया जा सकता था। बारहवें दृश्य को भी कम करके ग्यारहवें अंक मे कुछ वृद्धि कर उसका उद्देश्य पूरा करना संभव हो सकता था। इस प्रकार पांचवां अंक भी पांच दृश्यों का बन सकता था। इसी प्रकार अन्य अंकों मे भी कुछ कमी की जा सकती थी। प्रथम अंक का दूसरा, तीसरा और चौथा दृश्य, दूसरे अंक का पांचवां, छठा, सातवां और आठवां दृश्य, तृतीय अंक का पहला दृश्य आदि सुगमता से हटाये जा सकते थे अथवा एक दूसरे मे मिला दिये जा सकते थे। इतने व्यक्त दृश्यों में अधिकांश का काम विषय की सूचना मात्र से चल सकता था।

काल-दोष

नाटक वृहद् आकार के कारण सिद्धान्त और व्यवहार के विरुद्ध तो है ही, साथ ही उसमें समय का ध्यान बिलकुल नहीं रखा गया है। २५ बरस के लम्बे काल को नाटककार एकदम भूल-सा गया है। उसे यह भी ध्यान नहीं रहा है कि जो लोग सिकन्दर-आक्रमण और उसके आस-पास की घटनाओं के समय युवा रहे वे सिल्युकस के आक्रमण के समय तक पहुँचते-पहुँचते वृद्ध हो चले होंगे। उसने उन्हें वहीं पच्चीस वर्ष पूर्व का किशोर अथवा युवा

समझते हुये उनसे प्रेमाभिनय और उनका विवाह कराता है। कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी, चन्द्रगुप्त, राक्षस आदि २५ बरस बाद भी युवा माने जाते हैं और कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के और राक्षस का सुवासिनी के साथ विवाह कराया जाता है। चन्द्रगुप्त कल्याणी और मालविका पर आसक्त दिखाया जाता है। वृद्ध-वृद्धाओं का यह विवाह और प्रणय-प्रदर्शन अस्वाभाविकता की चरम सीमा है।

इस त्रुटि को कुछ आलोचक त्रुटि नहीं मानते और उसकी सफाई देने की चेष्टा करते हैं। डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का इस सम्बन्ध में कहना है कि--**नाटककार के रचना कौशल की शक्ति से अतीत को भी प्रत्यक्षायमाण देखकर सामाजिक यदि इतना भी साधारणीकरण की परवशता में नहीं आ सकता तब तो सारा रंगमंच और उस पर होने वाले समस्त व्यापार --भले ही नाटक संकलन त्रय के सिद्धान्तों के अनुसार ही क्यों न लिखा गया हो--उसे एक बाल क्रीड़ा ही मालूम पड़ेंगे, क्योंकि उसके लिए नकल और अभिनय ही हो रहा है, इस बात को भूल जाना उतना ही दुष्कर है जितना इतिहास की घटनाओं की काल-तालिका को। नाटक में प्रदर्शित एक धारावाही घटनावली की योजना सुसंगत रूप में जहाँ तक चली है उसे तीन-चार घंटों में प्रत्यक्ष देख लेने पर ऐतिहासिक दूरी का ध्यान आ ही नहीं सकता। काव्य रसानुभूति ऐसे ही अवसरों पर सहृदय और असहृदय का भेद कर देती है और रूक्ष लौकिक बुद्धि ग्राह्यता को वह इस प्रकार तिरोहित कर देती है कि सामाजिक आनन्द विस्मृत हो उठता है। यदि यह स्थिति नहीं उत्पन्न हो पाती तो चाहे नाटक हो अथवा काव्य, हमें बिल्कुल प्रसन्न नहीं कर सकता'।** यहाँ यह भुला दिया गया है कि नाटक के इस गुण का सम्बन्ध काटक के कथानक से उतना नहीं है जितना कि अभिनेताओं की कलाकुशलता से। यदि अभिनेता कौशल पूर्वक नाटक प्रस्तुत नहीं कर सकते तो नाटक कितना ही सुन्दर हो, वह दर्शक में रसानभूति उत्पन्न करने में असमर्थ होगा। प्रायः देखा गया है कि साधारण-से-साधारण नाटक अभिनेताओं की कलाकुशलता से दर्शक को मोहने में समर्थ होते हैं। अतः दर्शक को यह भुलाने के लिये कि वह नकल या अभिनय नहीं देख रहा है, अभिनय-कौशल की आवश्यकता होती है। दर्शक ऐतिहासिक नाटक देखते समय इस बात को कभी नहीं भुला सकता कि वह इतिहास की घटनाओं को देख रहा है। वह रसोद्रेक में यह तो भूल सकता है कि वह विगतकाल की घटना है, वह अपने को मान सकता है कि वह घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा है। पर काल की अवधि को वह नहीं भुला सकता। तीन-चार घंटों के भीतर ही वह पच्चीस और पचास बरस को देख सकता है। नाटक की गति के साथ-साथ वह काल को आगे बढ़ता हुआ देखता है। ऐसी अवस्था में पच्चीस बरस पूर्व के प्रेमी-प्रेमिका जब वृद्ध होकर प्रणय और विवाह करते दिखाये जायँगे तो दर्शक के मन पर उसकी अस्वाभाविकता का प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

इन दोषों से मुक्त होने का सर्वसुगम उपाय यह होता कि नाटक को दो स्वतंत्र नाटकों में बाँट दिया जाता। कुछ ही अधिक विस्तार कर सिकन्दर-पराजय, नन्दवंश-उन्मूलन और चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की घटनाओं को एक नाटक और सिल्युकस-पराजय और कार्नेलिया-परिणय को दूसरे नाटक का रूप दिया जा सकता था। उस समय नन्द वंश-उन्मू-

लन के पश्चात् कल्याणी का चन्द्रगुप्त के साथ विवाह कर चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को दृढ़ता प्रदान की जा सकती थी। यह नाटक प्रथम तीन अंकों में ही पूर्ण हो जाता। आज भी यदि प्रथम तीन अंकों को अलग कर दिया जाय तो उसके रसास्वादन में कोई व्याघात नहीं पड़ता।

काल सम्बन्धी इस महादोष के अतिरिक्त इस नाटक में काल और स्थान सम्बन्धी कुछ और छोटे-मोटे दोष हैं। चन्द्रगुप्त, सिल्युकस की सन्धि के पांच वर्ष बाद ही (२९८ ई० पू०) स्वर्गगत होता है, अथवा वह अपने पुत्र बिन्दुसार (अथवा अमित्रघात) के लिये राज्यत्याग करता है। ऐसी अवस्था में उसका उत्तराधिकारी कार्नेलिया का पुत्र नहीं हो सकता। इतिहास-शोधक होकर भी प्रसादजी ने इस बात को भुला दिया। कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का परिणय कराने मात्र के लिये उन्होंने दो-दो युवतियों की हत्या करायी है। चतुर्थ अंक के पांचवें दृश्य में चाणक्य चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न होकर चला जाता है और हम उसे अगले ही दृश्य में सिन्धुतट पर कात्यायन से वार्तालाप करते पाते हैं। इतनी जल्दी पाटलिपुत्र से सिन्धुतट पर चाणक्य उछल कर कैसे पहुँच गया ?

चमत्कार के प्रति मोह

प्रसाद जी का चमत्कार के प्रति मोह कुछ अधिक जान पड़ता है। उन्होंने अपने नाटकों में किसी न किसी प्रकार की आकस्मिक घटनाओं को आश्रय दिया है। वह इस घटना में कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। इस नाटक में विपत्तिग्रस्त प्राणी की रक्षा के लिये स्थान-स्थान पर राक्षस पहुँचते दिखाये गये हैं। आरम्भ में ही सिंह से कल्याणी की रक्षा के लिये हम चन्द्रगुप्त को सरस्वती मन्दिर के उपवन में अकस्मात् पहुँचते देखते हैं। सिल्युकस की छीना-झपटी से अलका को बचाने के लिये सिंहरण को उपस्थित देखा जाता है। इसी प्रकार फिलिप्स की धृष्टता से कार्नेलिया को बचाने के लिये चन्द्रगुप्त और नन्द के अत्याचार से सुवासिनी को बचाने के लिये राक्षस उपस्थित हो जाता है। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका को बचाने के लिये कहीं न कहीं से कूद पड़ता है।

इस चमत्कार के उपस्थित करने के प्रयत्न में अनेक दोष ऐसे आ पड़े हैं जो बहुत ही खटकते हैं। एक ओर तो हम चन्द्रगुप्त को ऐसा वीर देखते हैं जो ऐसे बन्दीगृह से जिसमें समीर की गति भी अवरुद्ध है, दो-दो अमात्यों के सामने अकेला द्वार-रक्षकों को मार कर चाणक्य को छुड़ा ले जाता है; दूसरी ओर हम उसे इतना क्लान्त देखते हैं कि वह पथ चलते-चलते थक जाता है और बेहोश होकर गिर जाता है। उसकी अपेक्षा बूढ़े चाणक्य को हम देखते हैं कि वह बन्दीगृह में बन्द रहकर भी अपनी शक्ति नहीं खोता और बिना थके पानी लेने जाता है। यहां हम देखते हैं कि बेहोश चन्द्रगुप्त के सम्मख व्याघ्र आकर बैठता है और सिल्युकस ठीक समय पर पहुँच कर उसे मार कर चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। कुछ आश्चर्य सा लगता है जब घायल व्याघ्र मरने से पूर्व पास पड़े चन्द्रगुप्त अथवा सिल्युकस पर एक पंजा भी चला नहीं पाता और चुपचाप इस प्रकार मर जाता है कि चन्द्रगुप्त की निद्रा भी भंग नहीं हो पाती। यह अस्वाभाविकता बहुत ही खटकती है।

होश में आते ही हम चन्द्रगुप्त को सिल्युकस का कृतज्ञ होते पाते हैं। और इस कृतज्ञता के कारण हम आगे चलकर देखते हैं कि चन्द्रगुप्त सिल्युकस को मारता नहीं और उसके शिविर तक उसको सुरक्षित पहुँचा देता है। कृतज्ञता का इतना बड़ा मूल्य चुकाते दिखाकर नाटककार ने चन्द्रगुप्त के चरित्र को ऊँचा उठाने की अपेक्षा नीचे गिराया है। बिना किसी प्रकार की कृतज्ञता के भार से दबा भारतीय युवक यह उदारता दिखा सकता था। शत्रुओं को जीवित छोड़ देने के एक नहीं अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में प्राप्त हैं।

प्रस्तुत नाटक के प्रणयन में प्रसादजी ने अपनी ऐतिहासिक शोधबुद्धि को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है, ऐसा जान पड़ता है। वे इस बात को सिद्ध करने के लिये अधिक उत्सुक दिखाई देते हैं कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था। उन्होंने नाटक के आरम्भ में दिये गये अपने 'मौर्य वंश' शीर्षक में इस बात पर जोर तो दिया ही है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था, साथ ही नाटक में भी अवसर निकालकर उसकी एक नहीं दो-दो स्थानों पर चर्चा की है। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के लिये वृषल शब्द का प्रयोग किया है जो भाव से हीनता का ही द्योतक जान पड़ता है। वार्तालापों में प्रसादजी ने इसकी व्याख्या कर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पर्वतेश्वर के कल्याणी से विवाह करना अस्वीकार करने पर हम कल्याणी के मुख से सुनते हैं---**'मैं वृषल कन्या हूँ। उस क्षत्रिय को सिखा दूंगी की राजकन्या किसी क्षत्राणी से कम नहीं है।'** उसके इस वाक्य में उसे अपने वृषल होने का गर्व-सा जान पड़ता है। आगे पर्वतेश्वर की राजसभा में चाणक्य के मुख से उसकी व्याख्या निम्नलिखित वार्तालाप में करायी गयी है--

पर्वतेश्वर---**हां, तो इस मगध विद्रोह का केन्द्र कौन होगा? नन्द के विरुद्ध कौन खड़ा होता है?**

चाणक्य---**मौर्य सेनानी का पुत्र वीर चन्द्रगुप्त जो मेरे साथ यहाँ आया है।**

पर्वतेश्वर---**पिप्पलीकानन के मौर्य भी तो वैसे ही वृषल हैं, उनको राजसिंहासन दीजियेगा।**

चाणक्य---**आर्य क्रियाकलापों का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला है, वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य, परन्तु इनके क्षत्रिय होने में कोई सन्देह नहीं।**

एक अन्य दृश्य में चाणक्य इस विषय पर प्रश्न करता है:---**वृषल चन्द्रगुप्त क्षत्रिय है या नहीं, अथवा उसे मूर्धाभिषिक्त करने में ब्राह्मण से भूल हुई ?**

अन्य कई स्थानों पर उन्होंने साधारण से साधारण ऐतिहासिक तथ्यों को सामने लाने का यत्न किया है। प्रथम अंक के छठे दृश्य में मालविका ने अलका से उद्भांड में सिन्धु पर सेतु बनाने की बात कही है और उसका मानचित्र प्रस्तुत किया है। सिकन्दर के समय में सिन्धु नदी का घाट अटक से १६ मील उत्तर उद् ंडपुर (आधुनिक ओहिन्द) में ही था। इसी प्रकार पाटलिपुत्र की स्थिति के सम्बन्ध में, जो काफी समय तक विद्वानों के विवाद का विषय रहा है, आपने अपना मत कल्याणी के मुख से कहलाया है---**'मगध के राजमन्दिर उसी तरह खड़े हैं, गंगा शोण से उसी स्नेह से मिल रही है।'** तात्पर्य यह कि पाटलिपुत्र गंगा और सोन के संगम पर था।

पात्रों का चयन

प्रसाद जी ने इस नाटक में प्रायः उन सभी ऐतिहासिक पात्रों को उपस्थित करने की चेष्टा की है जिनका किसी न किसी रूप में उस काल के इतिहास में उल्लेख पाया जाता है। सिकन्दर, सिल्युकस, फिलिप्स, ग्राम्भीक, पर्वतेश्वर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। साइबर्टियस का भी अस्तित्व इतिहास में पाया जाता है। मेगस्थनीज़ की चर्चा तो सर्वत्र है ही। सिंहरण, मौर्य सेनापति और दांड्यायन केवल ये तीन पात्र कल्पित कहे जा सकते हैं। इनमें भी दांड्यायन का अस्तित्व दंडमिस नाम के रूप में तो मिलता ही है। मालव सेनापति का नाम हम नहीं जानते पर मालव युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है। इसलिये सिंहरण व्यक्ति के रूप में भले ही कल्पित हो पर आत्मा तो ऐतिहासिक है ही। चन्द्रगुप्त के पिता मौर्यसेनापति का अस्तित्व सन्दिग्ध है। अकेले इसे ही कल्पित पात्र कहा जा सकता है।

नारी पात्रों की रचना में प्रसाद जी ने अधिक कल्पना से काम लिया है। उनकी चर्चा कहीं भी प्राप्य नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त का नन्दकुमारी से प्रेम था। इस दृष्टि से कल्याणी का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। कार्नेलिया का अस्तित्व सन्दिग्ध है। कुछ लोगों ने सिल्युकस की पुत्री एथिना का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होने का उल्लेख किया है। पर ऐतिहासिक आधार पर इसकी पुष्टि नहीं होती। द्विजेन्द्रनाथ राय ने अपने नाटक में इसको हेलेना नाम दिया है। प्रसाद जी ने किस आधार पर उसका नाम कार्नेलिया रखा है कहा नहीं जा सकता। शेष स्त्री पात्र निःसंदेह काल्पनिक हैं।

अनैतिहासिक तत्व

प्रसाद जी ने इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनाओं की चर्चा की है जो ऐतिहासिक नहीं होतीं। तथा इस बात का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है कि चन्द्रगुप्त का फिलिप्स से द्वन्द्व युद्ध हुआ था। इन बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये नहीं जान पड़ती कि नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कुछ कल्पना का सहारा लेना नाटककार के लिये स्वाभाविक है, भले ही वह ऐतिहासिक शोधक हो ।

नाटक की मौलिकता

प्रसाद जी के नाटकों की मौलिकता ने आलोचकों को इतना अभिभूत कर रखा है कि वे इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहते कि उन पर अन्य किसी की छाप है। पर इस नाटक से पूर्व इसी कथानक पर रचे गये विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और श्री द्विजेन्द्र लाल राय के बंगला नाटक 'चन्द्रगुप्त' को जिसने भी ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा वह यह कहे बिना नहीं रह सकता कि उन दोनों नाटकों की छाप इस नाटक में प्रचुर मात्रा में है। इस प्रभाव का यह अर्थ नहीं है कि प्रसाद जी की प्रतिभा के निजस्व का इस नाटक में अभाव है। उनकी प्रतिभा की अपनी विशेषता है, पर वह विशेषता मौलिकता का स्थान नहीं ले सकती। शकटार के बन्दी होने, उसके सातों पुत्रों की मृत्यु और चन्द्रगुप्त की सहायता के लिये पर्वतक को लोभ देकर लाने का संकेत प्रसादजी को चाहे जहाँ से मिला हो, पर मुद्रा और

जाली पत्र द्वारा राक्षस का अनिष्ट करने का प्रयत्न 'मुद्राराक्षस' की प्रधान घटना है। प्रसादजी ने इसका प्रयोग अपने इस नाटक में भी किया है। सँपेरा का रूप ग्रहण करने का भाव मुद्राराक्षस में भी प्राप्य है। इसी प्रकार यदि राय महोदय के बँगला नाटक अथवा उसके अनुवाद को पढ़ने के बाद प्रस्तुत नाटक को पढ़ा जाय तो बहुत-सी बातें समान रूप में सामने आ जाती हैं। राय महोदय के चाणक्य के लिये इतर जाति की अवहेलना असह्य है और वह नन्द के सभासदों को कुत्ता समझता है। उसी प्रकार की भावना प्रस्तुत नाटक के चाणक्य में भी पायी जाती है। प्रस्तुत नाटक का सिंहरण राय महोदय के चन्द्रकेतु का प्रतिरूप है। दोनों नाटकों में ये पात्र यवनों के आक्रमण के समय बिना बुलाये अकस्मात् चन्द्रगुप्त की सहायता को पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत नाटक का फिलिप्स राय महोदय के नाटक का एन्टीगोनस जान पड़ता है। दोनों ही उद्धत, अशिष्ट सैनिक हैं और सिल्युकस की कन्या के प्रेमी हैं। दोनों की इस दिशा में चन्द्रगुप्त से प्रतिद्वन्द्विता है। दोनों ही कार्नेलिया को छूने का प्रयत्न कर उसे अप्रसन्न कर देते हैं। जिस प्रकार कार्नेलिया अपने पिता का उपहास करती है उस पर भी हेलन की छाया दिखाई देती है। राय महोदय के कात्यायन का स्थान इस नाटक में राक्षस लेता है। दोनों ही समान रूप से सिल्युकस को भड़काते है। जिस तरह हेलन कात्यायन की प्रवृत्ति से परिचित होकर उसे राजद्रोही, देशद्रोही और धर्मद्रोही बताती है उसी तरह कार्नेलिया भी राक्षस को देशद्रोही सिद्ध करती है। दोनों नाटकों में चाणक्य के पश्चाताप में एक सी ही वाणी प्रतिध्वनित होती है। भारत-भूमि के सौन्दर्य वर्णन में भी एक सी ही आत्मा प्रतिध्वनित होती है। कार्नेलिया अथवा हेलन और चन्द्रगुप्त के परस्पर आकर्षण को दोनों नाटकों में व्यक्त करने के लिये एक ही कला का सहारा लिया गया है। निदाघ के उज्ज्वल सन्ध्या आलोक में सिन्धुनद तट पर सिल्युकस के पार्श्व में हेलन खड़ी है। वहां वह युवक चन्द्रगुप्त के कठोर आघात से एन्टीगोनस की तलवार गिरती हुई देखती है। नाटककार ने हेलन के मुख से इस अवसर पर कुछ कहलाया नहीं है और न उसके भाव का कोई संकेत किया है किन्तु वह चन्द्रगुप्त की वीरता, निर्भीकता और सरलता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहती क्योंकि आगे चलकर हम उसे उस दृश्य को स्मरण कर विकल पाते हैं। ठीक यहीं कला का प्रयोग प्रस्तुत नाटक में किया गया है। दाण्ड्यायन अपने आश्रम में सिकन्दर से कहते हैं—'अलक्षेन्द्र, सावधान! देखो, यह भारत का भावी सम्राट् तुम्हारे सामने बैठा है।' सब स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है। और अगले दृश्य में हम कार्नेलिया को कहते पाते हैं:—

'किन्तु उस घटना से और भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ......वह भी आह, कितना आकर्षक है। कितना तरंग संकुल है। इसी चन्द्रगुप्त के लिये न उस साधु ने भविष्य वाणी की है भारत सम्राट् होने की। उसमें कितनी विनय शील वीरता है।'

इस प्रकार यह मानना होगा कि प्रसाद जी इस नाटक के लिखते समय विशाखदत्त और द्विजेन्द्रलाल के नाटकों के प्रभाव से अभिभूत थे। इसके कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह उन नाटकों की अनुकृति है। उनसे प्रभावित होते हुए भी प्रसाद जी ने इस नाटक में अपना निजस्व कायम रखा है।

चाणक्य

यद्यपि इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है, चाणक्य का ही चरित्र प्रधान पात्र के रूप में निखरा हुआ हमारे सामने आता है। उसी के सहारे सारा नाटक खड़ा है। उसके अभाव में नाटक तत्वहीन हो जायगा। अपनी राजनीतिक कूटनीतिज्ञता के लिये चाणक्य की ख्याति भारत में ही नहीं सारे विश्व में है और लोग उसकी तुलना पाश्चात्य राजनीतिज्ञ मिक्रोबिली से करते हैं। उसकी राजनीतिक बुद्धि का निदर्शन इस नाटक में पूर्ण रूप से विकसित हुआ है।

चाणक्य की ऐतिहासिक स्थिति चाहे जो रही हो, प्रस्तुत नाटक में वह हमारे सम्मुख परिस्थिति वश हो राजनीति में उतरता दिखाई देता है, अन्यथा उसकी आन्तरिक इच्छा राजनीति में उतरने की नहीं जान पड़ती। आरम्भ में ही उसकी इस आन्तरिक भावना का परिचय मिलता है। आगे चल कर हम उसे एक अवसर पर इस प्रकार सोचते हुए पाते **'मेरी भूमि मेरी वृत्ति वही मिल जाय, मैं शस्त्र व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूंगा।'** किन्तु उसमें ब्राह्मणत्व का अहं बहुत प्रबल है। जब वह अपहृत होता है, उचित सलाह देने पर अपमानित किया जाता है, बन्दी बना लिया जाता है तो वह क्षुब्ध हो उठता है। देश के राजनीतिक वातावरण को देखकर उसका स्वदेश प्रेम जागृत हो उठता है। विदेशी सिकन्दर के आक्रमण से देश के विनाश की आशंका वह देखता है और देखता है कि आन्तरिक अवस्था कलहपूर्ण है और अत्याचारों की वृद्धि हो रही है तो उसके अन्दर देश के प्रति जो भाव छिपे हैं वह व्यक्त हो उठते हैं और वह देश की राजनीति में कूद पड़ता है। अन्यथा राजनीति में उतर कर उसने जो कुछ किया, उसके करने की इच्छा, उसे तनिक भी न थी। वह अपनी इस भावना को चन्द्रगुप्त के सामने स्वीकार करता है —**'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा साम्राज्य करुणा का, प्रेम का था। बौद्धिक विनोद कर्म था। सन्तोष धन था। उस अपनी ब्राह्मण जन्मभूमि को छोड़ कर कहाँ आ गया। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छाया चित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे, भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गयी, स्वरूप विस्मृत हो गया।'**

तक्षशिला में रहते हुए उसे परिस्थितियों से आभास हो जाता है कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे। वह यह भी अनुभव करता है कि पंचनद नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण, यह क्षुद्रहृदय, आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त का सर्वनाश होगा। और वह इसके रोकने के लिये तत्पर हो जाता है। वह विभिन्न नरेशों को परस्पर संघटित करने का प्रयत्न करता है। वह आम्भीक को समझाता है। नन्द की राजसभा में यवन नीति बतलाने जाता है, पर्वतेश्वर की सहायता करने की सलाह देता है। उसकी बात उपेक्षित होती है। वह अपने स्पष्ट और निर्भीक कथन के कारण नन्द और उसके चाटुकारों द्वारा अपमानित किया जाता है और बन्दी कर लिया जाता है। वह अपमानित होकर नन्दकुल को निःशेष करने तक शिखा न बाँधने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपने में दृढ़ रत है। बन्दीगह से मुक्त होकर वह पर्वतेश्वर के पास जाता है। मगध की राजक्रान्ति के लिये उससे

सहायता मांगता है ताकि मगध की सेना भी पर्वतेश्वर की सहायता को सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध में प्राप्त हो सके। पर उसकी बात पर्वतेश्वर की समझ में नहीं आती। वह उसे अपमानित कर राजसभा से बाहर चले जाने को कहता है। अपने प्रयत्न में उसे इस प्रकार सब ओर से उपेक्षा तथा तिरस्कार प्राप्त होता है। पर इससे वह हतोत्साह नहीं होता।

जिस प्रकार देश की स्थिति के सम्बन्ध में परिस्थितियों का अनुमान करने की अपूर्व क्षमता उसमें थी, उसी प्रकार उसमें व्यक्ति के परखने का भी गुण था। चन्द्रगुप्त को देखते ही उसको परख सका कि उसमें शासक होने की योग्यता है। पर्वतेश्वर से उसने चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में कहा था:—"**जिसके लिये कहा गया है कि क्षत्रिय के शस्त्र ग्रहण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।**" अस्तु, चन्द्रगुप्त और सिंहरण का सहयोग प्राप्त कर अपने बुद्धिबल और संघटन-शक्ति से अशक्तों को शक्तिशाली कर उसने वह कर दिखाया है जो तत्कालीन बड़े नरेशों के लिये भी सम्भव न हो सका। उसने मालव और क्षुद्रक को संघटित कर सिकन्दर को ऐसी पराजय दी कि उसका विश्वविजेता होने का सारा गर्व चूर्ण हो गया। किन्तु उसका लक्ष्य विदेशियों को पराजित कर उन्हे देश से निकाल बाहर करना मात्र नहीं है। वह समस्त भारत को एक शासन सूत्र में बाँध कर एक योग्य शासक को मूर्धाभिषिक्त कर देश को बाहरी आक्रमणों एवं अन्तर्विद्रोह से पूर्णतः मुक्त कर देना चाहता है। अतः यह सब उसने जिस कौशल से किया वह उसकी अद्भुत कूटनीतिज्ञता का परिचायक है। उसकी कूटनीति शतरंज के महरों के समान सारे कथानक के चेसबोर्ड पर रखी हुई है।

पर्वतेश्वर, पराजय के पश्चात् आम्भीक के समान सिकन्दर का अविरोधी बन जाता है। फलतः मगध के कुचले जाने की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है। ऐसे अवसर पर वह कौशल से यवन सेना को यह विश्वास करा देता है कि पंचनद के सैनिकों से भी दुर्द्धर्ष कई लक्ष रणकुशल योद्धा शतद्रु तट पर उन लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन लोगों पर आतंक छा जाता है और उनमें विद्रोह फैल जाता है। वे विपाशा पार करने से अस्वीकार कर देते हैं और वे लौटने का निश्चय करते हैं। पर इससे ही युद्ध की सम्भावना कम नहीं हो जाती। अतः वह क्षुद्रक और मालवों को संघटित कर उनकी सेना का सेनानायक चन्द्रगुप्त को बनाता है। पर इसके लिये उसे अपनी कुशल बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। गणतन्त्रों की युद्ध परिषद् मागध होने के कारण चन्द्रगुप्त को सेनानायक बनाने के पक्ष में नहीं है पर चाणक्य अपनी वाक्चातुरी से उन्हें सहमत करने में समर्थ होता है। इस सफलता के बाद वह देखता है कि मागध सेना को कल्याणी और राक्षस वापस ले जाना चाहते हैं। वह अपनी बुद्धि कौशल का प्रयोग करता है। कल्याणी वापस जाने का प्रस्ताव करती है तो वह चन्द्रगुप्त को सामने लाकर खड़ा कर देता है, कहता है "**तुम्हारे बिना उसके हृदय के टुकड़े हो जायँगे**।' प्रेम के वशीभूत कल्याणी आगे बढ़ने का साहस नहीं कर पाती। राक्षस जब उसे लौटा ले जाने का प्रयत्न करता है तो पहले तो चाणक्य मगध के विनाश का चित्र दिखाकर उसे आतंकित करना चाहता है। पर उसे इसमें अधिक सफलता की आशा नहीं दिखाई पड़ती तो स्वयं राक्षस के मन में आतंक उत्पन्न करा देता है। वह आकर कहता है कि '**नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का**

विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा लौटना ठीक न होगा।' राक्षस इससे हतबुद्धि हो जाता है, इसके साथ ही चाणक्य के चर राक्षस को धोखा देते हैं। और चाणक्य अपनी चाल मजबूत करने के लिये पहले कुछ सैनिकों को भेज कर बन्दी करने का नाटक करवाता है। सैनिक आकर कहते हैं:—"**अमात्य राक्षस, मगध सम्राट की आज्ञा से शस्त्र त्याग कीजिये। आप बन्दी हैं।**' इसी समय कुछ दूसरे सैनिक आकर पहले सैनिकों को बन्दी कर लेते हैं और अपने को राक्षस का शरीर-रक्षक कहते हैं। राक्षस पर इस प्रकार अपना विश्वास जमा कर रोक सकने में सफल होता है। अपने भावी कार्यक्रम की सिद्धि के लिये वह राक्षस को मूर्ख बनाता है। सुवासिनी राक्षस की सबसे बड़ी दुर्बलता है। उस दुर्बलता का लाभ उठाकर उससे भेंट कराने की बात कहकर उसकी मुद्रा ले लेता है और आगे चलकर उस मुद्रा का मगध में विद्रोह कराने में सफल प्रयोग करता है।

चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाने में भी उसने जो चाल चली वह उसकी कूटनीतिज्ञता का अनुपम परिचय देती है। राज्य का लोभ देकर वह अपने साथ पर्वतेश्वर को मगध लाता है। मालविका के द्वारा नन्द के पास जाली पत्र पहुँचाता है जिससे क्रुद्ध होकर नन्द राक्षस और सुवासिनी को ठीक उसी समय पकड़ मँगवाता है जिस समय दोनों का परिणय होने जा रहा था। इससे जनता में असन्तोष उत्पन्न होता है। अपने आदमियों द्वारा नागरिकों के इस असन्तोष को वह उत्तेजित करवाता है। इस उत्तेजना के क्षण में नन्द का वध होता है। राक्षस राष्ट्र के संचालन के लिये परिषद् के आयोजन की बात कहता है। नागरिक परिषद् चुन भी लेते हैं पर चाणक्य कुछ बोलता नहीं, चुपचाप सुनता रहता है। उसके बाद इस ढंग से अपनी बात रखता है कि जनता को विश्वास हो जाय और वह अनुभव करने लगे कि मगध को गणराज्य की नहीं वरन् एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता है। वह कौन शासक बनाया जाय इस सम्बन्ध में अपनी कोई सम्मति नहीं देता किन्तु जिस प्रकार शकटार के मुख से चन्द्रगुप्त का नाम निकलते ही वह उसका अभिषेक कर देता है, वह उसकी राजनीतिक चातुरी को परिलक्षित करता है। उसकी इस कुटिल राजनीतिक चाल को कोई भाँप नहीं सकता।

चन्द्रगप्त को मगध सम्राट् बना देने के बाद पर्वतेश्वर को वह इस प्रकार भुला देता है मानो कुछ सम्बन्ध ही उससे नहीं है। वह उसे ऐसी परिस्थिति में ला देता है कि कल्याणी द्वारा उसकी हत्या हो जाती है और पंचनद से लेकर मगध तक चन्द्रगुप्त का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। गान्धार नरेश आम्भीक को चाणक्य चातुरी के साथ अपने प्रभाव में लाता है और सिंहरण को वहाँ का शासक बना देता है। सिंहरण और चन्द्रगुप्त चिर सहचर हैं। गान्धार भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का एक भाग बन जाता है। उसके बाद सिल्युकस की पराजय में भी चाणक्य की कूटनीति खेलती नजर आती है। उसके लिये उसने सुवासिनी को अपना साधन बनाया है।

इस प्रकार उसका राजनीतिक जीवन एक महान सफलता है और इसके पीछे केवल एक ही तथ्य छिपा हुआ है कि उसकी दृष्टि में प्राप-पुण्य,—उचित-अनुचित का कोई महत्व नहीं है। वह केवल सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे भी हों। वह मालविका के प्राण लेने में नहीं हिचकता। कल्याणी की आत्महत्या को देख कर सहज भाव में कह

उठता है: — 'चन्द्रगुप्त, आज तुम निष्कंटक हुए।' उसमें महत्वाकांक्षा भरी हुई है। इसीलिये वह क्रूर है और निष्ठुर है। वह स्वयं चन्द्रगुप्त से कहता है: — "**महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।**' पर सम्भवतः वह स्वभाव से क्रूर नहीं है। वह सुवासिनी से अपनी क्रूरता की सफाई इन शब्दों में देता है: — '**म क्रूर हूँ केवल वर्तमान के लिए। भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं।**' उसकी महत्वाकांक्षा में भी उसका अपना स्वार्थ नहीं जान पड़ता। उसकी महत्वाकांक्षा लोकहिताय, परहिताय है। वह चाहता तो स्वयं भारत का सम्राट बन सकता था, पर वह सम्राट् नहीं बनता, सम्राट् बनाता है। यही नहीं, वह सम्राट् बनाकर भी सम्राट् पर शासन नहीं करता। तभी तो चन्द्रगुप्त के इस आरोप पर कि '**यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।**' वह क्षुब्ध हो उठता है, राज्यसीमा से बाहर चला जाता है। अन्त में हम उसे इस निश्चय के साथ पाते हैं कि '**मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर, इस रंग मंच से हट जाना है।**' और सचमुच हम उसे चन्द्रगुप्त को वैभव की चरम सीमा तक पहुँचा कर हट जाते देखते हैं। वह राक्षस को मन्त्रिपद देकर राजनीति से सदा के लिये विमुख हो जाता है।

कठोर राजनीतिज्ञ होते हुए भी वह साहसी और घोर सिद्धान्तवादी भी है। कदाचित् यही उसकी राजनीतिक सफलता का कारण भी है, तक्षशिला में ही जिस प्रकार वह आम्भीक को फटकारता है उससे ही हमें उसकी निर्भीकता का आभास मिल जाता है, फिर तो हम नन्द की राजसभा में उसकी निर्भीकता का रौद्र रूप देखते हैं। निर्भीकता के साथ वह अपने विचार ही नहीं प्रकट करता वरन् अपमानित होने पर गरज भी उठता है: — '**खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते खींच ले! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की काल सर्पिणी है, वह तब तक बन्धन में न बँधेगी जब तक नन्दकुल निःशेष न होगा।**' नन्द का कारावास उसे त्रस्त नहीं करता। राक्षस के प्रस्ताव के मूल को परख कर तक्षशिला जाने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहता है: — "**जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं। और पर्वतेश्वर का नाश करने तो कदापि नहीं।**' शत्रु ही नहीं अपने आत्मीय के साथ भी जब वह बात करता है तो उसमें उसकी इस निर्भीकता की गंध दिखाई पड़ती है। वह चन्द्रगुप्त के माता-पिता के चले जाने से उत्पन्न अपने प्रति क्षोभ को लक्ष्य करके कह ही उठता है '**ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त, अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा।**'

चाणक्य घोर विपत्तियों में भी घबराता नहीं। वह समझता है कि जिस प्रकार पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं, उसी प्रकार नीति-लता विपत्ति-तम में लहलही होती है। सिद्धान्त के प्रति वह कठोर है। अपनी इस प्रतिज्ञा का कि '**दया किसी से नहीं मांगूंगा और अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।**' आजीवन पालन करता दिखाई पड़ता है। उसने किसी के सामने सर नहीं झुकाया और अधिकार मिलने पर उसने अपने समस्त विरोधियों को अपने सम्मुख नतमस्तक होने को बाध्य किया। जो झुक न सका वह निर्मूल कर दिया गया। राक्षस उसका अनुगामी बन गया पर नन्द, पर्वतेश्वर और आम्भीक के अस्तित्व का ही उसने अन्त कर दिया। उसकी नीति में अपराधों के दंड से कोई मुक्ति नहीं। वह स्वजनों को

भी दण्ड देने में पीछे नहीं रहा। चन्द्रगप्त को त्यागते हुए तनिक भी संकोच नहीं हुआ। वह विशुद्ध परिणामवादीहै। परिणाम में भलाई ही उसके कामों की कसौटी है।

राजनीतिज्ञ चाणक्य से भिन्न भी चाणक्य का अपना कुछ व्यक्तित्व है। वह जहाँ राजनीतिज्ञ के रूप में कठोर है वहीं ब्राह्मण होने के नाते उसमें सुलभ उदारता और क्षमा-शीलता भी है। अपने परम शत्रु नन्द के पूर्णतया वशीभूत हो जाने पर उसके मन में प्रतिशोध की भावना उदय नहीं होती। वह सहज ढंग से कहता है, यद्यपि उसमें दर्प की मात्रा है, कि "**नन्द, हम ब्राह्मण हैं। तुम्हारे लिए भिक्षा मांग कर तुम्हें जीवन दान कर सकते हैं।**' उसकी इस उदारता में व्यंग्य नहीं है। वह वस्तुतः नागरिकों से अनुरोध करता है कि:—'**नागरिक वृन्द, आप लोग आज्ञा दें—नन्द को जाने की।** अपने हत्यारे मौर्य सेनापति को भी क्षमा करते हुए हम उसे सहज ब्राह्मण स्वभाव में पाते हैं। उसमें उदारता ही नहीं है, वह द्वेष रहित भी है। सिकन्दर से मैत्री हो जाने पर वह उसकी मंगल-मय यात्रा की भी कामना करता है। राक्षस के साथ उसका आघात प्रतिघात होता रहता है पर हम उसे विनीत हो जाने पर महामन्त्री पद पर अधिष्ठित कराते देखते हैं। उसके सामने ब्राह्मण का यह आदर्श जीवन था—'**मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।**' उसने इसे सुवासिनी के सामने व्यक्त किया है।

चाणक्य क्रूर राजनीतिज्ञ, उदार ब्राह्मण होने के साथ साथ मनुष्य भी है। और मनुष्य की भांति उसके हृदय भी है। मस्तिष्क के सामने वह हृदय भले ही दब गया हो पर कभी-कभी उसमें गदगुदी उठती ही है। विद्याध्ययन करके जब वह घर लौटता है तो, जहाँ वह अपने पिता आदि का स्मरण करता है, वहीं उसे अपनी बाल-सहचरी सुवासिनी भी याद आती है। वह उसके साथ बालोचित आमोद-प्रमोद में एक होकर रहता था। सुवासिनी की स्मृति बार-बार सजग हो उठती है और वह अपने कठोर कर्मों के बीच भुलाने का प्रयत्न भी करता है। पर जब सुवासिनी उसके सामने आती है तो उसका प्रणय भाव एक बार झलक पड़ता है। किन्तु उस समय तक सुवासिनी किसी और की हो चुकी होती है, वह उसके इस भाव की दुर्बलता को समझती है और कह उठती है:—'**तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो, फिर अपने को नहीं। देखो दर्पण लेकर, तुम्हारी आँखों में तुम्हारा कौन सा नवीन चित्र है।**' और सुवासिनी का यह भ्रूभंग उसके हृदय में उठने वाली गदगुदी को सदा के लिये दबा देता है और इतना दबा देता है कि जब सुवासिनी पुनः उसकी ओर लौटती है और प्रश्न करती है कि '**चाणक्य, तुम इतने निर्दय हो!**' तो उसे विवश होकर कहना पड़ता है '**वह स्वप्न टूट गया। इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया। मैं कंगाल हूँ।**' उसके इन शब्दों में भग्न-प्रेमी का स्वर बोल रहा है।

संक्षेप में चाणक्य प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति है। उसने अपनी प्रतिभा का जिस प्रकार उपयोग किया उसकी सराहना अनुगामी ही नहीं उसके विपक्षी तक करते पाये जाते हैं। सिकन्दर चाणक्य की अभ्यर्थना करते हुए कहता है '**मैं तलवार खींचे आया था, हृदय देकर जाता हूँ।**' पर्वतेश्वर चाणक्य से कहता है '**मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर**

सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया ।' राक्षस भी चाणक्य की सराहना करता है— '**चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है । उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन रात जैसे खिलवाड़ किया करती है ।'** और नाटक का पाठक इनके स्वर में स्वर मिलाता हुआ कह सकता है कि नाटककार ने '**उस व्यक्तित्व को निखरे रूप में प्रस्तुत किया है ।'**

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त, नाटकका नायक चाणक्यका बनाया हुआ व्यक्ति है । किन्तु वह मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त की तरह चाणक्य के हाथ का खिलौना नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है । चाणक्य उसका निर्माता होकर भी नियामक नहीं, सहायक ही है। मगध की राजनीति के निर्माण मे चाणक्य का मस्तिष्क काम करता दिखाई देता है पर उसके पीछे चन्द्रगुप्त का हाथ है । मगध साम्राज्य के निर्माण के लिये दोनों आवश्यक है, एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं । बिना चाणक्य की सहायता के चन्द्रगुप्त का मगध सम्राट होना सम्भव न था पर साथ ही चाणक्य को भी नन्दवंश के नाश के पश्चात् सिंहासन पर बैठाने के लिये एक तेजस्वी वीर की आवश्यकता थी । सम्राट होकर चन्द्रगुप्त चाणक्य की कृतज्ञता के बोझ से दबकर दास नहीं बन जाता, वरन् सम्राट ही बना रहता है और निर्भीकता के साथ माता-पिता के चले जाने पर उससे जवाब तलब करता है । और जब चाणक्य उसे छोड़कर चला जाता है तो उसे पश्चात्ताप नहीं होता और न वह यह अनुभव करता है कि उसके अभाव म वह असहाय है । उसे आत्मविश्वास बना हुआ है । इसी प्रकार चाणक्य के हत्यारे के रूप म अपने पिता को सामने पाकर उसका मोह उसे सम्राट् के कर्त्तव्य से वंचित नहीं कर पाता । उस समय वह उचित न्याय करने को उद्यत होता है । ये उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखते हैं ।

स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ-साथ धैर्य, निर्भीकता, वीरता, साहस, उदारता, और कृतज्ञता आदि सभी सद्गुण चन्द्रगुप्त में प्राप्य हैं । सामान्य स्थिति से उठ कर महत्वपूर्ण पद तक पहुँचन के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है वे सब देश काल की परिस्थिति के अनुसार चन्द्रगुप्त में पाये जाते हैं । तक्षशिला से शस्त्र और शास्त्र दोनों में पारंगत होकर निकलता है । अभी वह गुरुकुल से बाहर जा भी नहीं सका है कि आम्भीक से वह प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता के नाम पर ललकार कर भिड़ जाता है । नन्द के कारागार में बन्द चाणक्य को छुड़ाने के लिये अकेले जाता है और प्रहरियों को मारकर राक्षस और वररुचि के रहते हुए छुड़ा लाता है । फिलिप्स से द्वन्द्व युद्ध करने मे उसे तनिक भी संकोच नहीं होता । मालव युद्धमें सिकन्दरका डट कर सामना करता है और सिकन्दर घायल होता है । सिल्युकस को भी चन्द्रगुप्त पराजित करता है । वह भूख और प्यास की चिन्ता न कर दुर्गम प्रदेशों को पार कर चाणक्य के साथ अपने लक्ष्य पर पहुँचता है । युद्ध के समय वह अध्यवसाय और कर्त्तव्य पालन मे रत दिखाई पड़ता है। कर्त्तव्य पूर्ति के लिये अदृष्ट पर विश्वास रखते हुए मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिये प्रस्तुत है । उसका शिविर अश्व की पीठ पर है । उसमें उत्साह के साथ आशा भी चरम सीमा की है । वह विजय को अपना चिर-सहचर मानता है ।

आत्मसम्मान, निर्भीकता और स्वावलम्बन भी उसमें कूट-कूटकर भरा पड़ा है। वह दूरदर्शी भी कम नहीं है। मगध के नष्ट करने के लिये जब सिकन्दर अपना जाल बिछाता है और चन्द्रगुप्त से कहता है कि '**हमारी सेना इसमें सहायता करेगी**' तो तत्काल उसके अभिप्राय के तल म पहुँच जाता है और निस्संकोच निर्भीकता के साथ कहता है:—"**मुझे लोभ से पराभूत गान्धारराज आम्भीक समझनेकी भूल न होनी चाहिये, 'मैं मगधका उद्धार किया चाहता हूँ परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।**" वह आत्म सम्मान के लिये मर मिटना ही दिव्य जीवन समझता है। संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ उसन यही समझा है। चाणक्य के कठोर नियन्त्रण को अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझता है और उनसे जवाब तलब करने में तनिक भी नहीं हिचकता। आत्म सम्मान की रक्षा म चाणक्य और सिंहरण को खो बैठता है। पर वह हताश न होकर कृत संकल्प ही होता है। '**पिता गये...... सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा।**' चन्द्रगुप्त के तीव्र आत्मसम्मान और उत्कृष्ट स्वावलम्बन को उस समय मुखरित होते हुए देखते हैं जब सिंहरण का त्यागपत्र उसके सामने आता है। वह गरज उठता है:—'**हूँ, सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अधिकार सौंप दें...... चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो उसके नाम का जयघोष विजय लक्ष्मी का मंगल गान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट् नहीं सैनिक हूँ। चिन्ता क्या है, सिंहरण और गुरु देव न साथ दें, डर क्या? सैनिको, सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं। जाओ यह मुद्रा लो और सिंहरण को छुट्टी दे दो। कह देना तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण, चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।**'

वीरता के योग्य ही विनय और कृतज्ञता भी उसमें सर्वत्र दिखाई पड़ी है। सिकन्दर, सिल्युकस और चाणक्य के साथ उसने जो व्यवहार किया है उसमें ये गुण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। चन्द्रगुप्त ने रणक्षेत्र में सिकन्दर को घायल किया किन्तु उत्तेजित किये जाने पर भी वह उसका वध नहीं करता। उसे छोड़ देता है। कहता है '**यह पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखानेका प्रतिउत्तर है।**' इसी तरह युद्ध में पराजित करके भी चन्द्रगुप्त सिल्यूकसको बन्दी नहीं करता। केवल इसलिये कि उसपर कृतज्ञताका बोझ है। सिल्युकसने वनमें पिपासाकुल एवं मूर्छित दशा में व्याघ्र से उसकी रक्षा की थी। सिल्युकस से वह युद्ध नहीं करना चाहता था किन्तु उसकी प्रेरणा से ही उसे युद्ध करना पड़ा। युद्ध के आरम्भ होने के समय तक सिल्युकस से यही कहा—'**अतिथि का सा स्वागत करने में हम विशेष सुखी होते।**'

चन्द्रगुप्त आत्माभिमानी वीर योद्धा मात्र नहीं है। उसके भीतर भी मानव हृदय है। बाह्य जीवन में निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण उसको अन्तर की क्षुधा मिटाने का अवसर ही नहीं मिल पाता और वह रह रहकर विद्रोह कर उठता है। एक स्थान पर उसने मालविका के सामने अपना हृदय इन शब्दों में खोल कर रखा है:—'**युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वन्द्व। कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।**'

उसके क्षुधित हृदय की तृप्ति के साधन उसके सम्मुख उपस्थित हैं। उसे एक नहीं तीन-तीन युवतियाँ प्रेम करती हैं। कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया। तीन भिन्न

दिशाओं से चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरक्त के रूप में आती हैं। कल्याणी के मुख से सुनते हैं :— **'कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त।'** कार्नेलिया सिल्युकस से कहती है **'मुझे भारत की सीमा से दूर ले चलिए, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी'** और मालविका निःशब्द सोचती है **'जाओ प्रियतम, सुखी जीवन बिताने के लिए और मैं रहती हूँ चिरदुःखी जीवन का अन्त करने के लिए।'** पर चन्द्रगुप्त को विशाल मरुस्थल के बीच निर्मल जल रेखा की भाँति अपने **कठोर जीवन में निर्दोष मणि, सरल बालिका और स्वर्गीय कुसुम के दर्शन करने पर भी, मधुर मुरली की तान सुनने की अभिलाषा रखते और स्वर्गीय मधुरिमा को पहचानते हुए** भी वह ध्यान नहीं दे पाता कि उससे कौन प्रेम करता है और कितना प्रेम करता है। दे भी कैसे ? देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ और सम्मुख खड़ा कर्त्तव्य उसे इसका अवसर ही नहीं देता। कल्याणी पर्वतेश्वर-सिकन्दर युद्ध के समय प्रणय प्रसंग उठाती है पर अनुपयुक्त वातावरण को देखते हुए वह कह उठता है **"राजकुमारी समय नहीं है।'** उसके मनोभाव क्या हैं यह प्रकट नहीं होता। इतना ही जान पड़ता है कि उसमें चाहे और जो हो, उपेक्षा नहीं है। पर कल्याणी के अनुराग से परिचित होकर भी उसे इस बात का कभी ध्यान नहीं आया कि वह उसे पति रूप में चाहती है। अन्तिम समय में जब वह अपनी मनोभावना को प्रकट करती है तो आश्चर्य चकित हो कह उठता है:—**'क्या यह सच है कल्याणी ?'** पर तब बहुत देर हो चुकी थी। कल्याणी अपने पिता नन्द का विरोधी होने के कारण चन्द्रगुप्त के प्रणय को प्रेमपीड़ा को कुचल चुकी थी। उसके लिये कुछ अवशेष नहीं रह गया था। मालविका के प्रेम को चन्द्रगुप्त कभी जान भी न सका, उसके अन्तर को पहचान न सका। जानता भी कैसे, वह अपने उर की भावनाओं को सदा समेटे रही और मौन रहकर ही उसने अपना जीवन अपने प्रियतम के लिये उत्सर्ग कर दिया। चन्द्रगुप्त सरस भावों के साथ झुकता है। द्वितीय दृश्य के चतुर्थ अंक में वह मालविका के साथ पहली बार दिखाई देता है। उसके **मन में मुरली की तान सुनने की कामना न जाने क्यों जग पड़ी** और वह मालविका से गाने को कहता है और वह कहती है **'युद्ध काल है, देश में रणचर्चा छिड़ी है। आजकल मालव स्थान में गाता बजाता नहीं।'** अपनी ओर आकर्षित करने का अवसर पाकर भी, वह उसका उपयोग नहीं करती। चन्द्रगुप्त उसकी सरलता पर मुग्ध होने की बात कहता है पर उसे देखकर चकित होते हुए भी वह कहती है **'स्नेहसे हृदय चिकना हो जाता है, परन्तु बिछलने का भय भी होता है।'** दूसरी बार चतुर्थ अंक **के चतुर्थ दृश्य** में जब इसका अवसर मिलता है और चन्द्रगुप्त ऊबा-सा है अपने जीवन से और मालविका से कहता है '... **मेरा कोई अन्तरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट कह कर पुकारती हो'** और इस प्रकार जीवन का सरस संकेत करता है और पूछने पर उसे इन शब्दों में स्पष्ट भी करता है **'स्मरण आता है मालव का उपवन और उसमें अतिथि के रूप में मेरा रहना।'** पर मालविका उस अवसर से भी लाभ नहीं उठाती। अपने मनोभावों को व्यक्त न कर कर्त्तव्य की ही ओर संकेत करती है **'अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं। और...साधारण जन सुलभ दुर्बलता न होनी चाहिये आपमें...मन का निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है।'** कर्त्तव्य पाठ पढ़ाते हुए वह अपने को उत्सर्ग कर देती है पर मनोभाव प्रकट नहीं करती। रह गयी कार्नेलिया। उसके प्रति उसके मन में व्यग्रता है और कार्नेलिया के मन मे भी वही भाव है। पर परस्पर एक दूसरे पर उन भावों को व्यक्त करने का कोई अवसर नहीं आता।

इस प्रकार एक दूसरे के मनोभाव को जान भी पाते हैं यह ज्ञात नहीं होता। तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त की कुछ बाते होती है। वह इस बात से प्रसन्न होता है कि वह कार्नेलिया को विस्मृत नहीं हुआ। वह आगे कुछ संकेत भी इन शब्दों में करता है कि **'स्मृति जीवन का पुरस्कार है।'** अन्त में पूछता है कि **'उस समय भी मुझे भूलने की चेष्टा करोगी।'** वाक्यों से इस बात का कहीं संकेत नहीं होता कि उन दोनों में से किसी को भी प्रणय सूत्र में बँधने की आशा है अथवा दोनों के बीच प्रणय प्रेम है। सामान्य मैत्री की ही भावना व्यक्त होती है। कार्नेलिया के प्रेम का स्वरूप स्थान-स्थान पर सामने आया है और उसने अन्त में आत्महत्या करने की चेष्टा से पूर्व चन्द्रगुप्त का नाम लेकर उसे व्यक्त भी कर दिया है। पर चन्द्रगुप्त के किसी व्यवहार से यह प्रकट नहीं होता। यदि उन दोनों का परिणय होता है तो उसमें उन दोनों के प्रेम का, कम से कम चन्द्रगुप्त की ओर से कोई हाथ न था। परिणय केवल राजनीति के शतरंज की एक मुहर मात्र है जिसे चाणक्य ने आगे बढ़ाया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त के सरस हृदय का कोना हमें दिखाई तो पड़ता है पर दूसरों के सरस हृदय को देख सकने और परख सकने की क्षमता उसमें नही है। यही कदाचित उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है।

सिंहरण

सिंहरण की कुछ आलोचकों ने छोटा चन्द्रगुप्त कहकर चन्द्रगुप्त से तुलना करने की चेष्टा की है। उसे चन्द्रगुप्त की तुलना में किसी भी प्रकार रखा जा सकता है या नहीं, यह तो कहना कठिन है पर इतना तो है ही कि वह वीर है और वीरों की तरह ही वह स्पष्टवक्ता और निर्भीक भी है। उसकी ृष्टि में **मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की।** अर्थात् वह राजनीति की अपेक्षा युद्ध में विश्वास रखता है। वह युद्धप्रिय है। वह राजनीतिज्ञ की तरह किसी बात को गुप्त रखने में निपुण नहीं है। हम उसे तक्षशिला के गुरुकुल में विवेकाविवेक का विचार किये बिना ही आम्भीक के अविश्वासी और देशद्रोही नीति की आलोचना करते पाते हैं। हम उसे निर्भीकता के साथ आम्भीक के मुँह पर ही कहते सुनते ह :—**'हां, हां, रहस्य है। यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त की सुख रजनी की शान्ति निद्रा म, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार, सम्भवतः तक्षशिलाधीश बाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे।'**

सिंहरण के हृदय में राष्ट्रभावना कूट कटकर भरी हुई है। वह समग्र आर्यावर्त को अपना देश समझता है। उसके लिये मालव और गान्धार एक समान हैं। अपने इन भावों को वह अलका से व्यक्त करता हुआ कहता है **'गान्धार आर्यावर्त से भिन्न नहीं है, इसलिए उसके पतन को अपना अपमान समझता हूँ।'** किन्तु उसे अपने कार्यों के उपयुक्त परिस्थितियाँ न मिल सकीं और उसे अलका के आग्रह से तक्षशिला छोड़ना पड़ा। फिर भी हम उसे चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सूचना पाते ही पंचनद में उपस्थित पाते हैं। पर्वतेश्वर की सहायता करता हुआ वह घायल हो जाता है। पर्वतेश्वर के पराजय से लज्जित हो जाता है पर हताश नहीं होता। सिकन्दर ने जब उसके राष्ट्र मालव पर आक्रमण किया तो उसने चन्द्रगुप्त और

चाणक्य की सहायता से उसे इस बुरी तरह पराजय किया कि उसका विश्वविजेता बनने का सारा स्वप्न चूर चूर हो गया और उसे स्वदेश लौटना पड़ा। उसकी वीरता में उसका आत्म विश्वास निहित था। **'अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा।'**

चन्द्रगुप्त के मित्र के रूप में उसका व्यक्तित्व चन्द्रगुप्त के साथ एकरस हो गया है। वह चन्द्रगुप्त को कन्धे से कन्धा मिला कर सहयोग देता चलता है। उसके प्रत्येक कार्य में उसके साथ रहता है। चाणक्य के चले जाने पर वह चन्द्रगुप्त से रुष्ट भी होता है, फिर भी उसका साथ नहीं छोड़ता। ठीक समय पर उसकी सहायता को पहुँच जाता है। उसके मन में उदार भावनाएँ भी हैं। सिकन्दर ने पराजित पर्वतेश्वर को जीवित छोड़कर भारत का जो उपकार किया था, उस उपकार का बदला उसने सिकन्दर को जीवित चले जाने देने की उदारता करके चुकाया है।

राक्षस

राक्षस स्वर्गीय अमात्य वक्रनास के कुल में जन्मा है। वह कला कुशल और विद्वान कहा गया है। नन्द की रंगशाला में उसने अपने अभिनय और गान से अपनी कला का भी परिचय दिया है। वह कार्नेलिया का शिक्षक था इसलिये वह विद्वान भी रहा होगा। किन्तु उसमें हम चरित्र का सर्वथा अभाव पाते हैं। वह मद्यपों के बीच अपने एक गान का मूल्य एक पात्र कादम्ब लगाता फिरता है। उसे सुवासिनी के कारण ही नन्द का अमात्य पद मिलता है, अपनी किसी योग्यता के कारण नहीं। वह सुवासिनी के इशारों पर नाचने वाला जीव है। उसी के कहने से, उसे प्रसन्न करने के लिये ही वह बौद्ध मत का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में सुवासिनी के सामने साम्राज्य तुच्छ था, देश तुच्छ था। उसके मुँह से हम सुनते हैं **'जाता मगध, कटती प्रजा, लुटते नगर। मैं सुवासिनी के लिए मगध बचाना चाहता था।'** वह चाणक्य की प्रतिद्वन्दिता में केवल इसलिये खड़ा होता है कि उसे आभास होता है कि सुवासिनी का आकर्षण उसकी ओर है। विद्वेष ही उसके कार्यों में से प्रकट होता है। एक ही बात उसमें अच्छी दिखाई पड़ती है कि वह नन्दकुल का स्वामिभक्त सचिव है। मगध का अपमान उसे सह्य नहीं है किन्तु उसकी यह स्वामिभक्ति भी अत्यन्त संकुचित है। वह राष्ट्र के हित के सम्मुख वैयक्तिक कारणों को अधिक महत्व देता है और इसीलिये वह पर्वतेश्वर को कोई सहायता नहीं पहुँचाता। स्वार्थ की ओर ही हम उसे झुकते देखते हैं। अपने स्वार्थ के सम्मुख उसकी स्वामिभक्ति का कोई मूल्य नहीं रह जाता। वह अपने ही हाथों अपने स्वामी के शत्रु चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाता है, स्वामी के हत्यारे शकटार के सहयोग से मन्त्रिपरिषद का कार्य करना स्वीकार करता है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये विदेशी सिल्यूकस से जा मिलता है। देश का बहुत सा भेद बताकर आक्रमण के लिये उत्तेजित करता है। देश द्रोह करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं है।

राजनीतिक क्षेत्र में उसकी चाणक्य से प्रतिद्वन्द्विता दिखायी गयी है किन्तु चाणक्य के साथ उसकी कोई तुलना नहीं है। चरित्र से तो वह गिरा हुआ है ही। राजनीति में भी

वह प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा होकर भी चाणक्य के राजनीतिक इशारे पर ही नाचता नजर आता है। बुद्धि तो उसमे तनिक है ही नहीं। जरा सी देर में वह चाणक्य के भुलावे में आ जाता है और अपनी मुद्रा दे बैठता है। वह नन्दकुल के नाश को रोकने मे सफल होने की बात तो दूर, उसके रोकने के लिये प्रयत्नशील भी नहीं दिखता। उसे चाणक्य को अपदस्थ कराने की चेष्टा करते तो पाते हैं, वह चन्द्रगुप्त की हत्या का भी प्रयत्न करता है, पर उन सब के पीछे किसी प्रकार की बुद्धि काम करती नही दिखाई देती। निदान वह असफल होता है। इसी बुद्धि शक्ति के अभाव के कारण कहीं भी देखने को नहीं मिलता कि वह भी राजनीतिज्ञ है। वस्तुतः वह खल नायक मात्र रह गया है। मुद्राराक्षस के राक्षस को हम बुद्धि के अभाव में नहीं, परिस्थितियों के कारण पराजित पाते हैं। यदि प्रसाद जी ने उसे चाणक्य के समान ही कूटनीतिज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया होता तो शायद हम चाणक्य को अधिक निखरे रूप में पाते।

•

पर्वतेश्वर

राक्षस के समान ही पर्वतेश्वर का चरित्र भी हमारे सम्मुख बहुत ही विकृत उपस्थित किया गया है। आरम्भ में निस्सन्देह उसमें हम क्षत्रियोचित दर्प भरा पाते हैं। अपने दर्प में वह प्राच्य देश के बौद्ध तथा शूद्र राजा नन्द की कन्या से सम्बन्ध करना अस्वीकार कर देता है। यहाँ तक तो ठीक था पर हम देखते हैं कि वह अपने दर्प में राजनीति भी सोच नहीं पाता। वह चाणक्य की सलाह के अनुसार चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता कर मगध की विशाल सेना को केवल इसलिये प्राप्त नहीं करना चाहता कि चन्द्रगुप्त वृषल है। अपने दर्प में ही वह चाणक्य को अपने यहाँ से निकाल देता है। इस अनुचित दर्प के बावजूद पर्वतेश्वर एक वीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सिकन्दर के साथ युद्ध में हम उसके साहस और वीरता का अद्भुत परिचय पाते हैं। वह अकेले उत्साह के साथ युद्ध में तत्पर रहता है। हाथियों के प्रत्यावर्तन से हतोत्साहित न होकर वह सेनापति को आदेश देता है कि:—**'उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसन की जगह वज्र बरसें, सारी गज सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है। धर्मयुद्ध में प्राण भिक्षा मांगने वाले भिखारी हम नहीं। जाओ उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने के लिए कहो। कहो मरने का क्षण एक ही है।'** वीर का यह दर्प निःसन्देह प्रशंसनीय है पर हम देखते हैं कि वह कोरा दर्पमात्र प्रमाणित होता है। वीरता से लड़ने के बावजूद भी हम देखते हैं कि वह सिकन्दर से प्राण की भिक्षा ही मांगता है। उसके कथन में भले ही **'प्राण'** और **'भिक्षा'** शब्द न हों, पर उसके ये वाक्य **'वैसा व्यवहार जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है।'** पराजय और प्राण रक्षा की भावना स्पष्ट ध्वनित करता है। नाटककार ने पर्वतेश्वर की इस दुर्बलता का अनुभव किया है और अलका के माध्यम से प्रकट भी कर दिया है कि **'यदि भूपालों का सा व्यवहार न मांग कर आप सिकन्दर से द्वन्द्व युद्ध मांगते तो अलका को**

विचार करने का अवसर मिलता।' स्पष्ट है अलका उसे कायर समझती है। इसकी ओर ध्यान न देकर इसे पर्वतेश्वर का गुण ही समझा जाता है।

इसके आगे तो पर्वतेश्वर का चरित्र स्पष्टतः पतित रूप में हमारे सामने आता है। उसके इस पतन का कारण पराधीनता का अभिशाप नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ऊपर से सुन्दर दिखने वाला उसका जीवन ही भीतर से खोखला था। पराधीनता में दर्प के आवरण में दुर्बलताओं को छिपा सकना सम्भव न था। इसलिये वह अधिक मुखर होकर हमारे सामने आती है। वह अलका के सम्मुख गिरता है। अलका के प्रति आसक्ति के कारण सिकन्दर की मैत्री की उसे याद नहीं रहती और वह अलका की बातों को मानकर सिकन्दर की सहायता न करने का वचन देता है, किन्तु जब सिकन्दर सेना भेजने का आदेश देता है तो वह भयभीत हो उठता है। एक की आज्ञा पालन में दूसरे का कोप उसे त्रस्त करता है और वह मध्यम मार्ग निकाल कर उससे बचने की चेष्टा में कहता है:—**'मैं समझता हूँ एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ। फिर कोई बहाना ढूंढ़ निकालूंगा।'** उसकी वीरता और दर्प एकदम दबकर लुप्त हुए दीखते हैं। और चरित्रबल से शून्य हो वह सामने आ जाता है। अपने इस मध्यम मार्ग से जब वह अलका को सन्तुष्ट नहीं कर पाता और अलका उसके हाथ से निकल ही जाती है तब हम उसे एक बार पश्चात्ताप करते पाते हैं। उसमें उसका पुराना अभिमान कुछ जगता सा दीखता है पर उसमें इतना बल नहीं कि वह उसकी दुर्बलताओं को दबा सके और कायर के अन्तिम अस्त्र आत्म हत्या का सहार लेना चाहता है। चाणक्य उसे रोकता है, स्मरण दिलाता है:—**'मनुष्य अपनी दुर्बलत से भलीभाँति परिचित रहता है। परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिये। असम्भव कह कर किसी काम को करने से पहले कर्म क्षेत्र में काँप कर लड़खड़ाओ मत।'** वह उस समय आत्म हत्या तो नहीं करता पर आगे जो कुछ करता है उसमें भी उसकी नैतिक हीनता ह प्रकट होती है। आधा राज्य पाने के लोभ में मगध की राजक्रान्ति में सहयोग करता है प राजक्रान्ति के सफल होने पर जब राज्य प्राप्त नहीं होता तो हम उसे क्षुब्ध तो देखते ह पर वह क्षोभ निष्क्रिय है। जिस प्रकार सिकन्दर से पराजित होकर उसकी कामुकता जाग उठी थी और वह अलका की ओर आकृष्ट हुआ था ठीक उसी प्रकार इस पराजय के बा उसे हम कल्याणी से छेड़-छाड़ करते पाते हैं और उसी में उसकी हत्या हो जाती है। जि कल्याणी के साथ विवाह करने के सम्मानपूर्ण प्रस्ताव को उसने अपने क्षत्रियोचित दर्प अस्वीकार किया था, उसी की ओर लोलुप बनकर आकृष्ट होना उसके निकृष्टतम चरि को व्यक्त करता है।

प्रसाद जी ने ऐतिहासिक पौरव की गुण-गरिमा को महत्व न देकर पर्वतेश्वर को निम्न स्तर के मिथ्या गर्व से युक्त और कामुक किस दृष्टि से चित्रित किया है यह तो कहना कठि है किन्तु यदि हम उसे ऐतिहासिक पौरव से अलग कर दें तो यह चरित्र जीवन के एक पक्ष यथाथ स्वरूप को हमारे सामने रखता है।

अन्य पुरुष पात्र

इन पात्रों के अतिरिक्त आम्भीक, सिकन्दर, फिलिप्स, सिल्युकस, नन्द, वररुचि शकटार अन्य ऐसे पुरुष पात्र हैं जिनकी कुछ चर्चा की जा सकती है। पर नाटक में उनव

स्थान नगण्य सा ही है। आम्भीक अविवेकी, स्वार्थी और दम्भी युवक है। व्यक्तिगत द्वेष के कारण उसे विदेशी आक्रमणकारी को सहायता देने में संकोच नहीं होता। इस सहायता के अन्तिम परिणाम तक न तो सोचता है और न सोचना चाहता है। चाणक्य की बातों की उपेक्षा करता है। उसकी दुर्नीति से उसकी बहन और उसके पिता दुखी होकर गृह-त्याग कर देते हैं। पराधीनता से प्रताड़ित होने पर उसे अपनी भूल मालूम होती है और व्यर्थ के अभिमान को छोड़ अपने किये हुए को मिटाने का प्रयत्न करता है।

सिकन्दर, फिलिप्स और सिल्यकस ये तीनों विदेशी हैं। ये नाटक के नायक चन्द्रगुप्त के प्रतिपक्षी हैं। अतः हम स्वाभाविक रूप से नाटक में उनके सद्गुणों के विकास की आशा नहीं कर सकते। फिर भी जो कुछ चित्र हमारे सामने आया है उसमें सिकन्दर को लूट के लोभ से अन्य व्यवसायियों को एकत्र करने वाला और नृशंस निरीह जनता का अकारण वध करने वाला देखते हुए भी उसमें कुछ सद्गुण पाते हैं। उसमें उदारता की भावना है। दूसरों के प्रति उदार होने के साथ साथ दूसरों की उदारता के प्रति उसमें कृतज्ञता भी है। उसमें महात्माओं और गुणी जनों के प्रति आदर भाव भी है। भारत की आध्यात्मिकता और दार्शनिकता के प्रति उसे आकर्षित पाते हैं उससे प्रभावित होकर भारत का अभिनन्दन करते देखते हैं। सिल्युकस में प्रायः सिकन्दर का सा ही चरित्र विकसित हुआ है। सिकन्दर विश्व-विजय करना चाहता था। इसमें सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य, उससे बड़ी विजय पाने की महत्वाकांक्षा थी। सिकन्दर की तरह यह भी उदार था। वह अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करने वाले का वध नहीं करना चाहता था। वह चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना देने की इच्छा रखता था। इसीलिये उसने साइबर्टियस को दूत बनाकर भेजा था। वह युद्ध नहीं केवल विजय चाहता था। फिलिप्स कामुक के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

नन्द निरंकुश, क्रूर और स्वेच्छाचारी शासक का मूर्तरूप है। अपने पिता की हत्या करके सिंहासन पर बैठा था। उसका स्वरूप इस नाटक में मद्यप, विलासी और क्रूर के रूप में व्यक्त हुआ है। अपनी उद्धत प्रकृति के कारण अपने चारों ओर विरोधी पैदा कर लेता है। अपने राज्य के प्रायः सभी विचारशील व्यक्तियों को या तो निर्वासित कर देता है या जेल में डाल देता है फलतः उससे सब नागरिक असन्तुष्ट हो जाते हैं और विरोधी दल बलशाली हो जाते हैं और उसका अन्त कर डालते हैं।

वररुचि एक चतुर अमात्य और वार्तिककार विद्वान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। न्याय अन्याय का वह अनुभव करता है। नन्द के सम्मुख उसका विरोध भी करता है और अन्ततः मन्त्रिपद छोड़ भी देता है। उसका हृदय सदय है। नन्द ने यद्यपि उसे अन्धकूप में डलवा दिया था फिर भी क्षमाशील होकर चाणक्य से हम यही कहते सुनते हैं: **'नन्द की भूल थी। वह अब भी सुधारी जा सकती है। ब्राह्मण क्षमानिधि भूल जाओ।'** वररुचि को ही हम नन्द की हत्या पर **अनर्थ** कह कर क्षोभ प्रकट करते देखते हैं। कार्नेलिया के प्रति मंगल कामना भी उसकी सहृदयता को व्यक्त करती है।

शकटार पर इतनी अधिक विपत्तियाँ पड़ी हैं कि उसका हृदय हड्डी की भाँति कठोर हो गया है। उसमें प्रतिशोध की मात्रा इतनी अधिक है कि वह नन्द को, सबके क्षमा करने पर भी क्षमा नहीं कर पाता और हत्या कर डालता है।

अलका

नारी पात्रों मे अलका, सुवासिनी, कल्याणी, मालविका और कार्नेलिया मुख्य हैं। इनमें भी अलका का चरित्र सबसे अधिक विकसित है। चाणक्य के बाद इस नाटक में उसी को महत्व दिया जा सकता है। तक्षशिला के गुरुकुल में वह चन्द्रगुप्त और सिंहरण के बातों से प्रभावित होती है। उन लोगों की बातों को अपने अन्तर्वृत्त के अनुकूल पाकर उसमे रम जाती है। देश-भक्ति की धुन उसमे समा जाती है। अपने पिता और भाई को देशद्रोह में हाथ बटाते देख उसका हृदय विद्रोह कर उठता है। अपने इस विद्रोह को उसने अपने शब्दों मे व्यक्त भी कर दिया है : **'यदि वह बन्दिनी नहीं बना कर रखी जायगी तो सारे गान्धार में वह विद्रोह मचा देगी।'** और वह राज्य-सुखों को ठोकर मार कर अकेली निकल खड़ी होती है : उसके मन में भावना व्याप्त है : **'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं।'** इसीलिए यवनों के हाथ स्वाधीनता बेच कर उनके दान से जीने की शक्ति उसमे नहीं है। उसके इस देश-प्रेम को भावावेश कहा जा सकता है पर इस देश-प्रेम मे स्वार्थ के पोषण तत्व का सर्वथा अभाव है। चाणक्य के कार्य में हमें विदेशियों के प्रति असहनशीलता और नन्द के प्रति व्यक्तिगत प्रतिशोध काम करता दिखाई देता है पर अलका को हम विशुद्ध देशप्रेम की उत्कट भावना से ओतप्रोत पाते हैं। उसका त्याग एक दम सात्विक और स्वार्थहीन है। राष्ट्र-प्रेम ही उसके कार्यों का संचालक है। देशोद्धार के लिए वह नटी बनती है। देशोद्धार के प्रयत्न में युद्ध भूमि में वह बन्दी बनायी जाती है और देशोद्धार के लिए वह पर्वतेश्वर के राजमहलों में जाना स्वीकार करती है।

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो

का उ्बोधन करती हुई अलका तक्षशिला निवासियों के बीच जिस समय घूमती है उस समय उसका महान् स्वरूप हमारे सम्मुख अंकित हो जाता है।

जहाँ एक ओर देश-प्रेम से ओतप्रोत होकर वह विद्रोह का डंका बजाती चल रही है वहीं उसके हृदय के एक कोने मे प्रेम का कोमल तार भी झंकृत होता रहता है। सिंहरण के लिए। सिंहरण के प्रति वह आकृष्ट हुई उसके निर्भीक और स्वदेश प्रेमी स्वभाव से। आम्भीक के क्षुब्ध होने के पश्चात् जब अलका सिंहरण से गान्धार छोड़ने का अनुरोध करती है और वह उत्तर में कहता है कि **'मेरा देश मालव ही नहीं गान्धार भी है। यही क्यों समग्र आर्यावर्त है।'** तब अलका के हृदय का तार भी इस मृदु आघात से झनझना

उठता है : **'मैं भी आर्यावर्त की बालिका हूँ ।'** विचारों की यह एकता ही अत्यन्त सरल ढंग से दोनों को स्नेह के बन्धन में बांध देते हैं और एक दिन दोनों प्रणयसूत्र में बंध जाते हैं ।

सिंहरण का यह स्नेह अलका के देश-प्रेम में बाधक न होकर साधक ही बनता है और उसे अनुप्राणित करता रहता है । वीरता भी उसमें कूट-कूट कर भरी हुई है और अवसर आने पर उसने उसे व्यक्त भी किया है । मालव दुर्ग में जिस प्रकार उसने सिकन्दर का प्रतिरोध किया उसे देख कर सिकन्दर भी चकित रह गया । और उसने उसे देखने की इच्छा प्रकट की, देश-प्रेम और वीरता में सराबोर बाला भारतीय नारी की एक आदर्श कल्पना है और उस कल्पना को नाटककार ने अत्यन्त कुशलता से अंकित किया है ।

सुवासिनी

कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम, सुन्दरता की रानी, कला मर्मज्ञ सुवासिनी शकटार की कन्या और राक्षस की अनुरक्त है । वह हमें पहले मगध सम्राट् के विलास-कानन की रानी और उसके बाद उसके अभिनय-शाला की नर्तकी के रूप में दिखाई देती है । जिससे प्रकट रूप में वह वेश्या और अभिनेत्री ही लगती है किन्तु वह अनाथ है, जीविका के लिए ही उसने ऐसा किया है । उसने स्त्रीत्व नहीं बेचा है । वह नन्द के विलास लीला की क्षुद्र उपकरण बन कर नहीं रहना चाहती । सम्राट् की भोग्या नहीं बन सकती । वह राक्षस की धरोहर है । उसके प्रति उसको इतनी निष्ठा है कि उसे खोजने वह स्वर्ग में जाने को भी तैयार है । राक्षस के साथ उसका विवाह भी होने जा रहा था पर नन्द ने बाधा दे दी जिससे न हो सका । उसके बाद दुबारा जब राक्षस उससे प्रणय याचना करता है तो वह प्रणय याचना को ठुकराती तो नहीं किन्तु विवाह के पूर्व पिता की आज्ञा को आवश्यक समझती है । वह नहीं चाहती कि उसका चिर-दुःखी पिता उसके किसी स्वेच्छापूर्ण आचरण से दुखी हो, उन्हे किसी प्रकार का मानसिक कष्ट हो । वह अपने पिता के लिए अपना चरित्र, अपनी निष्कलंकता को नितान्त वांछनीय समझती है । इस प्रकार सुवासिनी हमारे सामने परिस्थिति से प्रताड़ित नारी के रूप में एक अवांछनीय व्यवमायरत सामने आती है पर उसका चरित्र एक आदर्श पितृभक्त कन्या एवं सत्यनिष्ठ प्रेमिका के रूप को मुखरित कर बहुत ऊँचे उठ जाता है । नाटककार ने उसके मन की दु र्लता को सामने रख कर उसके चरित्र को तनिक दुरूह बना दिया है जिससे उसके आदर्श के प्रति विरक्ति और अश्रद्धा सी होने लगती है । चाणक्य से उसका बाल-काल का परिचय था, कदाचित् उसके प्रति उसका कोई आकर्षण रहा भी हो । राक्षस के इस बाल-परिचय का स्मरण दिलाने पर हम उसके मुख से सुनते हैं : **'मैं चाणक्य को इधर तो एक प्रकार से विस्मृत ही हो गयी थी, तुम सोई हुई इस भ्रान्ति को न जगाओ ।'** चाणक्य जब उसे बाल जीवन का स्मरण दिलाता है तो वह इन शब्दों में चेतावनी देती है : **'यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो ? फिर अपने को नहीं ? देखो दर्पण लेकर तुम्हारी आँखों में तुम्हारा कौन सा चित्र है ?'** यहाँ तक तो उसके चरित्र को बहुत ऊँचे पाते हैं पर कुछ ही आगे बढ़ कर हम देखते हैं कि वह स्वयं अपने इन शब्दों को भूल जाती है । चाणक्य के सामने दुबारा पड़ने पर उसका बाल-

स्नेह प्रणय-वासना के रूप में उबल पड़ता है। वह राक्षस को भूल जाना चाहती है। उसकी यह दुर्बलता उसके सारे आदर्शों पर पानी फेर देती यदि चाणक्य का उस दिन का दुर्बल मन आज भी दुर्बल बना रहता और उस दिन सुवासिनी के भ्रूभंग से उसका स्वप्न टूटा न होता तो निश्चय ही सुवासिनी फिसल जाती। इसलिए सुवासिनीको आदर्श निभा सकने में समर्थ बनाने का श्रेय चाणक्य को है, उसे अपने आपको नहीं। यदि नाटककार को सुवासिनी के मन में चाणक्य और राक्षस के प्रेम को लेकर अन्तर्द्वन्द दिखाना ही था तो सुवासिनी को तने नीचे गिराये हुए भी दिखाया जा सकता था। बचपन के दिनों की स्मृति की एक मधुर टीस ही उसे व्यक्त करने के लिए पर्याप्त थी।

कल्याणी

कल्याणी मगध की राजकुमारी है। नाटक में उस के हृदय में तीन भावनाएँ काम करती दिखाई पड़ती हैं। चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग, पर्वतेश्वर के प्रति प्रतिशोध-भावना और पिता के प्रति अटूट प्रेम। पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए पराजय के समय सहायता पहुँचाने का उद्देश्य लेकर वह सिकन्दर-पर्वतेश्वर युद्ध में सम्मिलित होती है पर उसे इसमें सफलता नहीं मिलती। उसका दूसरा लक्ष्य चन्द्रगुप्त से मिलन है। कल्याणी का चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण उसके तक्षशिला से लौटने पर सरस्वती मन्दिर के उपवन में पहली बार व्यक्त हुआ। उसे उसने अधिक स्पष्ट रूप से युद्ध के समय व्यक्त किया। पर उस समय चन्द्रगुप्त को प्रणय के लिए अवकाश न था, वह उसकी प्रणय याचना के संकेत को ग्रहण न कर सका। और जिस समय उसे पता चलता है कि कल्याणी ने **वरण किया था केवल एक पुरुष को, वह था चन्द्रगुप्त**, उस समय बहुत देर हो चुकी थी। उस समय तक कल्याणी अपने प्रणय अपनी प्रेम पीड़ा को कुचल चुकी थी। और केवल इसलिये कि उसका प्रेमी उसके पिता का विरोधी था। कल्याणी का मूक प्रेम और उस प्रेम की प्यास को लिये तड़प कर मर जाना उसके हृदय का हृदयस्पर्शी द्वन्द है। और यही अन्तर्द्वन्द कल्याणी के चरित्र का सर्वोच्च विकास है।

मालविका

सरलता और कोमलता से भरी हुई मालविका सिन्धु देश की राजकुमारी है। वह चन्द्रगुप्त से प्रेम करती रही पर उसने अपने किसी कार्य से चन्द्रगुप्त को यह आभास भी न होने दिया कि उसे कोई चाहता है। वह अपने उर की भावनाओं को सदा अपने में समेट रही। और मौन रहकर ही उसने अपने प्रेमी के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। चन्द्रगुप्त कभी कुछ पूछ लेता, उसके प्रति आदरसूचक शब्द कह देता या कभी उससे गीत सुनाने का अनुरोध करता तो मालविका गद्गद् हो जाती और उसी को अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझती किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अवसर पाकर भी वह सदा अपने को संयत रखने का प्रयत्न करती रही। द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य में चन्द्रगुप्त मालविका की ओर कुछ झुकता दिखाई पड़ता है। उसके मन में मुरली की तान सुनने की कामना न जाने क्यों जाग पड़ी है। वह मालविका से गाने का अनुरोध करता है पर मालविका उसे स्मरण

दिलाती है **'युद्ध काल है, देश में रणचर्चा छिड़ी है आजकल मालव में कोई गाता-बजाता नहीं।'** पुनः चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में चन्द्रगुप्त अपने जीवन से ऊबा हुआ मालविका से कहता है: **'मेरा कोई अंतरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट् कहकर पुकारती हो'** और इस प्रकार **जीवन का सरस संकेत** करता है **मालव के उपवन की, वहाँ अतिथि रूप में रहने के दिनों की** याद भी दिलाता है पर वहाँ भी हम देखते हैं कि मालविका अपने प्रणयाकांक्षा को उभरने नहीं देती। कर्त्तव्य की ओर संकेत करते हुए कहती है: **'कितने ही भयंकर संघर्ष सामने हैं। और.... साधारण जनसुलभ दुर्बलता न होना चाहिये आपमें .....मन का निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है।'** उसके सम्मुख अपने प्रणय से अधिक देश के प्रति कर्त्तव्य का महत्व था और अपने से अधिक महत्व था चन्द्रगुप्त के जीवन का। कर्त्तव्य और प्रणय के अन्तर्द्वन्द मालविका के भीतर है पर उसका प्रणय कर्त्तव्य के सम्मुख उभरने नहीं पाया, यही उसे सारे पात्रों में सबसे ऊँचा उठा देता है।

कार्नेलिया

कार्नेलिया इन दोनों प्रणयाकांक्षियों से भिन्न हमारे सम्मुख उपस्थित की गयी है। वह यवनराज कुमारी सिल्यूकस की कन्या है। उसका विवाह चन्द्रगुप्त से कराने के लिए प्रसाद जी ने दो युवतियों की हत्या करायी है। हम कार्नेलिया को कहीं भी प्रणयाकांक्षिणी के रूप में नहीं पाते जिससे इसका कुछ औचित्य जान पड़े। नाटक में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया में परस्पर एक दूसरे के प्रति व्यग्रता है पर ऐसा कोई अवसर हमारे सामने नहीं आता जिससे हम जान सकें कि कार्नेलिया में चन्द्रगुप्त के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति है या चन्द्रगुप्त कार्नेलिया पर आसक्त है। तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रथम संलाप होता है। इससे पूर्व का प्रसंग एक दूसरे को देखने मात्र का है--चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया को फिलिप्स से बचानेका है। इस संलाप में चन्द्रगुप्त को इस बात से प्रसन्नता होती है कि कार्नेलिया उसे भूली नहीं है। वह इस बात का संकेत इन शब्दों में करता है कि **'स्मृति ही जीवन का पुरस्कार है।'** यदि इसको और इसके आगे कहे गये इन शब्दों को **'ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे, इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिंड की कोई कक्षा नहीं'** किसी प्रकार का चन्द्रगुप्त की ओर से प्रणय संकेत मान भी लें, जो कि नहीं है, तो भी कार्नेलिया के शब्दों से यह प्रकट नहीं होता कि उसके हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति कोई आकर्षण है। वह तो जो कुछ कहती है उससे यही जान पड़ता है कि उसको चन्द्रगुप्त से नहीं वरन् **भारत से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। वह भारतभूमि को नहीं भूलना चाहती।** वह इसलिये मर्माहत है कि वह **भारत को न देख सकेगी।** अधिक से अधिक हम कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के बीच सामान्य मैत्री सम्बन्ध की ही झलक पाते हैं। उनके किसी वाक्य या शब्द से प्रतिध्वनित नहीं होता कि उन दोनों के बीच किसी प्रकार का प्रणय प्रेम है अथवा उन दोनों को प्रणय सूत्र में बंधने की आशा हो। आत्महत्या से पूर्व कार्नेलिया चन्द्रगुप्त का नाम लेती है, यही एक स्थल ऐसा है जिसे हम कार्नेलिया के प्रेम का उद्घोष कह सकते हैं। किन्तु नाटक के अन्त में उन दोनों का जिस रूप में परिणय होता है उसमें उन दोनों के इस प्रेम का, यदि उनमें अव्यक्त रूप में रहा हो तो भी, कोई हाथ

नहीं है। यह परिणय राजनीति की एक शतरंजी चाल मात्र है जिसे चाणक्य ने आगे बढ़ाया है। इसलिए कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त की प्रणयिनी के रूप में देखना एक भूल होगी। उस रूप में उसका कोई स्पष्ट चित्र हमारे सामने है ही नहीं।

उसका चरित्र एक उदार नारी के रूप में निखरा हुआ हमारे सामने आता है। उसका भारतीय संस्कृति, भारत भूमि के प्रति मोह है। वह अपने इस मोह को इस आवेश के साथ व्यक्त करती है कि यूनान में जन्म लेने का उसे घोर दुःख है। इसी कारण वह भारत भूमि को रक्त रंजित नहीं देखना चाहती। इसीलिये वह सिल्यूकस कीमहत्वाकांक्षा को दबाने का प्रयत्न करती है चन्द्रगुप्त के प्रति उपकारों के कारण ही उसके मन में नारी-स्वभाव-जन्य हितकामना व्याप्त है और उसके लिए प्रयत्न भी करती है। अन्त में उसके आत्म-सम्मान की एक झलक मिलती है जब हम उसे यह कहते हुए सुनते हैं--**चिन्ता नहीं, ग्रीक बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्म सम्मान--ग्रीक का आत्म सम्मान--जिये।'** जो भी हो कार्नेलिया एक सामान्य नारी से अधिक नहीं है।

सर्वोत्तम नाटक

अपनी अनेक त्रुटियों के बावजूद यह नाटक प्रसाद के नाटकों में सर्वोत्तम है, इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अवस्था अपने सजीव रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित की गयी है। राजनीतिक दृष्टि से उस समय उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर थे। एक शासक की दूसरे शासक से पटती नहीं थी। एक ओर नन्द पर्वतेश्वर का विरोध था तो दूसरी ओर अम्भीक और पर्वतेश्वर मे पारस्परिक झगड़ा था। एक शत्रु का स्वागत कर रहा था तो दूसरा उसके विरोध में डटा था। ऐसी अवस्था का जो परिणाम होना चाहिये था वही हुआ। पंचनद के गणतन्त्रों में भी पारस्परिक एकता नहीं थी। उनका मिलना भी सरल नहीं था। इसी बीच एक विदेशी आक्रमण, देश की यह दुरवस्था, इसके साथ ही आन्तरिक दृष्टि से देशके सबसे बड़े राज्य मगध में अशान्ति। शासक विलासिता और कामुकता में रत, शासन उच्छृङ्खल, जनता अत्याचार से पीड़ित। विद्रोह की सारी सामग्री उपस्थित है। ऐसी अवस्था में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न, और विदेशियों को पराजित कर वापस लौट जाने को विवश करना, वस्तुतः देश के इतिहास में एक बहुत बड़ी घटना है जो हमें इस बात की चेतावनी देती है कि पारस्परिक एकता की हमें कितनी बड़ी आवश्यकता है और सुशासन न होने से देश में, जनता में कितना असन्तोष फैल सकता है। एकता के सूत्र में बाँधने और विराट् साम्राज्य स्थापित करने का जो प्रयत्न चाणक्य और चन्द्रगप्त ने किया वह, आज के जनतन्त्रवादी युग में भले ही साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का द्योतक कहा जाय, पर उसके पीछे देश-प्रेम और राष्ट्र के प्रति जो कर्त्तव्य की भावना है, वह आज के युग में भी हमें प्रेरणा देती है। देश की एकता की उत्सुकता प्रत्येक पग पर व्यक्त होती दिखाई देती है। आरम्भिक दृश्य में ही तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य अपने शिष्यों को बताता है कि--**'मालव और मगधको भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह आत्मसम्मान मिलेगा।'** सिंहरण भी इसी एकता की भावना को इन शब्दों

में व्यक्त करता है : **'परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं गान्धार भी है। यही क्यों समग्र आर्यावर्त है।'**

जिस समय यह नाटक लिखा गया उस समय देश में अंग्रेजों के विरुद्ध, उनके अत्याचारों के विरुद्ध कांग्रेस का आन्दोलन छिड़ा हुआ था। लोग देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अपना जीवन लगा देने में व्यस्त थे। चन्द्रगुप्त सिंहरण और अलका में उन्हीं दिनों के देश-सेवा-व्रती लोगों का चित्र प्रतिविम्बित आ है। अलका गान्धार निवासियों को उसी प्रकार अनुप्राणित करती फिर रही है जिस प्रकार उन दिनों देश-सेविकाएँ तिरङ्गा झंडा लिये गाती हुई गलियों और सड़कों पर घूमा करती थीं।

देश के गौरव के प्रति प्रसाद जी का मोह भी स नाटक में स्थान-स्थान पर प्रबल रूप में प्रकट हुआ है। वे विदेशियों के मुँह से भारत की महिमा का बखान कराते हैं छोटी-छोटी घटनाओं द्वारा भारतीयों के चरित्र की महत्ता को विदेशियों के सामने रखते हैं। चन्द्रगुप्त और सिंहरण सिल्यूकस और सिकन्दर को अपने चंगुल में फँसा पाकर भी जीवित छोड़ देते हैं और इसी प्रकार भारतीय कृतज्ञता का स्वरूप सामने आता है। उनके व्यक्तित्व में राष्ट्र के व्यक्तित्व को व्यक्त करने की चेष्टा प्रसाद ने की है। वे यह बताना चाहते हैं कि किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसका अपना व्यक्तित्व नहीं है वरन् वह राष्ट्र का व्यक्तित्व है। और वह व्यक्तित्व भारतीयों में सबसे अधिक है।

सामाजिक जीवन

इस नाटक में राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त सामाजिक जीवन विशेषतः नारी के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। नारी को हम पर्दे से बाहर राजसभा में उपस्थित देखते हैं। स्वच्छन्दता से वह अपना मत भी व्यक्त करती है। अवस्था और परिस्थिति के अनुसार हम उसे युद्ध-क्षेत्र में भी उपस्थित पाते हैं। उसे विद्रोह के लिये अग्रसर देखते हैं। विद्रोह का नेतृत्व करते पाते हैं। कल्याणी, मालविका और अलका के रूप में हमारे साम े यही करने का यत्न किया गया है कि नारी घर के बाहर भी पुरुष के समान ही हर काम को करने की क्षमता रखती है और हर काम करती रही है। अजातशत्रु में नारी के कार्यों को पुरुष के कार्यों से भिन्न मानने वाले प्रसाद स नाटक में नारी की समानकर्मा मान े को प्रस्तुत जान पड़ते हैं। उनके विचारों में इस दिशा में घोर परिवर्तन हुआ था, ऐसा जान पड़ता है।

यह नाटक प्रेरणात्मक है। समें वस्तुतः हमें वैसी ही प्रेरणा प्राप्त होती है, जिसको लक्ष्यकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखने की बात विशाख की भूमिका में कही है।

विशाख

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पुराणों के अतिरिक्त भारतव ं का प्राचीन तिहास हमें कल्हण कृत राजतरंगिणी से ज्ञात होता है। उसकी रचना से पूर्व भी इतिहास लिखे जाने का प्रयत्न हुआ था, किन्तु वे तिहास आज प्राप्य नहीं हैं। कल्हण की राजतरंगिणी की कु बातों को छोड़कर सारी बातें प्रामाणिक इतिहास के रूप में स्वीकार की जा ी हैं। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु के रूप में जो एतिहासिक घटना चुनी गयी है वह इसी पुस्तक से ली गयी है किन्तु उसके घटना तिथि के सम्बन्ध में मतभेद है। राजतरंगिणी में स घटना का समय ९७० वि० पू० बताया गया है। किन्तु समझा ऐसा जाता है कि उसने शासकों का जो ऐतिहासिक-क्रम दिया है उसमें कुछ शासकों के नाम कल्पित हैं और उनका अस्तित्व था ही नहीं। ऐसे कल्पित शासकों का समय ११०० वर्ष है: अतः इन कल्पित शासकों को अलग करने के पश्चात जो कालक्रम निर्धारित होता है उसके अनुसार यह घटना प्रथम शताब्दी ईसवी की ठहरती है।

उन दिनों काश्मीर का शासक विभीषण द्वितोय का पुत्र नरदेव था। पहले तो वह योग्यता से शासन करता रहा, पोछे वह उत्तरोत्तर कामुक और उच्छृङ्खल होता गया। किन्नरग्राम का ौद्ध योगबल से उसकी रानी को कुपथ पर ले गया। सपर नरदेव ने क्रुद्ध होकर सब विहारों को जलवा दिया और सारी विहारभूमि ब्राह्मणों को दे डाली।

नरदेव ने वितस्ता नदी के तट पर एक सुन्दर नगर बसाया। उस नगर के पास आम्र-वन के बोच में एक तालाब था जहाँ सुश्रवा नामक एक निर्धन नाग रहता था, उसकी इरा-वती और चन्द्रलेखा नाम की दो सुन्दरी कन्याएँ थीं। वे एक दिन मालिन वेश में सेम की फलियां तोड़ कर खा रहीं थीं तभी दोपहर के समय एक ब्राह्मण आकर उस सरोवर पर ठहरा और भोजन का उपक्रम करने लगा। रावती और चन्द्रलेखा को देखकर वह रुक गया और उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा की। उनकी दीन अवस्था का समाचार सुनकर वह वित हो उठा और अपने भोजन में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया। उन्होंन अपने पिता का परिचय देकर बताया कि वे तक्षक उत्सव के समय वहीं आवेंगे, तब उनसे ही सब बातें पूछ लोजियेगा। उन्होंने यह भी बताया कि वे भी उनके साथ आयेंगी।

उस ब्राह्मण ने तक्षक उत्सव में नागकुमारियों को अपने पिता सुश्रवा के साथ देखा। सुश्रवा को अपनी पुत्रियों से ाह्मण के सम्बन्ध में सारो बातें मालूम हो चुकी थीं, अतः सुश्रवा ने बड़ी अभ्यर्थना से उस ब्राह्मण का स्वागत किया। ब्राह्मण ने जब उनकी दुरवस्था का कारण पूछा तो सुश्रवा ने एक ौद्ध की ओर संकेत किया। वह हरे भरे खेतों की ओर खड़ा हुआ रखवाली कर रहा था। उन्होंने बताया कि वह ौद्ध मन्त्रों द्वारा खेत की रक्षा

करता है और मन्त्रों द्वारा रक्षित खेत के अन्न को जब तक वह स्वयं नहीं खाता नाग लोग भी उससे वंचित रहते हैं। न तो वह स्वयं खाता है और न नाग खाने पाते हैं। उसी के कारण नाग लोग दीन अवस्था को पहुँच गये हैं। अपनी कथा कह चुकने पर उन्होंने ब्राह्मण से सहायता माँगी। ब्राह्मण ने चातुरी से खेत का नया अन्न उस बौद्ध भिक्षु को खिला दिया और नागों को खेत से अन्न प्राप्त करने का अधिकार मिल गया। सुश्रवा ने अपनी कन्या चन्द्रलेखा का विवाह उस सहायक ब्राह्मण से कर दिया। इरावती पहले ही वाग्दत्ता हो चुकी थी। चन्द्रलेखा अपने आदर्श चरित्र और सुन्दर व्यवहार से पतिसेवा करने लगी।

नरदेव ने चन्द्रलेखा के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी तो आखेट के बहाने उस एकाकिनी चन्द्रलेखा के पास पहुँचा। दूत से अपनी प्रेम याचना भेजी परन्तु असफल रहा। कई बार उसने ब्राह्मण से भी कहा पर ब्राह्मण ने भी उसकी उपेक्षा की। इस पर कामुक नरदेव ने अपने सैनिकों को चन्द्रलेखा को पकड़ लाने का आदेश दिया। पकड़े जाने को आशंका से पतिपत्नी भाग कर नागपुर चले गये। इधर सुश्रवा और उसकी बहन रमण्या ने ऐसा उत्पात मचाया कि सारा नरपुर उजड़ गया और नरदेव भी उस जनविद्रोह में मारा गया। सारा नरपुर ध्वस्त हो गया। किन्तु नरदेव का पुत्र सिद्ध बच रहा। वह विद्रोह शान्त होने पर उस स्थान का शासक हुआ।

नाटक की कथावस्तु

स घटना को नाटक की कथावस्तु के रूप में प्रसाद जी ने ज्यों का त्यों नहीं लिया है, उन्होंने कुछ घटनाओं को अपने ढंग पर रूप दिया है और कुछ का आगे पीछे किया है। ब्राह्मण तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक विशाख के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वह जीवन में उन्नति की दौड़ लगाने निकला है और वह विश्राम के लिये एक हरे-भरे खेत के पास शिलाखण्ड पर बैठ जाता है। इतने में उसे चन्द्रलेखा और इरावती सेम की फलियाँ खाते हुए दिखाई पड़ती है और वह उन्हें उनसे उनका परिचय और इस दरिद्रता का कारण पूछता है। वह उन्हें अपना परिचय देती हैं। बताती हैं कि हमारे पिता सुश्रवा उस रमण्याटवी प्रदेश के स्वामी थे। उनको सारी सम्पत्ति हरण करके राजा ने कानीर के बौद्ध मठ को दे दिया। विशाख उनकी दीनता से द्रवित होता और उनकी सेवा करने को तत्पर होता है। बौद्ध महन्त को आते देख लड़कियाँ चली जाती हैं। सुश्रवा को पगडंडी से जाते देखकर बौद्ध भिक्षु उन पर खेत रौंदने का आरोप करता है। दोनों में झड़प हो जाती है और पाँच-सात युवा भिक्षु आकर सुश्रवा को पकड़ लेते हैं। चन्द्रलेखा दौड़ती हुइ आती है और अपने बूढ़े पिता के स्थान पर अपने को पकड़ा देती है।

विशाख नरदेव के पास जाकर फरियाद करता है कि कानीर विहार का बौद्ध महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है, प्रमादी हो गया है, दीन दुखियों की कुछ नहीं सुनता। मोटे निठल्लों को एकत्र कर विहार में विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग कन्या को अपने मठ में अकारण पकड़ कर बन्द कर रक्खा है। उसका वृद्ध पिता दुखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है। नरदेव के पूछने पर वह

बताता है कि सुश्रवा की भूमि अपहृत करके आपके स्वर्गीय पिता ने विहार में दान कर दिया है।

नरदेव न्याय करने का आश्वासन देता है और मन्त्री को आदेश देता है कि गुप्त रीति से ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय। संघाराम का महन्त सत्यशील पकड़ा जाता है और नरदेव उसे लेकर वहाँ आता है जहाँ चन्द्रलेखा बन्दिनी है। चन्द्रलेखा को देखते ही नरदेव उसपर मुग्ध हो जाता है। किन्तु प्रकट रूप में सत्यशील पर आक्रोश प्रकट करता है। सत्यशील कहता है कि वह प्रव्रज्या ग्रहण करने आयी है। चन्द्रलेखा उसकी बात का खण्डन करती है और वास्तविकता प्रकट कर देती है। कहती है कि वह दुराचारी है। नरदेव अपने सेनापति को आदेश देता है कि सब विहारों को राज्यभर में जलवा दो। इस मिथ्याशील को इसी कोठरी में बन्द करो, और इस विहार में भी आग लगवा दो।

इतने में विशाख और उसके गु प्रेमानन्द आ जाते हैं। और राजा को समझाते हैं कि क्रोध से न्याय नहीं होता। सब विहारों को जला देने की आज्ञा वापस लेने को कहते हैं।. नरदेव वैसा ही करता है।

दूसरा अंक

दूसरे अंक का आरम्भ विशाख और चन्द्रलेखा के प्रेमालाप से होता है और वहीं उन दोनों के विवाह की बात स्पष्ट हो जाती है। उधर नरदेव चन्द्रलेखा पर आसक्त होकर उदास होता और आखेट के बहाने रमण्याटवी की ओर जाने का उपक्रम करता है। इस बीच विशाख उद्योग के लिये चल पड़ता है और चन्द्रलेखा अकेली रह जाती है। नरदेव आता है और राजरानी बनाने का प्रस्ताव करता है। चन्द्रलेखा उन्हें डाँट देती है—'**मुझसे अनावृत मत हूजिये, बस यहां से चले जाइये।**' वह चला जाता है, चन्द्रलेखा अपने को दोष देती है। सीधे चन्द्रलेखा हाथ न आते देख नरदेव छल की शरण लेता है और उसका विदूषक साथी महापिंगल एक बौद्ध भिक्षु को ठीक करता है कि जब वह चैत्य की पूजा करने जाती है तब तुम वहाँ के देवता बनकर उसे आज्ञा दो कि वह राजा से प्रेम करे। उसी के अनुसार वह चैत्य में जाकर छिप रहता है और जब रात को चन्द्रलेखा पूजा के लिये आती है तो देवता के रूप में आशीर्वाद देता है कि '**तू नरदेव की रानी होजा।**' यही नहीं आदेश देता है '**तुझे होना पड़ेगा।**'

चन्द्रलेखा उसे अपदेवता समझ लेती है और जाना चाहती है। भिक्षु भयानक गर्जन करता है और वह घबड़ाकर गिर जाती है। प्रेमानन्द जी पहले से ही वहाँ विश्राम कर रहे थे वह सामने आ जाते हैं वह धैर्य देते हैं इतने में तलवार लेकर विशाख भी आ जाता है वह भिक्षु का सिर काटने दौड़ता है। प्रेमानन्द उसे रोक देते हैं—**क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है।**

तृतीय अंक

तृतीय अंक में नरदेव की उपेक्षा से दुखित महारानी नरदेव के पास आती है। वहीं घटनाक्रम से ज्ञात हो जाता है कि महाराज चन्द्रलेखा पर आसक्त हैं। वह महाराज को

समझाती है कि राज की अवस्था शोचनीय हो रही है। आप कुपथ पर पैर रखे हैं। उसका परिणाम भयंकर होने वाला है। पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। और वह नदी में कूद कर आत्म हत्या कर लेती है। महापिंगल सैनिकों के साथ विशाखके घर जाता है और चन्द्रलेखा को लाना चाहता है। विशाख उसको मार डालता है। सैनिक आकर उसको पकड़ लते हैं। चन्द्रलेखा भी उसके साथ जाती है। सुश्रवा और उसकी बहन रमणी तथा पुत्री इरावतीकुछ नागों के साथ आती हैं और चन्द्रलेखा का उद्धार करने को कटिबद्ध होते हैं। प्रेमानन्द आकर रोकते हैं और उपद्रव करने के स्थान पर कहते हैं कि सत्य को सामने रक्खो,आत्मबल पर भरोसा रक्खो, न्याय की माँग करो। नाग जनता न्याय की माँग करने जाती है। उधर नरदेव हत्या के अपराध में विशाख को देश निकाला देता है बाद में विशाख और चन्द्रलेखा को शूली दे देने का आदेश दे देता है। नाग जनता आकर न्याय की माँग करती है। प्रेमानन्द आकर समझाते हैं पर नरदेव कुछ नहीं सुनता। उत्तेजित नाग जनता राजमहल में आग लगा देती है। नरदेव घबरा कर भीतर भागता है। चन्द्रलेखा और विशाख को लेकर नाग लोग चले जाते हैं। प्रेमानन्द राजा को आग में से घुसकर निकाल लाता है। उसकी चिकित्सा करता है। चन्द्रलेखा राजकुमार को बचा कर लाती है। नरदेव क्षमा माँगता है। विशाख भी उसे क्षमा कर देता है। नरदेव सन्यासी हो जाता है। प्रेमानन्द विशाख के बालक को लेजाकर प्रजा के अनुकूल राजा बनने की शिक्षा देने को कहते हैं।

कथानक में सामयिकता

कथानक राजनीतिक होते हुए भी अत्यन्त साधारण है। नरदेव पहले न्याय के नाम पर अत्याचार करता है, बौद्धभिक्षुओं को जलवा देता है,पीछे कामुक होकर अत्याचार करता है। इस रूप में कथानक में एतिहासिक होने के नाते कोई नवीनता नहीं है। किन्तु इस कथानक के पीछे सामयिकता निहित है। १९२१ में यह नाटक लिखा गया। उस समय देश की राजनीति में महात्मा गान्धी आ चुके थे। देश जलियाँवाला बाग की घटना से क्षुब्ध थी। देश में विद्रोह के लक्षण प्रकट हो रहे थे। यदि तत्कालीन स्थिति को सामने रखकर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि प्रसाद उसी को अंकित कर रहे हैं। महात्मा गांधी को उन्होंने प्रेमानन्द के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेमानन्द के शब्दों में महात्मा गांधी की वाणी बोल रही है : **'किन्तु क्या अन्याय का प्रतिफल अन्याय है? क्या राजा मनुष्य नहीं है? रक्तमाँस का ही उसकी भी शरीर है, क्या उसे भ्रम नहीं हो सकता. . .देश की शान्ति भंग करना और निरपराधों को दुःख देना इसमें तुम्हें क्या मिलेगा। देखो सावधान हो; इस उत्तेजना राक्षसी के पीछे न पड़ो एक अपराध के लिए लाखों को दंड न दो। हरी भरी भूमि के लिए पत्थर वाले बादल न बरसो. . .सत्य को सामने रखो, आत्मबल पर भरोसा रखो, न्याय की मांग करो।'**

महात्मा गान्धी जो सत्य,अहिंसा ही तो इन वाक्यों में मूर्तिमान है। नरदेव के सामने विशाख के सम्मुख वैसे ही शब्द निकलते हैं जिस प्रकार के शब्द सत्याग्रही और असहयोगी अदालत के सम्मुख अपने बयानों में कहा करते थे : **'नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाता है जब कि अभियोग ही उल्टा हो और जो अभियुक्त हो वही न्यायाधीश**

हो। न्याय यदि सचमुच दंड देता है तो मैं नहीं कह सकता कि हम दोनों में, किसे वह पहिले मिलेगा।'

नरदेव का स्वरूप बहुत कुछ ब्रिटिश शासन का स्वरूप है और नाग जनता का भारतीय जनता का।

इस प्रकार प्रसाद ने हमारे सम्मुख इस ऐतिहासिक कथानक को सामने रखकर यह उपस्थित करना चाहा है कि जिस शासन के अन्तर्गत हम हैं, वहाँ न्याय नहीं है, जनता की आवाज का कोई मूल्य नहीं है। उसका विरोध होना ही चाहिये। उस विरोध के लिए वह महात्मा गांधी के सत्य और अहिंसा का अनुमोदन करते हैं, न्याय की माँग करने की प्रेरणा देते हैं। पर न्याय की माँग न पूरी हो पर भी न्याय की माँग करते ही जाना या अहिंसा का सहारा लेकर ही कु करने में उनका विश्वास नहीं है। जनता का अन्तिम शस्त्र वह विद्रोह ही मानते हैं। तभी तो हम जनता को राजभवन में आग लगाते पाते हैं। यह उस मनो-भावना को व्यक्त करता है, जो उस समय अधिकांश जनता में फैला हुआ था। गान्धी जी की अहिंसा और असहयोग को लोग उस समय सी अविश्वास की नजर से देख रहे थे।

सामाजिक तत्व

राजनीति के साथ-साथ प्रसाद का ध्यान हमारे सामाजिक जीवन की ओर भी गया है। साधु-रूप में ठगी का जो लबाला इस देश में हो रहा है और है और उससे स्त्रियाँ जिस प्रकार ठगी जाती हैं, उसका चित्रण उन्होंने बौद्ध भिक्षु और तरला को लकर तृतीय अंक के तीसरे श्य में उपस्थित किया है। वह ऐतिहासिक न होते हुए भी समय के अनुसार यथार्थ चित्रण है। यत्र-तत्र वार्तालाप के बीच सामयिक बुराइ ों की चर्चा उन्होंने की है और उनकी ओर हमारा ध्यान कहीं गम्भीर रूप में कहीं चुटकियों द्वारा आकृष्ट किया है।

उद्देश्यके प्रति निराशा

सामयिकता के इन तत्वों को अलग करके यदि विशाख की प्रथम संस्करण की भूमिका में उल्लिखित उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाय तो हमें घोर निराशा ही हाथ आती है। इस नाटक के पढ़ने देखनेसे तो यही लगता है कि हमारे शासक कामुक और उच्छृङ्खल होते थे। हमारे धार्मिक पीठ ढोंगी साधुओं के विहार स्थल रहे है। हमारा आज की अपेक्षा अतीत का किसी प्रकार ऊँचा आदर्श नहीं था, जिसका हम गर्व कर सकें। हमारे आदर्श और संस्कृति का विकृत रूप ही हमारे सामने आता है।

कथानक की दृष्टि से नाटक सीधा-सादा है और सारी घटनाएँ नरदेव और चन्द्रलेखा के चारों ओर घूमती हैं। पुराने नाटकों की तरह इसमें विदूषक का समावेश है। विदूषक का उपयोग राजा के सहचर के रूप में किया गया है, पर उसके कारण कुछ अनावश्यक दृश्यों का समावेश है।

विशाख

चरित्रचित्रण की दृष्टि से इस नाटक के पात्रों में गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। प्रायः सभी पात्रों में उच्छृङ्खलता भरी हुई है।

नाटक का नामकरण विशाख के नाम पर हुआ है। पर विशाख के चरित्र का विकास नाटक के प्रथम पात्र के रूप में न होकर गौण पात्र के समान हुआ है। प्रधान पात्र के रूप में हमारे सामने चन्द्रलेखा और उसके बाद नरदेव ही आते हैं। विशाख तक्षशिला के विद्यालय से निकला हुआ नया स्नातक है और उन्नति की खोज में निकला हुआ है। मार्ग में उसे चन्द्रलेखा और उसकी बहन इरावती मिलती है। वह उनकी ओर आकृष्ट होता है। उनकी दीनता देखकर उसे अपने उपाध्याय का उपदेश याद आता है कि **'दुखी की सहायता करनी चाहिये।'** इसलिए वह उन लोगों के सुख के लिए सेवा करना चाहता है। पर उसकी सेवा भावना में कर्त्तव्य भावना और निस्पृहता नहीं है। वह चन्द्रलेखा के प्रति आकृष्ट होकर ही उस ओर बढ़ता है। वह अपने स्वगत में स्वयं कहता है **'इस झंझट में मैं तो कभी न पड़ता यदि इस संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में यह चन्द्रलेखा न दिखाई पड़ती।'** और उसके इस कर्म का समर्थन उसे अपने गुरु प्रेमानन्द से मिलता है **'जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो तब तक स्वार्थ प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है।'** किन्तु इससे उसका चरित्र ऊँचे नहीं उठता। उसके मन की वासना उसे साधारण मनुष्य ही बनाये रखती है। वह जो कुछ करता है चन्द्रलेखा के लिए ही। चन्द्रलेखा के पकड़ लिये जाने पर ही वह बौद्धों के विरुद्ध फरियाद लेकर नरदेव के पास जाता है। गुरुकुल से निकला हुआ कोरा स्नातक होने के कारण आरम्भ म उसमें व्यवहार-कुशलता का अभाव है। बात-बात में उसकी यह दुर्बलता प्रकट होती है। उसके स्वभाव में एक अजीब अक्खड़पन है। इसलिए जहाँ वह जाता है वहाँ मुँहफट बातें करता है और लोगों से भिड़ जाता है। कानीर के विहार द्वार पर वह भिक्षु से उलझ जाता है। महापिंगल से वह जिस ढंग से बातें करता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरुषों को अपने अनुकूल करने की क्षमता उसमें नहीं है। राजसभा में भी वह अप्रिय सत्य कह बैठता है जिसके कारण उसको मन्त्री की डांट सुननी पड़ती है। किन्तु परिस्थितियों के सहारे वह धीरे-धीरे व्यवहार कुशल बन जाता है। विशाख व्यवहार कुशल न होते हुए भी निर्भीक है। या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि व्यवहार कुशल न होने के कारण ही वह निर्भीक है। अपने हृद्गत विचारों को स्पष्टता के साथ परिणाम की परवाह किये बिना ही व्यक्त कर देता है। वह भिक्षु से कहता है: **'मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर मोटा होने की आवश्यकता नहीं।'** इसी प्रकार वह नरदेव के प्रश्न करने पर कि अपहृत कन्या किसकी है, वह कह उठता है: **'सुश्रवा नाग की, उसी की भूमि अपहृत करके आपके स्वर्गीय पिता ने विहार में दान कर दिया था।'**

इस प्रकार की निर्भीकता के साथ-साथ उसमें स्वाभिमान की मात्रा बहुत थी। वह महापिंगल को तलवार के घाट उतार देता है और केवल इसलिए कि उसने चन्द्रलेखा को नरदेव को भेंट कर दे ेका प्रस्ताव कर उसका अपमान किया था। अपराधी के रूप में नरदेव के सम्मुख उपस्थित किये जाने पर वह किस प्रकार का उत्तर देता है उसमें

स्वाभिमान की मात्रा स्पष्ट छलकती दिखाई पड़ती है । वह कहता है **'नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय जब कि अभियोग ही उल्टा हो और जो अभियुक्त हो वही न्यायाधीश हो ।'**

विशाख के इन सभी गुणों एवं उसके कार्यों का केन्द्र चन्द्रलेखा है । उसी के लिए अथवा उसी के कारण सभी काम करता है । आरम्भ में चन्द्रलेखा के रूपलावण्य से आकृष्ट होकर कर्म क्षेत्र में आता है । उसी के कारण वह उनकी कानीर मठ से रक्षा का प्रयत्न करता है किन्तु बाद में पति बनकर वह अपने कर्त्तव्य का अनुभव करता है । अपनी पत्नी की आत्मसम्मान की रक्षा के लिये अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता ।

विशाख में एक गुण और भी है । वह गु के प्रति निष्ठावान है । प्रेमानन्द के उपदेशों पर चलने का वह यत्न करता है । उनकी आज्ञा को नहीं टालता और वह आज्ञापालन इस सीमा तक करता है कि दुराचारी भिक्षु और नरदेव को भी क्षमा कर देता है । स प्रकार विशाख का चरित्र एक सरल नागरिक का चरित्र है ।

नरदेव

नरदेव कश्मीर के शासक के रूप में पहली बार जब हमारे सम्मुख आता है तो वह कर्त्तव्यपरायण और न्यायनिष्ठ शासक जान पड़ता है । किन्तु हम शीघ्र ही देख लते हैं कि उसमें आत्म संयम का अभाव है । वह अपने को मानवीय दुर्बलता के ऊपर नहीं उठा सका है । वह रूप-मोहमें पड़कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जाता है । सर्वत्र वह कामान्ध ही दिखाई पड़ता है । उसके चरित्र के विश्लेषण के लिये यद्यपि पर्याप्त सामग्री नहीं है तथापि उसके स्वरूपों का बहुत स्पष्ट चित्रण है । विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्ध भिक्षु सत्यशील के दुराचारों को सुनकर कर्त्तव्य एवं न्यायभावना से प्रेरित हो राजोचित ढंग से कहता है **'बस ब्राह्मण देव पर्याप्त हुआ ।'** मन्त्री की ओर आकृष्ट होकर पूछता है : **'क्यों मन्त्रीवर क्या यही प्रबन्ध राज्य का है । खेद की बात है । अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से । देखो आलस न हो । हम स्वयं इसका न्याय करेंगे ।'** तना ही नहीं वह स्वयं बौद्ध विहार में जाकर चन्द्रलेखा को मुक्त कराता है और सुश्रवा की अपहृत भूमि वापस दिलाता है । किन्तु सूक्ष्म रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि उसकी न्याय बुद्धि सात्विक नहीं है । चन्द्रलेखा को देखकर उसके मन में जो कलुष उत्पन्न हो जाता है, उसको छिपाने के प्रयत्न में वह न्याय का ढोंग करने लगता है । अव्यक्त रूप में तो सोचता है कि **'चन्द्रलेखा जैसी मेरे रंगमहल में भी नहीं है ।'** और प्रकट रूप में सत्यशील से पूछता है कि **'सत्य और शील का यही न प्रमाण है ।'** मन में तो कहता है कि **'रूप की सत्ता ही ऐसी है कौन इससे बच सकता है ।'** अर्थात् वह सत्यशील ने जो कुछ किया उसको स्वाभाविक मानता है पर प्रत्यक्ष में सत्यशील को अधम ही बताता है । वह लोगों पर अपने न्याय का प्रभाव डालना चाहता है, कहता है **'तुम्हारे लिए दण्ड यही है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे ।'** न्याय के इस ढोंग में वह अपने विवेक को संतुलित नहीं कर पाता । वह आवेश में आ जाता है और आदेश दे देता है : **'सब विहारों को राज्यभर में जलवा दो ।'** पर इस आवेश में उसके विवेक का

पूर्णत: लोप नहीं होता; तभी तो वह प्रेमानन्द की बात मानकर अपनी विहार दहन की आज्ञा वापस ले लेता है। पर यहीं उसका पतन आरम्भ हो जाता है। और वह चन्द्रलेखा के ति इतना कामान्ध हो जाता है कि आगे चलकर वह न्याय-अन्याय का विवेक करने की क्षमता खो बैठता है। रानी की बातों पर ध्यान नहीं देता, जनता की माँग को ठुकरा देता है, प्रेमानन्द के उपदेशों को अनसुनी कर देता है और तना अविवेकी बन जाता है कि विशाख के साथ चन्द्रलेखा को भी सूली दे देने का आदेश दे देता है। और उसके अविवेक का परिणाम जनविद्रोह है। उससे उसकी आँखें खुलती हैं। ठोकर खाकर ी वह चेतता है और अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप करता है।

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा को केन्द्रबिन्दु बनाकर हो स्तुत नाटक का अविकास हुआ है। वह हमारे सामने सर्व प्रथम एक दरिद्र स्त्री के प में आती है। उदर की ज्वाला से पीड़ित होकर उसे चोरी-चोरी सेम की फलियाँ खाने को विवश होना पड़ा है। पर वह अपने इस निन्दनीय कर्म के प्रति सजग है। फलत: विशाख के प्रश्न करने पर वह भयभीत हो उठी है और कातरता के साथ कहती है : **'क्षमा कीजिये, मैं अब कभी इधर न आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसी से आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए, अपने बूढ़े बाप की रक्षा के लिए तोड़ लीं हैं।'** और सब फलियों को उझल देती है। कष्ट सहिष्णु होने के साथ-साथ उसमें पिता के प्रति अद्भुत ममता भी है। पिता को रक्षा के लिए वह सेम की फलियों की चोरी ही नहीं करती, वरन बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपने पिता के पकड़े जाने पर उसे बचाने के लिए आत्मसमर्पण भी करती है। बन्दीगृह में भी उसे अपने पिता के प्रति कर्तव्य की याद आती है। किन्तु उसकी पितृभक्ति का इस नाटक में कोई स्थान नहीं है। उसका रूप लावण्य ही नाटक की कथावस्तु का आधार है। उसके रूप-लावण्य को लेकर ही विशाख उसकी विपत्ति में सहायक बनता है। उसके रूप ही के कारण भिक्षु उसके पिता को छोड़ कर उसे पकड़ कर ले जाते हैं। उसके रूप पर ही नरदेव आसक्त होता है।

चन्द्रलेखा का जो स्वरूप वस्तुत: हमारे सामने आता है वह पत्नी का है और उसी रूप में उसके चरित्र का विकास भी हुआ है। प्रथम दर्शन में विशाख के सौजन्य पर वह मुग्ध होती और वह प्रेम के रूप में विकसित होकर उसके जीवन को मधुर बना देता है। बन्दीगृह की काली कोठरी में बैठ कर भी वह स्वर्ग के आनन्द का अनुभव करती है : वह अनुभव करती है कि **'हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, उसी में प्रणय सुधाकर ने शीतलता की, वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी।'** बन्दीगृह से मुक्त होने पर विशाख द्वारा किंचित प्रणय चर्चा करते ही अपने को समर्पित कर देती है। एक बार जब वह अपने को विशाख को समर्पित कर देती है फिर तो पतिव्रता नारी की तरह अपने कर्तव्य का पालन करती रहती है। उसे बड़े से बड़ा प्रलोभन, प्रवंचना उसे अपनी इस भावना से विचलित नहीं कर पाते। राजरानी बनने की आकांक्षा उसमें जागरित नहीं होती। वह कहती है **'मेरी इस झोपड़ी में राजमन्दिर से कहीं बढ़ कर आनन्द है।'** वह राजा को डाट देती है **'राजन्, मुझसे अनादृत न हूजिये, बस यहाँ से चले जाइये।'**

चैत्य में प्रवंचक भिक्षु की देव वाणी के रूप में आयी हुई आज्ञा की उपेक्षा कर देती है। पति की मंगल कामना में रत रहती है। उसकी कामना के लिए ही वह अर्धरात्रि में अकेले चैत्य में दीपक रखने जाती है। विशाख के, महापिंगल की हत्या के अपराध में बन्दी होने पर स्वेच्छा से बन्दी होती है। संक्षेप में वह एक आदर्श पत्नी है।

विशाख को प्राप्त कर लेने के बाद विश्व में उसकी कोई दूसरी कामना ही नहीं है। उद्योग के लिए बाहर जाने को उत्सुक विशाख से वह कहती है : **'मैं तो तुम्हें पाकर अपने सुख में कोई कमी नहीं देखती हूँ...मुझे तो जीवनधन तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं...मैं क्या जानूं संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ। मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आजाय।'**

प्रेमानन्द

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौण पात्रों में प्रेमानन्द कुछ महत्व के साथ हमारे सामने आते हैं। उनका व्यक्तित्व हमारे सम्मुख एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में आता है। यह ऐसा आदर्श व्यक्ति है जो आदर्श होते हुए भी यथार्थ से दूर नहीं है। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है इस कल्पना के पीछे महात्मा गांधी का अस्तित्व है। उन्हीं की तरह विशाख को गिरफ्तार नागों से वे कहते हैं, **'सत्य को सामने रखो, आत्मबल पर भरोसा रखो न्याय की माँग करो।'** उन्हीं की तरह अहिंसा को अपने सामने रखता है : **'देश की शान्ति भंग करना और निरपराधों को दुख देना इसमें तुमको क्या मिलेगा।'** प्रतिहिंसा को वह अनुचित समझते हैं और विशाख को समझाते हैं : **'प्रतिहिंसा पाशववृत्ति है।'** प्रेमानन्द नरदेव के पाशववृत्ति पर अपने प्रेम से ही विजय पाते हैं। नरदेव के अन्यायपूर्ण कार्यों का शान्त विरोध प्रेमानन्द करते हैं किन्तु नरदेव उनके इस विरोध को सहन नहीं करता और अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण शब्दों में न्यायालय से निकल जाने की आज्ञा देता है : **'चले जाओ सन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो। यह नहीं हो सकता। निकालो जी इन्हें बाहर करो।'** इससे पहले नरदेव कहता है : **'यह मठ नहीं है भिक्षु! तुम्हें बोलने का अधिकार नहीं है।'** फिर भी प्रेमानन्द का मन मलिन नहीं होता। नरदेव को अग्नि में घुस कर निकाल लाता है और उपचार करता है। प्रेमानन्द के व्यवहारों से नरेश को अपनी भूल ज्ञात होती है और वह क्षमा चाहता है : **'देव दूत मेरे अपराध क्षमा कीजिये...मैं आपकी शरण में हूँ मुझे फिर से शान्ति दीजिये।'**

प्रेमानन्द के अतिरिक्त अन्य पात्रों का महत्व नगण्य है। महापिंगल विदूषक है। नरदेव का चाटुकार सहचर है। वह अपनी चाटुकारी से नरदेव के दुर्वासनाओं को उत्तेजना देता है और अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वृद्ध होते हुए, अपनी पत्नी के रहते इरावती के प्रति विषयासक्त होना उसके दुर्बल चरित्र का परिचायक है। और उसी दुर्बलता का शिकार वह नरदेवको बनाता है। भिक्षुके रूपमें आजके ढोंगी साधुओं को प्रस्तुत किया गया है और तरला उन स्त्रियों में है जो इस प्रकार के साधुओं की शिकार हुआ करती हैं।

ध्रुवस्वामिनी

देवी चन्द्रगुप्तम्

दूसरी दशक तक इतिहासकारों का विश्वास था कि गुप्तवंश के महाराज समुद्रगुप्त के पश्चात् उनका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय शासनारूढ़ हुआ। किन्तु पंडित रामकृष्ण कवि ने भोजराज कृत **'शृङ्गार प्रकाश'** से दो उद्धरण देकर विशाखदत्त कृत **देवीचन्द्रगुप्तम्** नामक अज्ञात नाटक का पता दिया। उसके बाद अन्य विद्वानों ने उसी पुस्तक से उस नाटक के कुछ अन्य अंश ढूँढ़ निकाले। **'नाटच दर्पण'** नामक नाटचशास्त्र के एक ग्रन्थ में सिलवां लेवी को उक्त नाटक के कुछ अन्य उद्धरण प्राप्त हुए। सागरनन्दिन कृत **'नाटक-लक्षणरत्न कोष'** नामक एक अन्य नाटच शास्त्र के ग्रन्थ में उसके दो और उद्धरण मिले। इस प्रकार इन उद्धरणों की सहायता से नाटक के स्वरूप का कुछ-कुछ अनुमान करना सम्भव हो सका।

देवीचन्द्रगुप्तम् के इन उद्धरणों को हम परिशिष्ट के रूप में संकलित कर रहे हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि उक्त नाटक की कथावस्तु कुछ इस प्रकार की रही होगी—
किसी शकपति द्वारा रामगुप्त परास्त होकर इस प्रकार घिर गया है कि उसका तथा उसके परिवार का छुटकारा शत्रु की शर्तों को स्वीकार करने पर ही हो सकता है। शत्रु ने यह प्रस्ताव किया कि यदि वह अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को देदे और अपने सरदारों की स्त्रियों को उसके सरदारों के लिए देना स्वीकार करे तो वह घेरा उठा लेगा। रामगुप्त ने अपने मन्त्रियों के परामर्श से ध्रुवदेवी तथा अन्य स्त्रियों को देने का निश्चय किया। इस समाचार को सुन कर ध्रुवदेवी बहुत दुखी हुई। उसकी इस अवस्था को देखकर चन्द्रगप्त उसके छुटकारे का उपाय सोचता है और वैताल साधना से उसे उड़ाने का विचार करता है, उसका यह विचार विदूषक के इस प्रश्न पर कि क्या वह रात्रि के समय शत्रु शिविर से बाहर जा सकेगा शिथिल हो जाता है। इसी समय माधवसेना की दासी आती है और माधवसेना के जाने का समाचार कह कर तथा ध्रुवदेवी के वस्त्राभूषणों को वहीं छोड़ कर ध्रवदेवी को ढूँढ़ने जाती है। वस्त्राभूषणों को देखकर चन्द्रगुप्त के मनमें छद्मवेश धारण कर शत्रु को मारने का विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार अकेले शत्रु शिविर में जाने को तत्पर देख कर विदूषक शंका करता है कि अकेले क्या करोगे तो वह एकाचारी सिंह का उदाहरण देकर अपने साहस एवं दृढ़ निश्चय को व्यक्त करता है।

दूसरे अंक के आरम्भ में वह ध्रुवदेवी का रूप धारण कर रामगुप्त के पास आता है और अपना विचार उससे कहता है। यह सुनकर जिस समय रामगुप्त अपना भ्रातृस्नेह प्रकट करता है, उसी समय ध्रवदेवी आकर नेपथ्य से उनकी बातें सुनती है और उसके मन म अन्य स्त्री का सन्देह उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर चन्द्रगुप्त स्त्रीवेश में शकपति को मारने जाता है।

तीसरे अंक का एक भी उद्धरण प्राप्त नहीं हुआ है जिससे कथावस्तु के विकास का आरम्भ किया जा सके, चौथे अंक के जो उद्धरण प्राप्त हुए हैं उनसे माधवसेना नामक गणिका के प्रति चन्द्रगुप्त की आसक्ति प्रकट होती है। माधवसेना ध्रुवदेवी की परिचिता है और राजकुल में आती जाती है यह प्रथम अंक के एक उद्धरण से पता लगता है। अतः यह कहना कठिन है कि चन्द्रगुप्त का माधवसेना के प्रति प्रेम प्रदर्शन स्वार्थ साधन के लिए है अथवा उसमें कोई गम्भीरता है। सम्भवतः वह स्वार्थ साधन के निमित्त ही है।

पाँचवें अंक के जो उद्धरण प्राप्त हैं उनसे ज्ञात होता है कि शकराज का विनाश कर दिया गया है। उससे यह भी पता चलता है कि चन्द्रगुप्त रामगुप्त का भी विनाश करना चाहता है और उसके लिये वह उन्मत्त का वेश धारण करता है।

इसके आगे के कोई उद्धरण अब तक प्राप्त नहीं हैं। इसलिए इन उद्धरणों के आने से साहित्य को इस ज्ञान के सिवा कि विशाखदत्त ने **देवीचन्द्रगुप्तम्** नामक एक और नाटक लिखा था और कोई लाभ नहीं हुआ। किन्तु इतिहासकारों को ये उद्धरण बहुत महत्वपूर्ण जान पड़े। गुप्त शासकों के अभिलेखों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। अतः इतिहासकारों ने इस नाटक के दो पात्रों चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी की पहचान इतिहास के गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय और उनकी पत्नी ध्रुवदेवी से किया और उसके तीसरे पात्र रामगुप्त का भी ऐतिहासिक अनुमान कर लिया और इस अनुमान की पुष्टि में धीरे-धीरे विभिन्न साधनों से प्रमाण उपस्थित किया जाने लगा।

काव्यमीमांसा

इस संबंध में सबसे पहले स्वर्गीय श्री चन्द्रधर गुलेरी ने **'खसों के हाथ ध्रुवस्वामिनी'** शीर्षक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित किया। उस लेख में उन्होंने राजशेखर के काव्यमीमांसा से निम्नलिखित उद्धरण उद्धृत किया था। यह उद्धरण राजशेखर ने अपनी पुस्तक में उदाहरण रूप में दिया है पर यह नहीं पता लग सका है कि वह किस पुस्तक का उद्धरण है :—

दत्वारुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात् खंडितसाहसो निववृते श्री शर्मगुप्तो (रामगुप्तो) नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकीर्णत्ववर्णत्किन्नरे
गायन्ति तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैःकीर्तितः॥

तात्पर्य यह है कि कार्तिकेयनगर की स्त्रियां उसी हिमालय में चन्द्रगुप्त का कीर्तिगान करती है जहाँ खसाधिपति को अपनी ध्रुवस्वामिनी को देकर रामगुप्त को भागना पड़ा था। राजशेखर का समय दशवीं शताब्दी माना जाता है। वह राजा यशोवर्मन का राजकवि था।

हर्षचरित

इसके बाद डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने बाण के हर्षचरित से एक उद्धरण सामने रखा। बाण के परिचय की अपेक्षा नहीं है। वह ६२० ई० के आसपास सम्राट्

हर्षवर्द्धन का राजकवि था। उसने अपनी पुस्तक में सेनापति स्कन्दगुप्त द्वारा कही गयी अपनी लापरवाही के कारण शत्रु के हाथ पड़ जाने वाले राजाओं की कथायें दी हैं। उन कथाओं में इस घटना का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है।

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशः गुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिम् शासयति।

१२वीं शताब्दी में बाण की इस पुस्तक पर शंकराचार्य न एक टीका लिखी है। उसमें उन्होंने इस स्थल को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

शकानाम् आचार्यः शकपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमाः चन्द्रगुप्तेन ध्रुववेशधारिणी स्त्रीवेशजनपरिवृतेन रहसि व्यापादितः।

तात्पर्य यह है कि चन्द्रगुप्त ने शकराज को अपने भाई की पत्नी ध्रुवदेवी के माँगने पर ध्रुवदेवी का वेश धारण कर स्त्रीरूपधारी पुरुषों के साथ जाकर मार डाला।

आयुर्वेद दीपिका

इन साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त **देवीचन्द्रगुप्तम्** में उल्लिखित घटना का उल्लेख एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ में भी मिलता है। बारहवीं शताब्दी में, चक्रपाणिदत्त नामक व्यक्ति ने **आयुर्वेद दीपिका** नाम से **चरकसंहिता** की टीका लिखी थी। उसमें उसने विमानस्थान के चौथे अध्याय के दसवें सूत्र 'उपधिमनुवन्धेन' की टीका करते हुए लिखा है: **उपेत्यधीयते इति उपधिश्छद्म इत्यर्थः अनुबन्धेनेत्युत्तरकालीन फलेन, उत्तरकालं हि भ्रात्रादिवधेन फलेन ज्ञायते यदयमुन्मत्तछद्मप्रचारी चन्द्रगुप्त इति।** इसमें भाई के वध के लिए चन्द्रगुप्त द्वारा कृतक उन्मत्त का छद्म रूप धारण किये जाने का उल्लेख है।

इस प्रकार **देवीचन्द्रगुप्तम्** के कथानक का समर्थन करने वाले इन प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक ज्येष्ठ भाई था जो पहले शासनारूढ़ हुआ। वह शक्तिहीन और असमथ था। उसके राज्य पर शकों ने आक्रमण कर दिया तब उसने अपने को तथा अपने राज्य को सुरक्षित करने के लिए आक्रमणकारी से सन्धि कर ली। आक्रमणकारी ने सन्धि की शर्तों में उसकी पत्नी ध्रुवदेवी तथा उसके सरदारों की पत्नियों को मांगा और उसने उन्हें देना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त इस बात को सहन न कर सका और उस साहसी योद्धा ने ध्रुवदेवी का वेश धारण कर शत्रु के शिविर में जाने का निश्चय किया और शत्रु शिविर में जाकर उसका वध कर डाला। उसके पश्चात् उसने उन्मत्त का वेश धारण कर रामगुप्त की भी हत्या कर डाली।

मजमलुत्तवारीख

१३वीं शताब्दी में अबुल हसन अली ने अपनी पुस्तक **मजमलुत्तवारीख** नामक पुस्तक में इस घटना वर्णन किया है। यह पुस्तक किसी भारतीय तिहास पुस्तक का अनुवाद बताया जाता है। इस पुस्तक के अनुसार रव्वाल (रामगुप्त) और बरकमारीस (विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त) दो भाई थे। रव्वाल के शासनकाल में स्वयंवर में बरकमारीस को

एक राजकुमारी मिली। वह राजकुमारी को लेकर घर आया तो रव्वाल उस पर मोहित हो गया और उससे स्वयं विवाह कर लिया। बरकमारीस विद्याभ्यास में लग गया और विद्वान के रूप में ख्याति प्राप्त की। रव्वाल पर उसके पिता के एक शत्रु ने आक्रमण किया और रव्वाल पराजित हो गया। वह अपने परिवार आदि को लेकर पर्वत के शिखर पर स्थित दुर्ग में चला गया। वहाँ जाकर रव्वाल ने सन्धि प्रार्थना की। सन्धि की शर्तों के अनुसार रव्वाल ने अपनी पत्नी तथा सामन्तोंकी पुत्रियोंको शत्रुओं को भेंट करनेका वचन दिया। जब यह बात बरकमारीसको मालूम हुई तो उसने राजासे अपनी स्त्री तथा सामन्त पुत्रियों को न भेज कर उसे तथा सामन्तपुत्रों को स्त्रीवेश में भेजने का सुझाव रखा। राजा ने उसका सुझाव मान लिया। तदनुसार वह और समस्त सामन्तपुत्र हथियार लेकर स्त्री-वेश में शत्रु के शिविर में पहुँचा। उसके सोचे हुए विधान के अनुसार शत्रु नरेश ने उसे अपने पास रख लिया और अन्य वेशधारी युवकों को अपने सामन्तों में बाँट दिया। बरकमारीस ने मौका पाकर उस शासक की हत्या कर दी। पश्चात् उसने बिगुल बजाया जिसे सुनकर युवकों ने सामन्तों को मार डाला और रव्वाल की सेना ने शत्रु की सेना पर आक्रमण कर दिया और मार भगाया। इस घटना के पश्चात दोनों भाइयों में शत्रुता रहने लगी। बरकमारीस अपनी रक्षा के निमित पागल बन गया और दरिद्र की तरह इधर-उधर घूमने लगा। एक दिन घूमते-घूमते राजमहल में जा पहुँचा और रव्वाल को असावधान पाकर उसकी हत्या कर दी।

शासन पत्रों में उल्लेख

गुप्त शासकों के शिलालेखों से यह बात स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ध्रुवदेवी से विवाह किया था और उससे उसके दो पुत्र गोविन्दगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम हुए थे। उसके अपने भाई की विधवा पत्नी से विवाह करने की बात नवीं शताब्दी म भी लोगों को मालूम थी। अमोघवर्ष प्रथम के संजान से प्राप्त ताम्रपत्र ७९५ शक (८७१ ई०) म स्पष्ट लिखा हुआ है कि--

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्ततो
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः

यह अधिक स्पष्ट रूप में राष्ट्रकूटवंशी गोविन्द चतुर्थ के सांगली तथा खम्भात से प्राप्त ताम्रलेखों में कहा गया है :--

सामर्थ्ये सति निन्दिता प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता
बन्धुस्त्रीगमनादिभिः कुचरितैरावर्जितं नायशः
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमंगीकृतं
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसांकोऽभवत्।

इन पंक्तियों का रचयिता कहता है कि गोविन्द चतुर्थ अपने त्याग और असीम साहस से संसार में साहसांक प्रसिद्ध हुआ किन्तु उसम साहसांक के दोष न थे। साहसांक के वे दोष

ये हैं--ज्येष्ठ भ्राता के प्रति क्रूर कर्म, ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी से विवाह और भय से उन्मत्त बनना अथवा पैशाच्य अंगीकार करना। साहसांक विरुद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लिए प्रयुक्त होता था यह विविध साधनों से प्रमाणित है; अतः इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि ये पंक्तियाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की ओर संकेत करती हैं।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता में सन्देह

इन प्रमाणों के आधार पर देवीचन्द्रगुप्त के कथानक के ऐतिहासिक होने में सन्देह नहीं रह जाता। अतः विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पूर्व उसका भाई रामगुप्त शासनारूढ़ हुआ था। किन्तु ऐसे भी लोग हैं जो इन प्रमाणों को महत्व न देकर उसको ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। उनकी आपत्ति इस प्रकार है :—

१. इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच रामगुप्त नामक कोई शासक हुआ है।

२. यह बात असम्भव मालूम देती है कि एक अत्यन्त साधारण शक सरदार ने महाराज समुद्रगुप्त की पुत्रवधू को अपनी स्त्री बनाने के लिए मांगने का साहस किया होगा।

३. चन्द्रगुप्त और विधवा ध्रुवदेवी का विवाह शास्त्र और सामाजिक परम्परा के विरुद्ध है, इसलिए उसका होना सम्भव नहीं जान पड़ता।

पुरातात्विक प्रमाण का अभाव

पहली आपत्ति के सम्बन्ध में इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि इस घटना का कोई स्पष्ट प्रमाण गुप्तकालीन पुरातत्व में प्राप्त नहीं है। प्रसाद ने अपनी भूमिका में एक जगह लिखा है कि '**रूपकृती विरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य की की स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदल कर किया है।** उनका संकेत चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंचासीन भाँति के सिक्के पर अंकित विरुद की ओर है। पर इसपर शब्द **रूपकृति** न होकर **रूपाकृति** है। अतः यह शब्द इस प्रसंग में किसी प्रकार प्रमाण रूप में ग्रहण किया जा सकता है, यह संदिग्ध है। यदि इस प्रमाण को ग्रहण न भी करें तो भी यह निष्कर्ष किसी प्रकार भी नहीं निकाला जा सकता कि घटना ही असत्य है। जिस बात का प्रमाण आज सामने नहीं है, उसका प्रमाण कल प्रस्तुत हो सकता है। कम से कम पुरातत्व की आधार शिला तो यही है और उसी के आधार पर इतिहास साहित्य का निर्माण होता है। वैदिक एवं पौराणिक अथवा रामायण और महाभारत की घटनाओं के उपलब्ध पुरातात्विक चिह्न कहाँ हैं? फिर भी हम उसकी सत्यता में सन्देह नहीं करते। उनमें हम सत्य का अंकुर मानते हैं। जब हम हजारों वर्ष पूर्व की घटनाओं की सत्यता में पुरातात्विक सामग्री के अभाव में सन्देह नहीं करते तो इस घटना के सम्बन्ध में केवल इसीलिए सन्देह क्यों किया जाय, कि उसकी समकालिक सामग्री आज प्राप्त नहीं है। घटना के कुछ ही सौ साल बाद के लिखित प्रमाण तो उसके साक्षी हैं ही

यदि तर्क का आश्रय छोड़ कर प्रत्यक्ष रूप से विचार किया जाय तो इतना तो समुद्र-गुप्त के एरण वाले शिलालेख से स्पष्ट ही है कि चन्द्रगुप्त के कई भाई थे। संजान ताम्र-शासन से भी उस गुप्त शासक के कम से कम एक भाई होने का संकेत तो मिलता ही है। जब इतना स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के कोई और भाई था तो रामगुप्त के उसके भाई होने में सन्देह कहाँ है ? हाँ, इतना अवश्य है कि उसके नाम का न तो कोई लेख प्राप्त हुआ है और न मुद्रा।[1] पर इससे उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बिना किसी मुद्रा के आज गोविन्दगुप्त का अस्तित्व माना जाता है। पुरगुप्त की भी कोई मुद्रा नहीं पायी जाती। यदि हम दूर न जायँ, अभी विगत कुछ बरसों पर ही दृष्टि डालें तो हम मुद्रा के अभाव में रामगुप्त के अस्तित्व को अस्वीकार न कर सकेंगे। ब्रिटेन के शासक पंचम जार्ज की मृत्यु के पश्चात् अष्टम एडवर्ड कुछ दिनों के लिये शासक हुए उसके बाद उनके भाई षष्ठ जार्ज। हम जानते हैं कि अष्टम एडवर्ड की कोई मुद्रा चालू नहीं हुई थी। क्या कई सौ बरस बाद भविष्य के इतिहासकार उसका अस्तित्व इसीलिए अस्वीकार कर सकें कि उसका कोई सिक्का प्राप्त नहीं है ?

अब यदि गुप्त शासकों के अभिलेखों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो किसी शासक ने अपने वंशवृत्तान्तमें अपने भाई अथवा चचा और उसके वंशजों की चर्चा नहीं की है। सबने अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का ही उल्लेख किया है। ये लेख शासक सूची न होकर वंशसूची हैं। समुद्रगुप्त की प्रशस्तियों में गुप्त, घटोत्कच और चन्द्रगुप्त प्रथम का ही उल्लेख है। उसके बड़े भाई काचगुप्त का जिक्र ही नहीं है, जिसे हम उसके सिक्कों से जानते हैं, और जिसका समर्थन मंजुश्री-मूल-कल्प आदि साहित्यों से होता है। इस प्रकार गोविन्दगुप्त का नाम कुमारगुप्त प्रथम अथवा उसके वंशजों की किसी भी प्रशस्ति में नहीं है। उसका पता वैशाली वाली मुहर और उसके सेनापति के पुत्र दत्तभट्ट के अभिलेख से लगता है। सबसे ज्वलन्त उदाहरण स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त का है। स्कन्द-गुप्त का पता उसके अपने अभिलेखों से लगता है। वह कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। किन्तु उसके दूसरे पुत्रका नाम पुरगुप्त था। इसका पता स्कन्दगुप्तके अभिलेख से नहीं लगता। पुरगुप्त के वंशजों के जो अभिलेख मिले हैं उनमें पुरगुप्त को कुमारगुप्त का पुत्र बताया गया है और उसमें स्कन्दगुप्त का कहीं नाम तक नहीं है। और यह उस अवस्था में जब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि स्कन्दगुप्त शासनरूढ़ रहा। पुरगुप्त के तीन पुत्र थे—बुधगुप्त, वैन्यगुप्त और नरसिंहगुप्त। यह उनके अलग अलग अभिलेखों में ज्ञात होता है। तीनों शासनारूढ़ भी रहे पर उनकी चर्चा नरसिंहगुप्त के पुत्र और पौत्रों के अभिलेखों में कहीं भी नहीं पाया जाता। इस प्रकार रामगुप्त का नाम यदि अब तक के ज्ञात अभिलेखों में नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। पुरुगुप्त का भी तो अपना कोई अभिलेख नहीं प्राप्य है। उसका पता उसके पुत्र पौत्रों के लेखों से ही लगता है। हो सकता है उसने अपने अल्पकालीन शासन में

---

१. विदिशा से हाल में कुछ ताँबे के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों के ढंग के हैं और उन पर गुप्तकालीन लिपि में 'रामगुप्त' नाम अंकित है। इनसे रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाती है।

कोई प्रशस्ति न प्रकाशित की हो। इन सब बातों को देखते हुए रामगुप्त के अस्तित्व को असम्भव नहीं कहा जा सकता।

शक विजेता की सम्भावना

दूसरी आपत्ति यह है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् देश में ऐसी कोई शक्ति नहीं रह गयी थी जो गुप्त सम्राट् का सामना करने का साहस करती। यह सोचना कि जिस शत्रु को पिता ने पराजित कर दिया वह पुत्र के समय, वह भी ऐसे पुत्र के समय जो भीरु हो, सर उठाने का साहस न करेगा, थोथी कल्पना है। उस समय तो वह और भी जोर के साथ सर उठायेगा। साथ ही यह भलना न चाहिए कि विजयी विजित से चाहे जिस प्रकार की शर्तें सन्धि के लिए रख सकता है। यह तो मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि समुद्रगुप्त जैसे पराक्रमी का बेटा जब पराजित हो तो पराजय देने वाले का गौरव तभी बढ़ेगा जब वह उसका अधिक से अधिक मानमर्दन करने में सफल हो। ऐसी अवस्था में शक शासक चाहे कितना भी निर्बल रहा हो रामगुप्त को पराजित करने के बाद तो वह बली हो ही गया होगा। यदि उसने ध्रुवस्वामिनी की मांग की हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यदि हम वस्तु-स्थिति पर आयें तो हम देखेंगे कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को नये सिरे से विजय करनी पड़ी थी। यद्यपि उसने अपने पिता की तरह अपने विजय की लम्बी चौड़ी प्रशस्ति नहीं लिखायी है पर महरौली और उदयगिरि के लेख बताते हैं कि उसे नये सिरे से शासन विस्तार करना पड़ा था। यह विचारणीय प्रश्न हो सकता है कि रामगुप्त को पराजय देने वाला वह शक शासक कौन था। किन्तु वह प्रश्न प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्ध नहीं रखता।

शास्त्र की दृष्टि में विवाह

तीसरी आपत्ति का विषय ऐतिहासिक महत्त्व न रखकर सामाजिक महत्व रखता है। किन्तु इस आपत्ति में भी विशेष बल नहीं है। अनेक विद्वानों ने इस बात के प्रमाण उपस्थित किये हैं कि न तो शास्त्रों में कहीं विधवा विवाह का निषेध है और न देवर के साथ विधवा भावज का विवाह ही सामाजिक परम्परा के प्रतिकल है। इस सम्बन्ध में मन का विधान है:—

प्रोषितो धर्म कार्यार्थो प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थो षट् यशोऽर्थो वा कामार्थो त्रींस्तु वत्सरान्॥

मनु ९–७६

यदि पति धर्म कार्य के लिये विदेश जाय तो आठ, विद्या पढ़ने के लिये जाय तो छः और यदि इन्द्रिय उपभोग के लिये जाय तो तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् पत्नी पुर्नविवाह कर ले।

पाराशर का भी कहना है कि—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्योविधीयते॥

अर्थात् यदि किसी स्त्री का पति नष्ट हो जाय, मर जाय, क्लीव हो जाय, पतित हो जाय अथवा सन्यासी हो जाय तो वह दूसरे पति का वरण कर सकती है।

नारदका विधान है :—

अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति

स्त्रियों की सृष्टि सन्तानोत्पत्ति के लिये है। स्त्री क्षेत्र है, पुरुष बीज। क्षेत्र (स्त्री) को बीज वालों (पुरुषों) को ही देना उचित है, अबीजी (नपुँसक) के वह योग्य नहीं।

इस सम्बन्ध में चाणक्य का यह मत भी अपना महत्व रखता है :—

नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषा
प्राणाभिहन्तारं पतितस्त्याज्यः क्लीवोऽपि वा यतिः।

यदि पति नीच हो जाय, परदेश चला जाय, राज्य से निकाल दिया जाय, क्लीव हो या मर जाय तो स्त्रियाँ मनोनुकूल दूसरा पति वरण कर सकती हैं।

उपर्युक्त मतों से इसका भी साम्य है। इन सभी स्मृतिकारों ने पति की अनुपस्थिति में पुनर्विवाह की व्यवस्था की है। और जिन पांच अवस्थाओं में पुनः पति ग्रहण करने की व्यवस्था की गयी है उनमें मृत्यु के अतिरिक्त शेष पति के जीवन काल में ही सम्भव है। इनमें भी क्लीवता पर सबसे अधिक बल दिया गया है। रामगुप्त का जो चित्र हमारे सम्मुख उपर्युक्त प्रमाणों से उपस्थित होता है वह स्पष्ट बताता है कि वह विचार और व्यवहार दोनों ही दृष्टि से क्लीव था। अतः ध्रुवस्वामिनी को उसके जीवन काल में ही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार था। यदि उसका विवाह रामगुप्त की मृत्यु के पश्चात् हुआ तो वह अनुचित नहीं कहा जा सकता।

विवाह किससे किससे किया जाय इसकी भी चर्चा मनु ने की है। उन्होंने अपने देवर से विवाह करने का विधान किया है।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः। ९—६९

इस विधान के अनुसार ध्रव स्वामिनी का रामगुप्त के कनिष्ठ भ्राता चद्रगुप्त से विवाह करना उचित ही है।

इन स्मृति आदेशोंसे चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनीका विवाह उचित होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से वह हेय ही समझा जाता था इसका प्रमाण सांगली और खंभात के ताम्रलेखों से होता है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। अतः लोग उसकी असामाजिकता से परिचित थे। कोई असामाजिक कृत्य पुराकाल में हो ही नहीं, यह ब्रह्म सत्य नहीं है। अतः के [illegible]मी से इस घटना को अनैतिहासिक नहीं कह सकते।

कथावस्तु

घटना का विवरण अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त न होने और विविध सूत्रों में एकता न होने के कारण प्रसाद ने अपने इस नाटक में स्वच्छन्द कल्पना का सहारा लिया है और प्राप्त विवरणों से भिन्न इस नाटक के कथानक में उन्होंने मुख्य रूप से अपनी दो स्वतन्त्र मान्यताएँ ग्रहण की हैं। वे अबुल हसन की इस बात को स्वीकार नहीं करते कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी को स्वयंवर में प्राप्त किया था और जब वह घर आया तो रामगुप्त ध्रुवदेवी पर मोहित हो गया और उससे स्वयं विवाह कर लिया। स्वयंवर में छोटे भाई को मिली स्त्री से बड़े भाई का विवाह करना कुछ अनुचित और साथ ही सम्भव भी नहीं जान पड़ता। अतः प्रसाद जी ने समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति के इस कथन का सहारा लिया है कि विजित राजाओं ने उसे अपनी कन्याएँ भेंट की—कन्योपायन दान दिया। उनकी मान्यता है कि ध्रवस्वामिनी इसी प्रकार प्राप्त किसी विजित शासक की कन्या थी। दूसरी बात जहाँ सारे सूत्र इस बात का संकेत करते हैं कि चन्द्रगुप्त ने उन्मत्तवेश धारण कर रामगुप्त का वध कर डाला और उसके पश्चात् ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया, वहाँ प्रसाद ने जायसवाल के मत का अनुकरण करके यह माना है कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या नहीं की और ध्रवदेवा ने रामगुप्त से विवाह-मोक्ष (तलाक) प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने ध्रवदेवी वेशधारी चन्द्रगप्त के साथ ध्रुवदेवी को भी भेजा है, जो प्राप्त विवरणों म कहीं भी नहीं पाया जाता। इसकी कल्पना प्रसाद ने क्यों और किस आधार पर की इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। सम्भवतः उन्होंने चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के पारस्परिक आकर्षण को गहरा रंग देने के लिए ही ऐसा किया है। यह ध्रुवस्वामिनी के मुख से कहलाये गये इन शब्दों से प्रतिध्वनित होता है—

'कुमार यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे ऐसा नहीं हो सकता। राजा की क्या इच्छा है यह जानते हो? तुमसे और मुझसे एक साथ ही छुटकारा। फिर वही क्यों न हो। हम दोनों चलेंगे। मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं तुम्हारी ज्योति बन जाने की कामना करती हूँ। और भी एक विनोद, प्रलय का परिहास देख सकूंगी। मेरी सहचरी, तुम्हारा यह ध्रुवस्वामिनी का वेश ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का?

अस्तु, प्रसाद ने अपने नाटक में कथा का रूप इस प्रकार दिया है:—सम्राट समद्रगुप्त ने चन्द्रगुप्त को अपना भावी उत्तराधिकारी चुना था किन्तु मन्त्री शिखर-स्वामी ने नीति सिद्धान्त का आधार लेकर रामगुप्त को सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु वह शासनभार ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ और अयोग्य प्रमाणित होता है। वह दिन रात मदिरा में मस्त रहता है। उसे भय है कि उसके सहसा राजदण्ड ग्रहण कर लने से पुरोहित, अमात्य और सेनापति लोग छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। चन्द्रगुप्त के प्रति वह सशंक है। यद्यपि उसने उसे बन्दी नहीं किया पर उसकी अवस्था बहुत कुछ वसी ही बना रखी है। एक दिन वह अपनी महादेवी ध्रुवस्वामिनी को जो उसके अनुग्रह से वंचित है, जिससे उसने कभी बात तक नहीं की और जिसे एक प्रकार से बन्दी बना कर

रखा है और वह कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूँगे और बहरों से घिरी रहती है, चन्द्रगुप्त के प्रति अनुराग प्रकट करते गुप्त रूप से सुन लेता है। उसी समय उसे भय होता है कि जो चन्द्रगुप्त से प्रेम करेगी वह न जाने कब चोट कर बैठे। भीतर ही भीतर न जाने कितने चक्र घमने लगे। फलतः वह अपने अन्तःपुर के दमन के लिये विचलित हो उठता है। इसी समय शक आक्रमण होता है और रामगुप्त का शिविर चारों ओर से घेर लिया जाता है। शकराज सन्धि के प्रस्ताव में ध्रुवस्वामिनी की मांग उपस्थित करता है। और रामगुप्त उसे इसलिये स्वीकार कर लेता है कि इस संकट के बहाने जितने विरोधी प्रकृति हैं उन सबको सहज ही में हटा सकेगा। वह भीतर बाहर के सब शत्रुओं को एक ही चाल से परास्त करना चाहता है। उसमें वह अपने मन्त्री शिखरस्वामी की सहायता लेता है। शिखरस्वामी व्यवस्था देता है कि "**राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। इसके लिए राजा, रानी, कुमार और अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है, किन्तु राज विसर्जन अन्तिम उपाय है।**" यह सुनकर ध्रुवस्वामिनी क्षुब्ध हो उठती है। वह रामगुप्त से अनुनय विनय करती है पर जब वह कुछ ध्यान नहीं देता तो वह आत्महत्या करने पर तत्पर हो जाती है। इसी समय चन्द्रगुप्त वहाँ आ जाता है। और ध्रुवस्वामिनी के शक शिविर में भेजे जाने की बात सुनकर वह आवेश में आजाता है और कहता है: '**यह नहीं हो सकता महादेवि! जिस मर्यादा के लिए जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदंड ग्रहण न करके अपना मिल आ अधिकार छो दिया—उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को स तरह पद-दलित न होना पड़ेगा।**' वह शिखर स्वामी से कहता है कि '**मैं ध्रुवस्वामिनी बन कर अन्य सामन्तकुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा। यदि मैं सफल हो गया तब तो कोई बात नहीं अन्यथा मेरी मृत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझना करना।**' शिखरस्वामी रामगुप्त से गुप्त मंत्रणा करके कहता है: '**राजाधिराज, आज्ञा दीजिये। यही एक उपाय है जिसे कुमार बता रहे हैं, किन्तु राजनीति की दृष्टि से महादेवी का भी वहाँ जाना आवश्यक है।**' चन्द्रगुप्त इसके लिए प्रस्तुत नहीं होता। वह ध्रुवस्वामिनी को भी लेकर जाने के पक्ष में नहीं है। पर ध्रुवस्वामिनी इससे सहमत नहीं होती। वह रामगुप्त के मन में छिपी भावना को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देती है "**राजा की इच्छा क्या है यह जानते हो मुझसे और तुमसे एक साथ छुटकारा।**" प्रथम अंक यहीं समाप्त होता है।

द्वितीय अंक

द्वितीय अंक में शक शिविर की घटनाओं को अंकित किया गया है। शकराज की प्रेमिका कोमा के एक लम्बे स्वगत से उसके हार्दिक मनोभाव हमारे सामने आते हैं। शकराज आता है और कोमा को बुलाता है और उससे बातें करता है और कहता है कि **आजकल जिन भीषण परिस्थितियों में हूँ, उसमें अन्यमनस्क हो जाना स्वाभाविक है।** वह स्फूर्ति के लिये एक प्याला मदिरा की मांग करता है और कोमा लाने जाती है। इसी बीच खिंगिल आकर सूचित करता है कि रामगुप्त ने शर्तें स्वीकार कर ली हैं और शीघ्र ही ध्रुवस्वामिनी अन्य स्त्रियों के साथ आ रही है।

यह समाचार सुनकर शकराज प्रसन्न होता है और नृत्य तथा मद्यपान का दौर आरम्भ होता है। आगे सूचना मिलती है कि तोरण में शिविकाएं आ गयी हैं। खिंगिल कहता है कि रानी पहले केवल श्रीमान से ही भेंट करना चाहती है। और वह उससे एकान्त में मिलने को प्रस्तुत हो जाता है। इसी बीच कोमा शकराज के इस कृत्य से दुखी होती है। उसे लगता है कि उसका सारा प्रेम व्यवसाय उसका भ्रम था। किन्तु शकराज विश्वास दिलाना चाहता है कि वह सचमुच उसे प्रेम करता है और ध्रुवस्वामिनी को बुलाना तो उसका राजनीति का प्रतिशोध है। इसी समय आचार्य मिहिर देव वहाँ आते हैं और सारी बात सुनकर उसे चेतावनी देते हैं कि **स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा और भी यह अपनी भावी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।** शकराज भूल जाता है कि कोमा उसकी भावी पत्नी है। शकराज और मिहिर देव में विवाद होता है और मिहिर देव कोमा को चलने को कहता है पर वह नहीं जाती। मिहिरदेव आकाश में स्थित धूमकेतु की ओर संकेत करता है और संकेत करके चला जाता है। कोमा शकराज के पूछने पर कहती है कि **धूमकेतु दिखा कर उन्होंने मुझसे कहा है कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमंगल होगा।** शकराज भयभीत होता है और उस अमंगल की शान्ति चाहता है पर कोमा कहती है **आचार्य को प्रसन्न करना सहज नहीं है** और वह भी उसके पास जाना चाहती है। शकराज जब उसे अपने प्यार का स्मरण कराता है तो वह कहती है, **'प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गयी। उसकी कसक भी धीरे धीरे दूर हो जायगी, राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी मूर्ति की पुजारिन थी . . . इस स्वार्थ मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं।'** और वह चली जाती है।

स्त्रीवेश में चन्द्रगुप्त और उसके पीछे ध्रुवस्वामिनी आती है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से लौट जाने को कहती है पर वह स्वीकार नहीं करता। शकराज ोनों को देख कर पूछता है कि ध्रुवस्वामिनी कौन है? ध्रुवस्वामिनी अपने को कहती है, चन्द्रगुप्त अपने को कहता है। शकराज इस विवाद में कह उठता है कि **'क्या चिन्ता है यदि मैं दोनों को रानी समझ लूं?'** चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी परस्पर कट मरने के लिए कटार निकाल लेते हैं। शकराज घबरा कर उन्हें रोकता है और कल निश्चय करने की बात कहता है। ध्रुवस्वामिनी तत्काल निश्चय करने को कहती है। उसके बाद चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त अपने रूप में प्रकट हो जाता है। शकराज से उसका युद्ध होता है और शकराज मारा जाता है और सी के साथ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक

तृतीय अंक में शकदुर्ग के भीतर एक प्रकोष्ठ का दृश्य है। सैनिक आकर ध्रुवस्वामिनी को सूचना देता है कि राजाधिराज भी दुर्ग में आ गये हैं, वे सैनिकों से बातें कर रहे हैं और पूछा है कि महादेवी कहां है। महादेवी उनसे मिलने की उत्सुकता नहीं प्रकट करती। कहती है—**थकी हूँ।** वह चन्द्रगुप्त के घावों के सम्बन्ध में पूछती है।

पुरोहित उपद्रवों के बाद शान्तिकर्म करने के लिये आता है और स्वस्त्ययन करना चाहता है। पर ध्रुवदेवी अपने महादेवी होने से इनकार करती है। बातों के बीच में

व्यक्त करती है कि **एक क्लीव पति के द्वारा पतित्यक्ता नारी का मृत्यु-मुख में जाना ही मंगल है।** यह सुनकर पुरोहित आश्चर्य चकित है और कहता है **यदि ये बातें सत्य हैं, तब तो मुझे एक बार फिर धर्म शास्त्र देखना पड़ा।** इसी बीच में कोमा और मिहिरदेव आते हैं। कोमा शकराज का शव चाहती है। ध्रुवस्वामिनी शव ले जाने की आज्ञा दे देती है। किन्तु शकराज का शव ले जाते हुए मिहिरदेव और उसकी कन्या का रामगुप्त के सैनिक वध कर देते हैं। इससे सामन्त कुमारों में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। उधर मन्दाकिनी की बातों से चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी के प्रति छिपे हुए भाव प्रकट हो जाते हैं। रामगुप्त शिखरस्वामी के साथ वहाँ आता है और सामन्तकुमारों की बातें सुनकर उन्हें तथा चन्द्रगुप्त को बन्दी करने का आदेश देता है और वे बन्दी हो जाते हैं। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त से कहती है—**कुमार में कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिए यह दण्ड ग्रहण कर रहे हो।** चन्द्रगुप्त दीर्घ निःश्वास लेकर चुप रह जाता है। ध्रुवस्वामिनी फिर उसे उत्तेजित करती है—**झटक दो इन लौह शृङ्खलाओं को, यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा।** इसी बीच रामगुप्त से उसकी झपट हो जाती है और वह महादेवी होने से इनकार कर देती है। सहधर्मिणी होने का भी उसे विश्वास नहीं है। वह कहती है कि **धर्म ही इसका निर्णय करेगा।** इतने में वहाँ पुरोहित आता है। वह कहता है कि **विवाह का धर्मशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसका उत्तर देने का मैं ही अधिकारी हूँ।** शिखरस्वामी उसे चुप रहने का आदेश देता है और सैनिक पुरोहित को बन्दी करन को आगे बढ़ता है। चन्द्रगुप्त आवेशमें आकर लौह शृङ्खला तोड़ देता है, और कहता है '**मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ और शिखरस्वामी तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं उसके द्वारा निर्वाचित यवराज भी हूँ। तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूँ।**' वह सैनिकों को सामन्तकुमारों को मुक्त करने का आदेश देता है। शिखरस्वामी के संकेत से रामगुप्त भय से पीछे हटता हुआ बाहर चला जाता है। शिखरस्वामी कहता है कि **मुझे आपके आधिपत्य से कोई विरोध नहीं है, जिन्तु सब काम विधान के अनुकूल होना चाहिए।** और वह कुलवृद्धों और सामन्तों को लाने चला जाता है। परिषद् उपस्थित होती है और मन्दाकिनी कहती है, '**इस परिषद् से मेरी र्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़ कर जिन लोगों ने राज किल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।**' और वह सारी परिस्थिति सामने रखती है। पुरोहित अपना मत प्रकट करता है कि **विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर के द्वेष से टूट नहीं सकते हैं। परन्तु यह सम्बन्ध उम प्रमाणों से भी विहीन है......रामगुप्त मृत और परिव्राजक तो नहीं पर पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मोंसे राजकिल्विषी तथा क्लीव है। ऐसी अवस्थामें रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं है।** आगे वह क्लीव की व्याख्या करता है। '**श्री कृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिये कहा था। जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकशायिनी बनने के लिये भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है। मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामि ी के मोक्ष की आज्ञा देता है।**'

परिषद निर्णय देती है कि **अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।** रामगुप्त कहता है—'**तुम सब पाखंडी हो। मैं अपने न्यायपूर्ण अधिकार को तुम्हारे जैसे कुत्तों के भोंकने पर न छोड़ दूंगा।** और वह चन्द्रगुप्त पर कटार से आक्रमण करना चाहता है। एक सामन्तकुमार रामगुप्त पर प्रहार करता है और वह गिर पड़ता है और नाटक का अन्त हो जाता है।

नाटक की समस्या

प्रस्तुत नाटक में प्रसाद जी ने समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या को अपने हाथ में लिया है। नारी की महत्ता का गुणगान पुरुष न जाने कबसे करता आ रहा है। मुख से तो वह नारी की प्रशंसा में न जाने क्या क्या कहता रहता है पर व्यवहार में नारी के प्रति पुरुष का रूप उसके वाक्यों से एक दम सामंजस्य नहीं रखता। नारी का अपना कोई स्वत्व नहीं, अधिकार नहीं, जीवन नहीं। वह सदैव घृणा की दृष्टि से देखी गयी। नरक का द्वार समझी गयी। पुरुष सदव उसे अपने मनबहलाव की सामग्री समझता रहा। नारी सदा से पुरुष द्वारा उत्पीड़ित, प्रताड़ित होती आयी है। उसके जीवन में कोई जय है ही नहीं। वह सदैव पराजित ही मानी गयी है। उसके लिए पुरुषों ने शास्त्रों के माध्यम से पीटने की, कुचलने की, पद पद पर भर्त्सना करने की व्यावहारिक व्यवस्था की है। उसे केवल इस बात की स्वतन्त्रता दी गयी है कि वह सब कुछ अत्याचार सहती जाय और पुरुष को देवता मानती जाय। उसके हृदय में कील ठोकी जाय और वह उफ तक न करे। युग के साथ नारी ने कुछ चेतना पायी है और अब वह पुरुष की शिकार बनी नहीं रहना चाहती। साथ ही वह इस बात की भी इच्छुक नहीं है कि वह पुरुष की शिकारी हो जाय। वह तो केवल पुरुष के समान अपने जीने का अधिकार चाहती है। प्रसाद ने आज के युग की नारी की इस भावना को अपने इस नाटक के सहारे अंकित किया है। इस भावना को अंकित करने के लिए उन्होंने तिहास से एक नारी चरित्र को ध्रुवस्वामिनी के रूप में खोज निकाला है। उनके भावों को व्यक्त करने और उन्हे स्फुटित करने के लिए उन्होंने दो अन्य नारी पात्रों मन्दाकिनी और कोमा का सर्जन किया है। इस नाटक में यही तीन नारी पात्र हैं और उन्ही की प्रधानता है। जो पुरुष पात्र इस नाटक में आते हैं वह नारी भावना को व्यक्त करने के लिए सहायक रूप में ही।

ध्रुव स्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी का जीवन हमारे सम्मुख इस रूपमें आता है। उसे उसके पिताने सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करने के प्रमाण स्वरूप चन्द्रगुप्त को सौंप दिया। उसके हृदय में चन्द्रगुप्त समा जाता है। पर रामगुप्त राज्य हस्तगत करने के साथ साथ ध्रुवस्वामिनी से भी विवाह कर लेता है। ध्रुवस्वामिनी विवश थी। जबान बन्द थी। वह कहती भी क्या? रामगुप्त की पत्नी होकर ध्रुवस्वामिनी ने चाहा कि चन्द्रगुप्त को भुला दे। राजा का कठोर आदेश था, लोकमर्यादा का भी भय था फिर भी वह अपने को ऐसा कर पाने में असमर्थ पाती है। कदाचित वह कर पाती पर रामगुप्त क्लीव था, अतः नारी के प्रति पुरुष का जो सहज आकर्षण होता है, उसका उसमें सवथा अभाव था। अपनी इस कमजोरी के कारण वह

ध्रुवस्वामिनी को पत्नी बना कर भी उसका प्रेम न पा सका और ध्रुवस्वामिनी पत्नी होकर भी चन्द्रगुप्त को भुला न सकी। निदान रामगुप्त की सदैव इस बात की कोशिश रही कि चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी से दूर रहे। अतः उस पर उसका कठोर शासन रहने लगा और वह एक निःसहाय बन्दिनी से कुछ अधिक न रह गयी। रामगुप्त उसकी विवशताओं से लाभ उठाता, उसे सदा फटकारता, उपेक्षित किये रहता है।

ध्रुवस्वामिनी का इस अवस्था में कोई रक्षक नहीं, सहायक नहीं। जिस चन्द्रगुप्त पर उसका अटूट प्रेम और विश्वास था, वह उसके पास तक नहीं जा सकता था और स्वयं उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। ऐसी स्थिति में विवश नारी के लिये एक मात्र अवलम्ब थे उसके आँसू। कशोर से यौवन तक के चिर संचित साधों (अरमानों) की व्यथा जब तब बरस पड़ती आँसुओं के रूप में और उन्हीं आँसुओं से उसके जी का भार हलका होता। मन में व्यथा, टीस और आह भरी होने पर भी वह धैर्य बनाये हुए थी। पर उसकी भी सीमा होती है। उस दिन जब रामगुप्त द्वारा शकराज के पास जाने का आदेश पाती है तो उस नारी की आत्मा तिलमिला उठती है। अपमान सहन सीमा से बाहर है अतः उसका अहम् जाग उठता है और स्पष्ट शब्दों में पूछती है, **'मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्निदेवी के सामने की है?'** जब रामगुप्त कुछ उत्तर नहीं देता तो वह खीझ उठती है। वह चीत्कार कर उठती है **'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।'**

जब रामगुप्त का पुरुषत्व अब भी मूक बना रहता है तो वह उसके पतित्व को सम्बोधन करती है। **'मेरा स्त्रीत्व क्या इतना भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके प्राणों का पण लगा सकें?'** आगे वह अपने अहंकार को मिटा कर कहती है— **'मैं स्वीकार करती हूँ आज तक मैं तुम्हारे विलासकी सहचरी नहीं हुई किन्तु मेरा वह अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी।'**

पर निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव रामगुप्त ने जब यह कहा कि **'तुम उपहार की वस्तु हो, आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो?'** जब नारी की विवशता की पराकाष्ठा प्रकट हो जाती है और ध्रुवस्वामिनी का नारीत्व फिर एक बार जाग उठता है और वह चिल्ला उठती है **'मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसम आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।'** और वह कटार निकाल लेती है। रामगुप्त की हत्या नहीं करती। उसे वह एक निरीह भड़ समझती है। इतना उसमें विवेक बना रहता है और वह अपनी हत्या करना चाहती है। पुरुष के प्रति इतनी कटु हो उठती है कि वह चन्द्रगुप्त को देख कर कह उठती है कि **'मुझे अपने अपमान में निर्वसन नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं। मुझे मृत्यु की चादर में अपने को ढक लेने दो।'**

किन्तु दूसरे क्षण चन्द्रगुप्त को अपने निकट पाकर उसके जीवन की दुर्बलता फिर लौट आती है और वह कह उठती है **'अब तुम आ गये हो-तो थोड़ा ठहरूँगी।'**

चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेश में शकशिविर में जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शिखरस्वामी के कुचक्र के फलस्वरूप निश्चय होता है कि ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के साथ जाय। शक शिविर में दोनों जाते हैं। शकराज चन्द्रगुप्त के हाथों मारा जाता है।

शकराज की मृत्यु के बाद ध्रुवस्वामिनी अपने एक नये रूप में हमारे सामने आती है। उसकी जगी हुई आत्मा उत्पीड़न से अपने को मुक्त मानती हुई अधिकार की देहली पर पैर रखती हुई दिखाई पड़ती है। अब गुप्त कुल की वधू को उपहार में भेजने वाला रामगुप्त उसकी दृष्टि में कुछ नहीं है। रामगुप्त से वह मिलने से इन्कार कर देती है। महादेवी की पदवी की विडम्बना समझती है। रामगुप्त की पत्नी होने से भी इनकार करती है। मन्दाकिनी के 'भाभी' सम्बोधन करने पर उसके मुख से निकल पड़ता है **'भाभी कहने का तुम्हें रोग हो तो कह लो। क्योंकि इन्हीं पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था, उस दिन के बाद मुझे कभी राजा से सरल सम्भाषण करने का अवसर ही नहीं मिला। हाँ, न जाने मेरे किस अपराध पर सन्दिग्धचित्त होकर उन्होंने जब मुझे निर्वासित किया, तभी मैंने उनसे अपने अपने स्त्री होने की अधिकार-रक्षा की भीख मांगी थी। वह भी न मिली और मैं बलिपशु की तरह अकरुण आज्ञा की डोरी में बँधी हुई शकदुर्ग में भेज दी गयी। तब भी तुम मुझे भाभी कहना चाहती हो।'** राजा का वह सामना नहीं करना चाहती।

अपने नये स्वरूप में वास्तविक रूप से उस समय प्रकट होती है जब वह रामगुप्त और शिखर स्वामी की उपस्थिति में चन्द्रगुप्त से अधिकारपूर्ण शब्दों में कहती है **'कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिकार करो. . . . तुम्हारी जिह्वा पर कोई बन्धन नहीं है। कहते क्यों नहीं कि मेरा यही अपराध है कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है।** वह चन्द्रगुप्त को ललकारती है—**'झटक दो इन लौह शृङ्खलाओं को। यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नहीं।'**

रामगुप्त द्वारा डाँटे जानेपर वह तड़प उठती है—**'कौन महादेवी! राजा, क्या अब भी मैं महादेवी ही हूं? जो शकराज की शय्या के लिए क्रीत दासी की तरह भेजी गयी हो वह भी महादेवी। आश्चर्य!'** शिखरस्वामी को वह डाँट देती है—**'चुप रहो प्रवंचना के पुतले। स्वार्थ के घृणित प्रपंची चुप रहो!'**

वह मनुष्य की दी हुई उपाधि महादेवी को लौटा देती है और रामगुप्त की सहधर्मिणी होने से इनकार करती है। कहती है—**'अपने हृदय से पूछिये क्या मैं वास्तव में सहधर्मिणी हूँ।'**

और अन्ततो गत्वा ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से मोक्ष प्राप्त होता है। और उसके बाद इतिहास साक्षी है कि उसने चन्द्रगुप्त से विवाह कर लिया।

ध्रुवस्वामिनी जीवन में राज महिषी है, पत्नी है और प्रेमिका है। रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का शासक है और उसकी पत्नी होने के नाते वह सम्राज्ञी है, महादेवी है। और चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है इस रूप में वह प्रेमिका है। पर उसके जीवन के ये तीनों रूप एक दम दबे हुए हैं। पत्नी होकर भी उसे पति का प्रेम प्राप्त नहीं है। साम्राज्ञी होकर भी वह अपने अधिकारों से सर्वथा वंचित है। उसकी कोई पूछ नहीं, उसकी कोई सत्ता नहीं। उसने उन्हें अपने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला.....इस राजकीय अन्तःपुर में सब जैसे एक रहस्य छिपाये चलते हैं। बोलते हैं और मौन हो जाते हैं।..... स राजकुल में एक भी सम्पूर्ण म ध्यता का निदर्शन न मिलेगा क्या ? आगे किन्तु मेरा नीड़ कहाँ है ? वह तो स्वर्ण पिंजर है।'

दाम्पत्य जीवन का स्वरूप उसके अपने इन शब्दों से व्यक्त हो जाता है---**'उस दिन राज महापुरोहित ने कुछ आहुतियों के बाद मुझे जो आशीर्वाद दिया था, क्या वह अभिशाप था ?.....मैं तो अपने प्राणों का मूल्य भी नहीं समझ पाती। मुझ पर राजा का कितना अनुग्रह है यह भी मैं आज तक न जान सकी। मैंने तो कभी उनका मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं। विलासिनियों के साथ मदिरा मे उन्मत्त, उन्हें अपने आनन्द से अवकाश कहाँ ?'** उसकी यह दयनीय अवस्था इस छोटे से वाक्य से स्पष्ट हो जाती है जो उसने प्रतिहारी के इस प्रश्नका **उत्तर---भट्टारक धर आय हैं**---उत्तर अपनी अन्तर्वेदना को व्यंगपूर्ण मुस्कराहट में परिणत करके दिया था---**'मेरे आंचल तल में छिपे नहीं हैं।'**

इस स्वर्ण पिंजर का वास्तविक स्वरूप तब प्रकट होता है जब वह अपने पद की महत्ता को आँकने के लिए कहती है **'मैं महादेवी ही हूँ न ? यदि यह सत्य है तो क्या तुम मेरी आज्ञा से कुमार चन्द्रगुप्त को यहाँ बुला सकती हो ?'** और उसे उत्तर मिलता है परिचारिका की ओर से---**'क्षमा कीजिए। इसके लिए तो अमात्य से पूछना होगा।'**

पत्नी और महिषी के संयुक्त रूप में ध्रुवस्वामिनी का मूल्य उसके पति और सम्राट की दृष्टि में उपहार की वस्तु से अधिक नहीं है। वह कहता है---**'आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को दे देना चाहती हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति है।'**

प्रेमिका के रूप में भी उसका विदग्धा स्वरूप ही सामने दिखाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त को प्रेम करती है पर उसको प्रकट नहीं कर सकती। वह उसे इस प्रकार दबाये हुए है कि उसका प्रेमी चन्द्रगुप्त भी उसको जान नहीं पाता। उसे यह पुछवाने की आवश्यकता होती है **'मेरा अपराध क्या है।'** उसे व्यक्त भी करती है तो अत्यन्त सीमित और संतुलित शब्दों में **'कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति देखकर कोई भी प्रेम में पुलकित हो सकता है।'** किन्तु जब खड्गधारिणी चन्द्रगुप्त के जीवन की कठिन परिस्थिति को बता कर उसके अन्तर पर आघात सा करती है-**'कुमार को इतने से ही सन्तोष होगा कि उन्हें कोई विश्वास पूर्वक स्मरण कर लेता है'** तो उसका दबा हुआ प्रेम समवेदना का रूपधारण कर बोल उठता है, अनजाने ही **'किन्तु उन्हें कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय।'** वह चन्द्रगुप्त के समाचार से चिन्तित ही नहीं उतावली भी हो जाती है। परिचारिका से चन्द्रगुप्त को बुला लाने को भी कहती है पर उसे उससे जो उत्तर मिलता है वह उसे उसकी विवशता पूर्ण स्थिति का बोध करा देती है।

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी एक ऐसी नारी है जो पति के प्रेम से वंचित है, प्रेमी तक पहुँचने में असहाय है और अन्तःपुरकी दीवारोंके भीतर बन्दी है फिर भी वह साम्राज्ञी कही

जाती है। प्रसाद ने नारी के दयनीय स्वरूप को साकार रूप में अपने अकेले इस पात्र के माध्यम से हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है। किन्तु यह दयनीय स्थिति में पड़ी नारी दयनीय नहीं बनी रहती है। वह विस्फोट कर उठती है उस समय जब उसका नारीत्व अपमान और प्रतारणा की चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

वह देखती है, सुनती है कि उसका पति उसे शकराज के पास भेज रहा है अपनी रक्षा के लिए। पहले वह क्षुब्ध होती है और व्यंग करती है **'यह जानना चाहती हूँ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री सम्प्रदान से ही बढ़ा है।'** यह व्यंग-बाण व्यर्थ जाता है। तब वह अपने पत्नीत्व की शरण लेती है उस दिन का स्मरण दिलाती है जिस दिन विवाह हुआ था। पूछती है **'मैं जानना चाहती हूँ कि किसने सुख-दुःख में मेरा साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा अग्नि वेदी के सामने की है।'** उसको भी बातों में उड़ जाते देख उसका नारी स्वाभिमान जाग उठता है और वह कड़क उठती है—**'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी मर्यादा रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुलको, नारीका गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेंच भी नहीं सकते हो।'**

उसका यह नारी अभिमान तत्काल अपनी असहायता का अनुभव करता है। वह पुरुष के सम्मुख सदैव असहाय है। वह देखती है कि राष्ट्र-रक्षा रूपी यज्ञ में रानी की बलि होगी ही। वह इससे क्षुब्ध होती है। वह रानी पद से नीचे उतर कर अपने पत्नीत्व का एक बार फिर सहारा लेती है। **'मैं केवल रानी ही नहीं हूँ किन्तु स्त्री भी हूँ, मुझे अपने को पति कहने वाले पुरुष से कुछ कहना है, राजा से नहीं।'** और वह अनुनय करती है अपने पतिसे—**'मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझने वाला पुरुष उसके लिए प्राणों का पण लगा सके?....मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ।'** वह दैन्य की चरम सीमा तक नीचे जाती है पर पति द्वारा उपहार की वस्तु समझी जाने पर उसका नारीत्व फिर उभर उठता है। वह पत्नी, महिषी कुछ भी न रह कर केवल नारी रह जाती है और नारी की तरह हुंकार कर उठती है—**'निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव.....मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल मणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।**

और उस रक्षा के लिए वह आत्महत्या करना चाहती है। वह अपने अपमान से इतनी उत्तेजित है कि एक बार वह अपने प्रेमी को, जो सम्भवतः पहली बार उसके सामने आया है, चले जाने का आदेश देती है। यद्यपि उस आदेश में वह कठोरता नहीं है जो उस उत्तेजना में सम्भव था। विनम्र होकर ही कहती है **'मैं प्रार्थना करती हूँ कि तुम यहाँ से चले जाओ। मुझे अपमान में निर्वसन नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नहीं। मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढँक लेने दो।'**

किन्तु अपने प्रेमी को सामने देख कर नारी जन्य दुर्बलता उसमें एक बार फिर आ जाती है। उसे एक सम्बल मिलता है। उसके विचार पलटा खाते हैं। एक अन्तर्द्वन्द्व होता

है । वह सोचती है और कह उठती है—'**नहीं अभी आत्म हत्या नहीं करूँगी । जब तुम आ गये हो तो थोड़ा ठहरूँगी । यह तीखी छुरी इस अतृप्त हृदय में, विकासोन्मुख कुसुम में, विषैले कीट के डंक की तरह चुभा दें या नहीं, इस पर विचार करूँगी.....**' और अन्त में कह उठती है '**नहीं, मैं नहीं मरूँगी क्योंकि तुम आ गये हो ।**'

और प्रेमी प्रेमिका के मधुर संलाप का श्रीगणेश होता है । चन्द्रगुप्त कहता है '**मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसलिए भूलने का प्रयत्न किया कि...**' और ध्रुवस्वामिनी आँख बन्द किये हुए कुतूहल भरी हुई प्रसन्नता से उसे सुनती है ।

ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के प्रति सञ्चित प्रेम उस समय फूट पड़ता है जब चन्द्रगुप्त कहता है—'**मैं ध्रुवस्वामिनी बन कर अन्य सामन्तकुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा ।**' ध्रुवस्वामिनी सारी लोक मर्यादा को भूल जाती है—और आवेश में चन्द्रगुप्त को अपनी भुजाओं में कस लेती है । वह चिल्ला उठती है '**नहीं मैं तुमको नहीं जाने दूंगी । मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं है ।**'

उस क्षण से ध्रुवस्वामिनी एक नयी दुनिया में पहुँच जाती है । प्रेमियों की दुनिया में । वह आलिंगन-जनित आह्लाद उसे सदा याद आया करता है '**कितना अनुभूति पूर्ण था वह एक क्षण का आलिंगन । कितने सन्तोष से भरा था । नियति ने अज्ञात भाव से मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो......कुमार तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही । तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ... ।**'

यहीं ध्रुवस्वामिनी के जीवन में तनिक सरसता दिखाई पड़ती है । चन्द्रगुप्त शकशिविर में जाने को प्रस्तुत होकर आता है । और ध्रुवस्वामिनी उससे हँस कर कहती है—'**राजा की आज्ञा मान लेना पर्याप्त नहीं है । रानी की भी एक बात मानोगे । मैंने तो पहले ही कुमार से प्रार्थना की थी कि मुझे जैसे ले आये हो उसी तरह पहुँचा भी दो ।**'

वह चन्द्रगुप्त में इस प्रकार लीन हो गयी है कि उससे अलग नहीं होना चाहती—'**कुमार, यह मृत्यु और निर्वासन का सुख तुम अकेले ही लोगे ऐसा नहीं हो सकता...हम दोनों ही चलेंगे । मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बन कर बुझ जाने की कामना रखती हूँ ।**'

शकराज के सम्मुख पहुँचने से पूर्व ध्रुवस्वामिनी इस बात की चेष्टा करती है कि चन्द्रगुप्त वापस लौट जाय । पर जब असमर्थ होती है तो शकराज के सम्मुख वह अपने को प्रकट करती है पर चन्द्रगुप्त अपने को ध्रुवस्वामिनी बताता है । और चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी दोनों परस्पर एक दूसरे पर छलने का आरोप करते हैं । यह एक ऐसा स्थल है जहाँ ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम निखर उठा है ।

नाटक के अन्तिम भाग में ध्रुवस्वामिनी पुनः हमारे सामने राजमहिषी और पत्नी के रूप में आती है। पर इस राजमहिषी ` आरम्भ की राजमहिषी में महा ् अन्तर है। तब वह राजवन्दिनी थी, परवश थी। आज वह अपने को स्वतन्त्र अनुभव करती है। पहले उसे चन्द्रगुप्त से मिलने के लिए अमात्य की आज्ञा की अपेक्षा थी। पति के दर्शन को तरसती थी। आज वह चन्द्रगुप्त के आदेश पर चलती है। राजा को आने से पहले आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। वह उससे नहीं मिलती। किन्तु परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी उसके मन में पत्नीत्व की टीस शेष है। भूल से मन्दाकिनी भाभी सम्बोधन कर देती है और उसकी वह टीस जाग उठती है। वह कह उठती है: **'भूल से ही तुमने आज एक प्यारी बात कह दी। उसे क्या लौटा लेना चाहती हो? आह यदि वह सत्य होती!'**

अब वह अनुभव करती है कि वह न तो महादेवी है और न मन्दाकिनी की भाभी। वह इतना समझती है कि जो रानी शत्रु के लिए उपहार में भेज दी जाती है, वह महादेवी के उच्च पदवी से पहले ही वंचित हो गयी होगी। भाभी के सम्बन्ध में उसका कहना है कि **'भाभी कहने का तुम्हें रोग हो तो कह लो। क्योंकि इन्हीं पुरोहित जी ने उस दिन कुछ मन्त्रों को पढ़ा था, उस दिन के बाद मुझे राजा से सरल सम्भाषण करने का अवसर ही न मिला. . . .मैंने उनसे अपने स्त्री होने का अधिकार, रक्षा की भीख माँगी थी वह भी नहीं मिली. . . . .तब भी तुम मुझे भाभी कहना चाहते हो।'**

इस प्रकार महादेवी पद और पत्नीत्व से अपने को मुक्त समझती हुई ध्रुवस्वामिनी का प्रेमी हृदय चन्द्रगुप्त को शृंखलाबद्ध देख कर चीत्कार कर उठता है। वह सांसारिक बन्धनों की खुल कर अवहेलना करती है। अपने प्रेमी को उत्तेजित करती है **'झटक दो न लौह बन्धनों को। वह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा।'** रामगुप्त को फटकार देती है और शिखरस्वामी को डाँट देती है। वह अपने प्रेम की उपत्यका को जलते देख तमाशबीनों की परवाह न कर उसकी रक्षा का प्रयत्न करती है। और वह नारी हृदय की चरम अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार प्रसाद जी ने नारी की दयनीय स्थिति को सामने रखते हुए ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से पुरुषों के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने का सन्देश दिया है। किन्तु सते भी अधिक उन्होंने नारी मनोविज्ञान को बड़ी बारीकी के साथ उपस्थित किया है। ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों का चढ़ाव उतार तने स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि उसे नारी के अतिरिक्त कुछ दूसरा समझने का मौका ही नहीं मिलता। उसके जीवन में करुणा और प्रेम दोनों का स्रोत समान रूप से प्रवाहित हो रहा है। उसे जहाँ अपने जीवन के प्रति विराग है वहीं चन्द्रगुप्त के प्रति मोह है। परिस्थितियों की उत्तेजना में वह बुद्धिवादी होते ए भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी हो उठती है। उचित अनुचित का ज्ञान उसे नहीं रहता। पर वह जो कुछ भी करती है उसमें अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ती। कोमा शकराज का शव माँगने आती है पर परिस्थितियों ने उसे इतना कठोर बना दिया कि है वह निष्ठुरता पूर्वक जवाब दे देती है **'शत्रुओं के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। अधिक हठ करने पर दंड मिलना भी असम्भव नहीं।'** किन्तु नारीत्व के कोमल तंतु को कोमा छ देती है। कहही

है– ‘रानी, तुम भी स्त्री हो । क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी ? आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढँक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है । जली होगी अवश्य । तुम्हारे जीवन में भी वह आलोक का महोत्सव आया होगा जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार बनता है और सर्वस्व दान करनेका उत्साह रखता है ।’ और ध्रुवस्वामिनी का हृदय झनझना उठता है, उसकी कटुता अधिक नग्न होकर सामने आ जाती है, पर इस बार नारीत्व के साथ । वह आज्ञा देती है—‘**जलो, प्रेम के नाम पर जलना चाहती हो तो तुम उस शव को ले जाकर जलो । जीवित रहने पर मालूम होता है कि तुम्हें अधिक शीतलता मिल चुकी है । अवश्य तुम्हारा जीवन धन्य है ।**’

जीवन के इस उतार-चढ़ाव में हम प्रसाद जी के अन्य पात्रों के समान ध्रुवस्वामिनी को नियतिवादी ही पाते हैं । उसके मुँह से हम अक्सर सुनते हैं कि ‘**जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही । नियति ने मानो लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल छाया से मिला दिया हो ।**’ पर जीवन में उसे नियति के भरोसे अकर्मण्य बैठा नहीं पाते । जो कुछ हुआ, उसमें तो वह नियति का हाथ देखती है, पर भविष्य को नियति के हाथ में छोड़ कर हताश नहीं बैठ जाती । वह भविष्य को बताने का यत्न तो नहीं करती । भविष्य के लिए उसकी अपनी कोई चेष्टा भी नहीं होती, पर जो कुछ सामने आता है उसका एक बुद्धिवादी की तरह सामना करती है । उसके जीवन में आदि से अन्त तक एक हलचल है, अशान्त वातावरण है । उसी में वह डूबी रहती है । उसकी स्थिति उसके अपने ही शब्दों में इस प्रकार है–‘**इस वक्ष में दो हृदय हैं क्या ? जब अन्तरंग हाँ कहना चाहता है तो ऊपरी मन ना क्यों कहला देता है ?**’

मन्दाकिनी

मन्दाकिनी इस नाटक की दूसरी नारी पात्र है जिसे दुर्भाग्यवश कुछ विद्वान आलोचकों ने ध्रुवदेवी के कंठ से कंठ मिला कर बोलने वाली सहचरी मात्र मान लिया है । उन्हें उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं जान पड़ता । कदाचित् उन्हें यह भ्रान्ति इसीलिए हुई है कि वह जो कुछ भी करती है उसमें एक प्रेरणा है,जो ध्रुवस्वामिनी के जीवन की गति को आगे बढ़ाती है । कुछ स्थल ऐसे है जहाँ वह ध्रुवस्वामिनी की बातों में बल देती है । ऐसे भी स्थल है जहाँ वह उसके हृदगत भावों के शाब्दिक प्रसार का मार्ग निर्दिष्ट करती जान पड़ती है । परन्तु इतना होते हुए भी उसका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, जो विश्लेषण से ही प्रकट हो सकता है । वह उसके कार्यों में उसी प्रकार छिपा है जिस प्रकार दूध में मक्खन ।

मन्दाकिनी प्रसाद जी की काल्पनिक पात्र है और वह रामगुप्त और चन्द्रगुप्त की बहन के रूप में प्रस्तुत की गयी है । नाटक में स्पष्ट रूप से उसे कहीं उनकी बहन नहीं बताया गया है, पर उसका ध्रुवस्वामिनी को भाभी सम्बोधन और ध्रुवस्वामिनी का भाभी कहने का आग्रह इस बात को स्पष्ट कर देता है । कुछ आलोचकों ने इस ओर ध्यान न देकर उसका सामंजस्य गूँगी खड्गधारिणी से कर लिया है और उसकी गणना परिचारिका के रूप में की है । यदि ध्यानपूर्वक खड्गधारिणी और ध्रुवस्वामिनी

की बातचीत देखी जाय तो यह भ्रम अपने आप दूर हो जाता है। ध्रुवस्वामिनी खड्गधारिणी की ओर देखकर पूछती है—**'क्यों मन्दाकिनी नहीं आयी ?'** यह प्रश्न अपने आप बता देता है कि वह खड्गधारिणी से भिन्न है और वह चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के बीच दूती का काम नहीं करती। किन्तु उनका यह भ्रम अकारण भी नहीं कहा जा सकता। मन्दाकिनी का वह स्वगत जिसके सहारे वह मंच पर उपस्थित होती है, उनकी इस धारणा का आधार है। उसके शब्द हैं—**'गूँगी के अभिनय में महादेवी के हृदय का आवरण तनिक-सा हटा है।'** इस वाक्य से ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि उसने ही गूंगी का अभिनय किया था, किन्तु वस्तुतः बात ऐसी है कि उसने किसी को गूँगी खड्गधारिणी बना कर भेजा था। उससे जो बातचीत हुई उसकी ओर उसका लक्ष्य है। यदि यह बात न होती तो ध्रुवस्वामिनी को यह आवश्यकता पूछने को न होती कि **'क्यों मन्दाकिनी नहीं आयी ?'** यदि स्वयं वह मन्दाकिनी होती तो इस प्रकार प्रश्न पूछने का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। वह उसे पहचान लेती। यदि वह मन्दाकिनी को पहचानती न होती तो उससे इस प्रकार के प्रश्न का प्रयोजन ही क्या होता। प्रसाद जी ने यदि स्वगत के वाक्य कुछ अधिक स्पष्ट कर दिये होते तो यह भ्रम न होता! जिस ढंग से वह शिखर-स्वामी, रामगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच बोलती है, उस ढंग से बोलने का साहस किसी परिचारिका को नहीं हो सकता।

स्पष्टतः मन्दाकिनी एक परिचारिका से अधिक ऊँचा स्थान रखती है और ध्रुव-स्वामिनी का उसके प्रति आकर्षण है। वह चन्द्रगुप्त के ध्रुवस्वामिनी के प्रति आकर्षण से भी अपरिचित नहीं है। किन्तु वह उसको इतना महत्व नहीं देती जितना कि शकराज के सन्धि-प्रस्ताव को, और उसको चन्द्रगुप्त तक पहुँचाने के लिए अधिक उत्सुक है। उसका अपना एक रूप है। यह न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण करना चाहती है और उसी पक्ष को प्रबल बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील है।

मन्दाकिनी के स्वरूप को हम पहली बार उस समय देखते हैं जब सन्धि-प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है, मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है। रामगुप्त, ध्रुवस्वामिनी की रक्षा करने में असमर्थ है। मन्त्री की मन्त्रणा अपनी काम करने जा रही है। उस समय मन्दाकिनी आकर मीठी-तीखी चुटकी लेती है और अपनी उस चुटीली चुटकी के सहारे एक सुबुद्धिपूर्ण सलाह देती है—**'राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करने म असमर्थ है, तब भी उस राजा की रक्षा होनी ही चाहिये। अमात्य यह कैसी विवशता है। तुम मत्युदंड के लिए उत्सुक। महादेवी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत। तो फिर यह हिचक क्यों? एक बार अन्तिम परीक्षा करके देखो। बचोगे तो राष्ट्र और सम्मान भी बचेगा, नहीं तो सवनाश।'**

पर उसकी इस उत्साह भरी बात को वहाँ सुनता कौन! उनके लिए तो नारी उपेक्षणीय, उपहार की वस्तु थी। निदान उसकी बात अनसुनी कर दी गयी। ध्रुव-स्वामिनी का शक-शिविर में जाना ही निश्चित रहा। और हम देखते हैं कि मन्दाकिनी एक वारबाला की तरह सामन्त कुमारों के स्वर में स्वर मिला कर गा उठती है :—

क्रन्दन कंपन न पुकार बने,
निज साहस पर निभरता हो,
अपनी ज्वाला को आप पिये,
नव नीलकंठ की छाप लिये,
विश्राम शान्ति को शाप दिये,
ऊपर ऊँचे सब झेल चले।

तीसरे अंक में हम उसे भाभी सम्बोधन कर ध्रुवस्वामिनी के हृदय तल को अनजाने कुरेद देते देखते हैं। किन्तु वह उसकी सरलता और उस उत्साह का द्योतक है, जिसका शकराज पर विजय होने से, वह अपने में अनुभव कर रही है। उस बीच पुरोहित के आगमन से ध्रुवस्वामिनी के मन में उलझा हुआ प्रश्न सामने आ जाता है और उसके विवाह की वैधता का प्रश्न पुरोहित को मूक बना देता है। उस समय मंदाकिनी को उसका यह मौन खटक उठता है। धर्मशास्त्रों के प्रति उसके मन में संचित विद्रोह उबल पड़ता है और वह पुरोहित पर बरबस बरस पड़ती है—'**आप बोलते क्यों नहीं ! आप धर्म के नियामक हैं। जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँध कर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार, कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें ? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा देकर विश्राम ले लेते हैं।**' इस प्रकार वह धर्मशास्त्र की विवेचना करती है ध्रुवस्वामिनी के पक्ष में और साथ ही उसे दया आती है कोमा पर, शकराज के शव पर बलिदान होने की आकांक्षा देख कर—'**स्त्रियों के इस बलिदान का भी कोई मूल्य नहीं। कितनी असहाय दशा है ! अपने निबल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से यह पुरुष के चरणों को पकड़ती है और वह सदैव ही इनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। तब भी यह बावली उसे मानती है।**' लगता है, खीझ के साथ नारी हृदय में संचित युग-युग की वेदना उफन-उफन कर बाहर आ रही हो।

वह ध्रुवस्वामिनी की दशा देखकर उन्मत्त और उत्तेजित हो जाती है—'**नारी हृदय, जिसके मध्यविन्दु से हटकर, शास्त्र का एक मन्त्र कील की तरह गड़ गया है और उसे अपने सरल-प्रवर्तन-चक्र में घूमने से रोक रहा है।**' और चन्द्रगुप्त को उसे असहाय अवस्था में छोड़ जाते देख उसे ध्रुवस्वामिनी की मनोभावनाओं की याद दिलाती है, दूतों की तरह नहीं, एक कर्त्तव्य-प्रेरक के रूप में—'**हृदय में नैतिक साहस, वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र कर सोचिये तो राजकुमार कि अब आपको क्या करना चाहिये ?**'

यही नहीं, रामगुप्त के पुरुषार्थ का प्रहसन, अबला पर इतना बढ़ा अत्याचार देख कर वह चुप नहीं रहती। वह रामगुप्त के सम्मुख अपने मन की भावना निर्भीकता से प्रकट कर देती है—'**राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोंट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल-मर्यादारूपी नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। भगवान ने स्त्रियों को उत्पन्न कर के ही अधिकारों से वंचित नहीं किया है। किन्तु तुम लोगों की दस्यु-वृत्ति ने उन्हें लूटा है। इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है कि आर्य समुद्रगुप्त**

का विधान तोड़कर जिन लोगों ने राज किल्विष किया हो उन्हें दंड मिलना चाहिये। ...मैं तुम लोगों को नीचता की गाथा सुना रही हूँ। तुम्हारी प्रवंचनाओं ने जिस नरक की सृष्टि की है उसका अन्त समीप है...कहीं धर्मशास्त्र हो तो उसका मुँह खुलना चाहिये।'

इस प्रकार मन्दाकिनी ने अपने शब्दों से समस्त मानव जाति द्वारा प्रताड़ित नारी का चीत्कार, करुण क्रन्दन व्यक्त किया है। समष्टि रूप से नारी का मूक हृदय सस्वर होकर उसके व्यक्तित्व में मुखरित हो उठा है। मन्दाकिनी का जीवन अपने लिए नहीं है। उसके चरित्र में अपना 'स्व' कहीं झाँकता नहीं दिखाई देता। यही उसके चरित्र की महत्ता है। नाटक में यत्र-तत्र पुरुष को उसके नग्न रूप में रखने और नारी जाति की वकालत करने में ही उसका व्यक्तित्व निहित है। नारी होने के नाते उसके पास नारी हृदय है, अतः वह दूसरी नारी के हृदय को टटोल सकती है। उसके हृदय की तड़पन का अनुभव कर सकती है और उस तड़पन को लेकर वह नारी स्वातन्त्र्य की दूतिका होकर हमारे सामने आती है।

कोमा

कोमा इस नाटक की तीसरी पात्रा है। किन्तु उसका व्यक्तित्व ध्रुवस्वामिनी एवं मन्दाकिनी से भिन्न है। वह आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री है। उन्हीं की शिक्षा में पली है। उसने शकराज को अपना हृदय दे दिया है। उसके प्रणय-सूत्र में बँध गयी है, किन्तु शकराज को युद्ध में रत देखकर उसे अनुभव होता है कि सब रक्त के प्यासे हैं। प्राण लेने और देने के पागल है। वसन्त का उदास और अलस पवन आता है और चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नही। ऐसा तो वास्तविक जीवन नही है। शकराज की इस नीरसता से उसे अपनी भूल ज्ञात होती है, किन्तु साथ ही एक बुद्धिवादी, एक दार्शनिक की भाँति अपनी इस भूल की व्याख्या कर आत्मसन्तोष भी कर लेती है—**'प्रणय, प्रेम, जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुंज उड़ेल देता है तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरणें नहीं। तब वही, केवल वही। हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझ कर चलना दोनों बराबर है। सुना है, दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि में मूर्ख बनते हैं। तब कोमा तू किसे अच्छा समझती है!'**

अपनी इस प्रकार उपेक्षा होते देख कोमा शकराज से कुछ शुष्क ढंग से बात करती है और शकराज उसकी इस शुष्कता का अनुभव कर लेता है। उसे लगता है वह कुछ रूठी हुई है। पूछने पर कोमा सहज भाव से अपनी व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त कर देती है—**'रूठने का सुहाग मुझे मिला कब!'** शकराज अपनी अन्यमनस्कता की सफाई देता है, अपनी भीषण परिस्थिति की चर्चा करता है, तब कोमा का अधिकार भाव जाग उठता है और वह पूछ बैठती है—**'तो क्या आपकी दुश्चिन्ताओं में मेरा भाग नहीं। मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो जायगी?'** और उसके बाद वह दार्शनिक बन बैठती है—**'प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ मनुष्य उन्हें जीवन**

के लिए उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिए अपने आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है। उससे उदासीन नहीं होना चाहिये महाराज.........संसार के सम्मुख अपने से महान के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बन कर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे.......अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है।'

कोमा की भावुकतापूर्ण दार्शनिकता शकराज को अच्छी नहीं लगती। वह चिढ़ उठता है और उसका कठोर रूप पुनः कोमा के सामने आ जाता है। अपने को पाषाण प्रतिमा से संतुलित किये जाते देख वह अपना संयम खोती नहीं वरन् यह बताने की चेष्टा करती है कि पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं, उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है, प्यासों की तृप्ति होती है। अपने अन्तर में बहते हुए प्रेम-स्रोत को वह प्रकट करती है, पर शकराज को तो अपनी स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा चाहिये।

शकराज के रंग-ढंग देख कर उसे अपनी उपेक्षा का बार-बार अनुभव होता है और जब उसे ज्ञात होता है कि ध्रुवस्वामिनी शकराज के पास लायी जा रही है तो वह अपने को रोक नहीं पाती। मौका पाते ही पूछ बैठती है—**'तुम्हारी स्नेह सूचनाओं को सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गयी हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था? कह दो, कह दो कि वह तेरी भूल थी।'**

शकराज विश्वास दिलाना चाहता है कि मैं सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ, पर उसे विश्वास नहीं होता। वह पूछती है—**'तब भी यह बात?'** और जब उसे यह मालूम होता है कि यह एक राजनीतिक प्रतिशोध है तो उसका नारीत्व तिलमिला उठता है। एक ओर वह अपने हृदय के ऊपर अत्याचार तो देख ही रही है, दूसरी ओर वह पा रही है एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न करा कर गर्व की तृप्ति। वह दृढ़ता से उसके विरोध का प्रयत्न करती है, किन्तु उससे कहा जाता है—**'जो विषय न समझ में आये, उस पर विवाद न करो।'** तो उसे लगता है कि उसे विवाद करने का भी अधिकार नहीं है। जिसे वह प्रेम करती है और जो उसे प्रेम करने का दम्भ भरता है, उसे वह ऊँच-नीच समझा नहीं सकती तो उसे नारी की लघुता का ज्ञान होता है। वह दुःखी हो उठती है। और यह दुःख उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाता है जब शकराज अपनी सफलता से प्रमत्त हो स्पष्ट शब्दों में कोमा के भावी पत्नी होने को अस्वीकार कर देता है और उसकी याद दिलाये जाने को राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप समझता है।

कोमा अपमानित होती है, प्रताड़ित होती है, पर उसके भीतर ऐसी आत्मा नहीं है जो उस अपमान और प्रताड़ना के विरुद्ध विद्रोह कर सके। वह शकराज के प्रति अपना मोह छोड़ने में असमर्थ रहती है। अपने पिता से स्पष्ट शब्दों में कह भी देती है—**'तोड़ डालूँ पिता जी, मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गयी है। दे दूँ एक झटका, उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल**

जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे । ना, ऐसा कठोर आज्ञा न दो ?' उसे इसमें अपना ही दोष दिखाई पड़ता है। वह शकराज को छोड़ कर जाना भी नहीं चाहती । किन्तु वह बुद्धिवादी की तरह सोचती है, उसे अपने मानापमान का ध्यान आता है—**'मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिए बनावटी व्यवहार करना होगा; पग-पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा ।'** और वह शकराज के अपने प्यार और स्नेह की याद दिलाने पर भी नहीं रुकती । वह अपने मन की व्यथा को शकराज के सामने इन शब्दों में व्यक्त कर देती है—**'प्रेम का नाम न लो । वह एक पीड़ा थी जो छूट गयी । उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायेगी । राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती । मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुष मूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों पर खड़े रहने की दृढ़ता थी । इस स्वार्थ-मलिन, कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं ।'**

कोमा शकराज को छोड़कर चली तो जाती है, पर उसका मोह बना रहता है। यह जानते हुए भी कि प्रेम करने के अपराध में उसे निराशा, निष्पीड़न और उपहास मिला है, वह शकराज का शव माँगने आती है और उसके साथ जल मरने की आकांक्षा रखती है । इस स्थल पर कोमा का सारा विवेक, सारी दार्शनिकता पराजित होती जान पड़ती है, केवल जित रहता है नारी का यह रूप जिसे हिन्दू नारी न जाने कितनी शताब्दियों और सहस्राब्दियों से धारण किये चली आ रही है । जिस रूप से पुरुष द्वारा प्रताड़ित और उत्पीड़ित होते हुए भी नारी पुरुष के चरणों को पकड़े रहती है ।

ध्रुवस्वामिनी की तरह ही कोमा भी प्रेम-विदग्धा है। दोनों ही पुरुषों द्वारा प्रताड़ित, अपमानित और लांछित होती है, किन्तु एक उस प्रताडित अपमानके विरुद्ध विद्रोह करती है और दूसरी उसके साथ चिपटी रहती है । ध्रुवस्वामिनी कोमा की तरह दार्शनिक नहीं है, वह अधिक लौकिक है, नियति पर उसका विश्वास है; पर वह वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ती। ठीक इसके विरुद्ध कोमा बुद्धिवादी है, उसमें विवेक अधिक है। अनुचित के प्रति विरोध भी वह करती है, फिर भी वह नारी की भावुकता से भरी हुई है, उसे त्याग सकने में असमर्थ है । रूढ़ियों से जकड़ी हुई है। उसे नारीत्व का शाश्वत रूप तो नहीं कहा जा सकता, पर वह उस रूप का प्रतिनिधित्व अवश्य करती है जिस रूप को लेकर अधिकांश हिन्दू नारियाँ आत्म-सन्तोष प्राप्त करती रही हैं । एक बात उनसे कोमा में भिन्न है । जहाँ धर्मशास्त्रों अथवा धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें वैसा अनुभव करने और मानने को विवश कर दिया है, कोमा उस स्थिति को भावुकतावश ग्रहण करती है । आत्म-समर्पण, दैन्य और त्याग के सहारे वह अपने प्रेम का अन्त तक निर्वाह करती है । उसे परवाह नहीं है कि उसका प्रेमी क्या है, कैसा है । कोमा का व्यक्तित्व भावुकता से भरा हुआ है, जिसके कारण विवेक उसका साथ नहीं दे पाता। वह किसी युग की आदर्श नारी कही जा सकती है, किन्तु आज की स्थिति में वह लोगों की दृष्टि में दया के पात्र से अधिक कुछ नहीं है । मन्दाकिनी की तरह ही उसकी निरीह अवस्था पर लोगों के मन में एक खीज ही उठेगी । इन सब के बावजूद भी वह एक यथार्थ है । उसे आदर्श मानने वाली स्त्रियों की संख्या हिन्दू समाज में कम नहीं है ।

रामगुप्त

रामगुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का पुत्र है और भारत के एक बड़े भू भाग का शासक है। पिता द्वारा राज्याधिकारी न माने जाने पर भी वह कपट और प्रवंचना द्वारा शासक हो जाता है और मनोनीत उत्तराधिकारी कुछ सोच-समझ कर चुप रह जाता है। यही नहीं, वह ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लेता है, जिसकी उसके प्रति कोई अनुरक्ति नहीं है।

रामगुप्त में शासक अथवा पति होने के कोई गुण नहीं हैं। वह विलासी है। उसका सारा समय विलास में बीतता है। राजकाज से उसे कुछ मतलब नहीं। शिखरस्वामी के हाथ की वह कठपुतली है। विलासी होने पर भी उसका समय पत्नी के साथ विलास में नहीं बीतता। वह अपना समय सुरा और सुन्दरियों अथवा हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि पुरुषत्वविहीन व्यक्तियों के बीच व्यतीत करता है। क्लीव होने के कारण पत्नी से सम्पर्क स्थापित नहीं करता, साथ ही अपनी इस क्लीवता के कारण अपनी पत्नी के प्रति सशंक रहता है और उसे एक बन्दी की स्थिति में रखता है और लुक-छिप कर उसके मनोभाव को जानने का यत्न करता है और जब उसे चन्द्रगुप्त के प्रति आसक्त देखता है तो उसे पापाचार की संज्ञा देता है।

रामगुप्त दिग्विजय के लिए निकलता है, पर साहस नामकी वस्तुका उसमें सर्वथा अभाव है। वह दिग्विजय करने इसलिये नहीं निकलता है कि वह अपने राज्य का विस्तार करे। वरन् वह किसी गुप्त उद्देश्य से ही ऐसा करता है। वह इस बहाने अपने समस्त विरोधियों को हटा देना चाहता हैं। इसीलिए शकराज द्वारा घिर जाने पर समाचार सुन कर उसके प्रतिकार की बात नहीं सोचता वरन् कहता है—'**यह तो तुम जानते हो कि मेरी इस विजय-यात्रा का कोई गुप्त उद्देश्य है। उसकी सफलता भी सामने दिखाई पड़ रही है। हाँ, थोड़ा-सा साहस चाहिये। शक दूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो, उसे अस्वीकार न करना चाहिये। ऐसा करने में इस संकट के बहाने, जितने विरोधी प्रकृति हैं उन सबको हम लोग सहज में ही हटा सकेंगे.....तुम्हारी राजनीतिज्ञता तो इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों।**'

और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास भेजने में भी संकोच नहीं करता। शकराज के लज्जाजनक प्रस्ताव को स्वीकार करता है और ध्रुवस्वामिनी जब अपने पति कहलाने वाले पुरुष से इस प्रकार के व्यवहार की बात सुनती है तो वह तिलमिला उठती है, खीजती है और अनुनय करती है—'**मेरा स्त्रीत्व क्या इतने का भी अधिकारी नहीं कि अपने को स्वामी समझनेवाला पुरुष उसके लिए अपने प्राणों का पण लगा सके**। इसके उत्तर में रामगुप्त जो कुछ कहता है, वह उसकी निर्लज्ज नपुंसकता को प्रकट कर देता है—'**तुम सुन्दर हो, ओह, कितनी सुन्दर; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध होकर उसे कोई अपने हृदय में डुबा नहीं सकता। तुम्हारी सुन्दरता, तुम्हारा नारीत्व अमूल्य हो सकता है। फिर भी म अपने लिए कितना आवश्यक हूँ, कदाचित यह तुम नहीं जानती हो... तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ, इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो।**'

ध्रुवस्वामिनी का तो इस प्रकार तिरस्कार करता ही है, चन्द्रगुप्त को तो वह अपने मार्ग का काँटा मानता है और उसके हटाने के लिए ही वह दिग्विजय आदि का सारा दिखावा

करता है और उसे बलपूर्वक शक-शिविर में जाने को बाध्य करता है। चन्द्रगुप्त जब यह सुनता है कि ध्रुवस्वामिनी को शक-शिविर में जाना ही होगा तो वह जाने से इनकार कर देता है, पर उसे आदेश दिया जाता है कि—**'नहीं यह मेरी आज्ञा है। सामन्तकुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।'**

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामगुप्त के सारे कार्य के पीछे एक दुरभिसन्धि है। समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल वह शासन का अधिकारी हुआ है। इससे पुरोहित, अमात्य और सेनापति आदि उससे छिपा हुआ विद्रोह भाव रखते हैं। इस विद्रोह-भावना के मूल में चन्द्रगुप्त को मानता है और उससे छुटकारा पाने के लिए ही वह उचित और अनुचित सब कुछ करता है। उसके इन सारे कार्यों को राजनीति की संज्ञा दी जा सकती है और कहा जा सकता है कि युद्ध का भय और प्राण का मोह, जिसके कारण वह गुप्त-कुल की मर्यादा का बलिदान करने को प्रस्तुत है, केवल दिखावा है। मूल अभिप्राय तो केवल चन्द्रगुप्त और उसके साथियों से छुटकारा पाना है, किन्तु इसे राजनीति मान लेने पर भी रामगुप्त की न तो सराहना की जा सकती और न उसे राजनीतिज्ञ ही कह सकते हैं। उसके सम्बन्ध में मन्दाकिनी के ये शब्द उपयुक्त हैं—**'वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूल उड़ती है।'**

यदि उसमें शासक होने की योग्यता होती तो समुद्रगुप्त उसे अपना उत्तराधिकारी न बना कर चन्द्रगुप्त को क्यों बनाता? यदि उसमें पति होने की क्षमता होती, यदि वह अपने प्रेम से ध्रुवस्वामिनी को रिझा सकता तो उसे बन्दी अवस्था में रखने की आवश्यकता क्यों होती, क्यों वह चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षित होती और क्यों उसे सोचने का मौका कि—**'मैं अपने ही प्राणों का मूल्य नहीं समझ पाती।'** और तब इस प्रकार के कुचक्र रचने की आवश्यकता न होती।

चाटुकार शिखरस्वामी को छोड़कर उसका कोई अपना नही है। उसके दुराचरणों के कारण सभी उससे खिन्न है और जब उसकी कायरता, दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो उसके राज्य के परम विश्वासी लोग भी उससे विद्रोह कर बैठते है। पुरोहित उसे गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मो से राजल्विषा क्लीव घोषित करता है। समस्त परिषद् का निर्णय होता है कि अनार्य, पतित और क्लीव रामगुप्त गुप्त साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं। और उसका दुर्नीति और कायरता पर खड़ा किया गया महल ढह जाता है। अपने महल को इस प्रकार ढहते देख उसके रक्त में तनिक ऊष्णता आती है और वह सोचने को बाध्य होता है—**'तो सचमुच क्लीव हूँ क्या?'** और यह विचार मन में आते ही उसकी प्रतिशोध की भावना उत्तेजित हो उठती है और चन्द्रगुप्त की हत्या करने को प्रयत्न करता है, पर स्वयं मारा जाता है।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व यद्यपि महत्व का है तथापि इस नाटक में उसका स्थान अत्यन्त गौण है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र के प्रेममय रूप को व्यक्त करने के लिए ही उसे नाटक में स्थान दिया गया है। कुछ लोगों ने उसे इसी कारण नायक का नाम दिया है। वस्तुतः

इस नाटक में नायक कोई है ही नहीं। ध्रुवस्वामिनी अपने आप में नायक और नायिका दोनों है।

चन्द्रगुप्त प्रकृति से गम्भीर और उदार स्वभाव का व्यक्ति है। पिता द्वारा उत्तराधिकारी निर्वाचित होने पर भी रामगुप्त द्वारा शासनाधिकार हड़प लिये जाने पर तथा यह जानते हुए भी कि लोग रामगुप्त से विरोध भाव रखते हैं, वह अधिकार पाने को चेष्टा नहीं करता। एक आज्ञाकारी भाई की तरह उसकी आज्ञाओं का उचित अथवा अनुचित पालन करता है।

वह ध्रुवदेवी से प्रेम करता है और ध्रुवदेवी भी उसकी स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देख कर प्रेम से पुलकित होती है, किन्तु वह प्रेम की घनीभूत पीड़ा को दबाये रखता है, अपने त्याग में उसको छिपाये रखता है। इतना सब होते हुए भी उसमें पुरुषत्व का अभाव नहीं है, कुल का अभिमान बना हुआ है। अतः जब वह देखता है कि राजनीति के नाम पर, शान्ति-स्थापन की आड़ में गुप्तकुल की मर्यादा दाँव पर लगायी जा रही है, नारीत्व का अपमान किया जा रहा है तो उसका पुरुषत्व जाग उठता हैं, उसका त्याग उससे विद्रोह-सा करने लगता है। वह क्षुब्ध हो उठता है—'**जिस मर्यादा के लिए, जिस महत्व को स्थिर रखन के लिए, मनें राजदंड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को पद-दलित होना न पड़ेगा।**' पुरुषत्व के साथ स थ उसके ध्रुवस्वामिनी के प्रति जो हृदगत भावनाएँ फूट पड़ती है—'**मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिये भूलने का प्रयत्न किया था कि...।**'

चन्द्रगुप्त के पौरुष को इस प्रकार एक चुनौती मिलती है और उस चुनौती को वह स्वीकार करता है; उस समय यह भूल जाता है कि रामगुप्त उसका भाई है अथवा सम्राट् है। वह रामगुप्त की कायरता का उपहास करता है—'**और आपसे तो वह आत्महत्या भी नहीं करते बनता।**' अमात्य शिखरस्वामी को भी ललकारता है—'**अमात्य तभी तो तुमने व्यवस्था दी है कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय। क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है? ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है जिसमें शील न हो....कापुरुष! आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान...।**'

और वह उस सम्मान की रक्षा के लिए अपने कर्तव्य का निश्चय करता है और सहसा कह उठता है—'**मैं ध्रुवस्वामिनी बन कर अन्य सामन्तकुमारों के साथ शकराज के पास जाऊँगा। यदि मै सफल हुआ तब तो कोई बात नहीं, अन्यथा मेरी मत्यु के बाद तुम लोग जैसा उचित समझना वैसा करना।**'

वह अकेले शक-शिविर में जाना चाहता है, पर शिखरस्वामी और रामगुप्त उसके साथ ध्रुवस्वामिनी को भी भेजना चाहते हैं। वह इसके लिए तैयार नहीं है, किन्तु ध्रुवस्वामिनी उसे विवश करती है अपने साथ ले चलने के लिए—'**कुमार यह मृत्यु और निर्वासन का सुख, तुम अकेले ही लोगे, ऐसा नहीं हो सकता...हम दोनों ही चलेंगे। मत्यु के गह्वर में प्रवेश करते समय मैं भी तुम्हारी ज्योति बन कर बुझ जाने की कामना रखती हूँ और मैं भी**

विनोद, प्रलय का परिहास देख सकूँगी। मेरी सहचरी, तुम्हारा वह ध्रुवस्वामिनी का वेष, ध्रुवस्वामिनी ही न देखे तो किस काम का।'

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी शक-शिविर में जाते हैं। दोनों ही अपने को ध्रुवस्वामिनी बता कर एक-दूसरे की रक्षा का प्रयत्न करते हैं, और उसी बीच चन्द्रगुप्त शकराज को ललकार कर कहता है—**'मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल। मैं अकेला आया हूँ तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने। सावधान!'** दूसरे क्षण शकराज को मौत के घाट उतार देता है।

गुप्तवंश की कुल-मर्यादा तथा नारीके सम्मान की रक्षा के लिए जो अपेक्षित था, उसने किया। उसके आगे उसे कुछ इष्ट नहीं। अवसर का लाभ उठाकर वह रामगुप्त को सिंहासन-च्युत करने का प्रयत्न नहीं करता। वह यही सोचता है—**'मेरा कर्तव्य पूरा हो चुका। अब यहाँ मेरा ठहरना अच्छा नहीं...अब यह राजनीतिक छल-प्रपंच मैं नहीं सह सकता।'** किन्तु जब महादेवी बनने के पहले ध्रुवस्वामिनी के मनोभावों की याद मन्दाकिनी दिलाती है तो चन्द्रगुप्त के मन में एक अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़ा होता है। वह सोचने लगता है—**'विधान की स्याही का एक बिन्दु गिर कर भाग्य लिपि पर कालिमा चढ़ा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है...वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। मेरे हृदय के गहन अन्तस्तल से निकली हुई वह मूक स्वीकृति आज बोल रही है। मैं पुरुष हूँ? नहीं, मैं अपनी आँखों से अपना वैभव और अधिकार दूसरों को अन्याय से छीनते देख रहा हूँ और मेरा वाग्दत्ता पत्नी मेरे ही अनुत्साह से आज मेरी न रही। नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवंचना है। मैं जो हूँ, वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका। यह कैसी विडम्बना है। विनय के आवरण में मेरी कायरता अपने को कब तक छिपा सकेगी?'**

चन्द्रगुप्त के मन का अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहता है और वह कुछ निश्चय नहीं कर पाता। रामगुप्त के आदेश से वह बन्दी कर लिया जाता है, लेकिन वह उसका विरोध नहीं करता। कदाचित उसके मन के संकल्प-विकल्प में विनय ही विजयी होता है। ध्रुवदेवी ललकारती है—**'प्रतिवाद करो, किस अपराध के लिए दंड ग्रहण कर रहे हो...झटक दो इन लौह शृंखलाओं को। यह मिथ्या ढोंग कोई नहीं सहेगा। तुम्हारा क्रुद्ध दुर्दैव भी नहीं।'** फिर भी चन्द्रगुप्त निश्चेष्ट है। उसका अन्तर्द्वन्द्व कर्तव्याकर्तव्य के बीच हो रहा है और किसी निर्णय पर पहुँचते ही देखते ही देखते अचानक वह आवेशमें आता है और लौह शृंखला को तोड़ कर एक दृढ़ता के साथ अपने अधिकार की घोषणा करता है—**'मैं भी आर्य समुद्रगुप्त का पुत्र हूँ। और शिखर स्वामी, तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मैं ही उनके द्वारा निर्वाचित युवराज भी हूँ। तुम्हारा नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से सकुशल बाहर चले जाओ। यहाँ अब मैं ही शकराज के समस्त अधिकारों का स्वामी हूँ।'**

और उसके बाद नाटक का अन्त होता है रामगुप्त की हत्या से।

चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व नाटक के पात्र के रूप में नगण्य है, यह पहले ही कहा जा चुका है, किन्तु उसका जो कुछ भी स्वरूप सामने आया है, वह निखरा हुआ है। उसमें कर्तव्य और अधिकार का सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।

शकराज

शकराज इस नाटक का एक ऐसा पात्र है जिस पर घटनाक्रम का विकास निर्भर करता है और उसके लिए प्रसाद जी ने पूरा एक अंक दिया है। पर उसके जीवन में चढ़ाव-उतार के कोई स्थल नहीं हैं। वह दम्भ और अभिमान का प्रतीक है। वह अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं समझता। नियति पर उसका विश्वास नहीं है। वह सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता का भय मानता है। पुरुषार्थ को ही वह सबका नियम समझता है। वह मानता है कि पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है और वह पुरुषार्थ के भरोसे ही सदा जीवन-मरण के प्रश्न सुलझाने में लगा रहता है। इतना होने पर भी वह युद्ध के लिए उत्सुक नही है। रामगुप्त दिग्विजय करने निकला और उसे युद्ध करने पर विवश होना पड़ा। जहाँ तक शकराज के जीवन का यह पहलू है, उसे हम मनुष्य के वीर भाव का सुन्दर प्रतीक कह सकते हैं, पर उसका यह सुन्दर रूप उसके विलासी और अहं स्वभाव के कारण विकृत बन गया है।

मनुष्य हृदय रखने के कारण वह कोमा से प्रेम करता है। उसे भविष्य में अपनी पत्नी बनानेवाला है, पर अपनी भीषण परिस्थितियों के कारण उसके प्रति अन्यमनस्क रहता है। वह अपनी उलझनों में इतना अधिक फँसा है कि वह उससे प्रेम के दो शब्द भी नही कह सकता। लगता है जैसा उसके प्रेम का सारा स्रोत ही सूख गया हो। '**तुम अभी पाषाण-प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ**।' जैसे कठोर वाक्यों द्वारा कोमा को बुलाता है। कोमा यदि मधुरता लाने का प्रयत्न करती भी है तो उसे उत्तर मिलता है—'**मुझे तो इस समय स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिये**।'

अपने अहंकार के सम्मुख शकराज की दृष्टि में कोमा के प्रेम का कोई महत्व नहीं है। वह कोमा के भावों को न केवल यह कह कर ठुकरा ही देता है कि—'**यह शिक्षा अभी रहने दो, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता**।' और शत्रु को नीचा दिखाने के लिए, राजनीति का प्रतिशोध लेने के लिए ध्रुवस्वामिनी को अपने पति से विच्छिन्न करा कर अपने गर्व को तृप्ति करना चाहता है और जब कोमा उसका विरोध करती है तो न केवल डाट ही देता है कि '**जो विषय समझ में न आवे उस पर विवाद न करो**', वरन् अपनी क्षणिक सफलता में इतना प्रमत्त हो जाता है कि वह भूल बैठता है कि कोमा उसकी भावी पत्नी है।

ध्रुवदेवी के आगमन से उसका मन चंचल होकर कोमा का तिरस्कार करता है, वरन् अपने धर्मगुरु मिहिरदेव को भी बुरा-भला कहने में संकोच नहीं करता। वह नहीं चाहता कि दूसरे उसकी राजनीति में टांग अड़ायें। वह मिहिरदेव से कहता है—'**मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो**।' फिर भी जब मिहिरदेव समझाने की चेष्टा करते हैं तो गरज उठता है—'**बहुत हो चुका। आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते तो मैं यहाँ से चला जाता हूँ**।'

मदान्ध, विलासी और क्रूर शकराज ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त को नारी वेश में देख, उसे भी स्त्री ही समझ कर अपनी रानी बनाने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार वह अपने चरित्र का नग्न रूप प्रस्तुत कर देता है।

व ; पुरुषार्थ की डींग हाँकता है, उसे ही नियामक मानता है; पर हृदय से वह भीरु है। धूम्रकेतु से होनेवाले अमंगल की आशंका मन में उठते ही वह काँप उठता है और तब अपने गुरु को मनाने और उस अमंगल को शान्त करने के लिए कोमा से अनुनय करने लगता है, कोमा से प्रेम की दुहाई देता है। ध्रूमकेतु को देख कर वह व्याकुल हो जाता है और उसी अवस्था में उसकी हत्या होती है।

शिखरस्वामी

शिखरस्वामी, मिहिरदेव और पुरोहित इस नाटक के अन्य पात्र हैं। शिखरस्वामी गुप्तकुल का अमात्य है; किन्तु वह अपने पद के सर्वथा अयोग्य है। उसमें पद-मर्यादा के अनुकूल राजनैतिक गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। वह षड्यन्त्र और कुटिल योजनाएँ प्रस्तुत कर रामगुप्त को अपने हाथ में कठपुतली बनाये रखता है। ऐसा लगता है कि उसमें राजनीतिज्ञता का सर्वथा अभाव है। उससे अधिक राजनीतिक तो रामगुप्त है। रामगुप्त शिखिरस्वामी के छल से राज्य प्राप्त करता है, इसलिए वह उससे दबा है; और शिखरस्वामी में राजनीतिक बुद्धि नहीं है, इसलिये वह अपने पद की महत्ता बनाये रखने के लिए रामगुप्त का उचित-अनुचित सभी बातों का समर्थन करता है और ऊपर से राजनीतिज्ञ होने का दम्भ करता है। राजनीति की दृष्टि से वह महादेवी का शक-शिविर में जाना अच्छा समझता है। उसकी राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है। उसकी दृष्टि में उसके लिए राजा, रानी, कुमार अमात्य सबका विसर्जन किया जा सकता है, किन्तु राज्य का विसर्जन अन्तिम उपाय है। वह एक ओर तो उपदेश देता है कि विनय गुप्तकुल का सर्वोत्तम विधान है और दूसरी ओर स्वयं व्यवस्था देता है महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय।

वह चाटुकार है और समय की गति के साथ अपने को बदल लने का अद्भुत गुण भी उसमें है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त एवं सामन्तकुमारों को रामगुप्त के विरुद्ध बातें करते देख वह डाँटता है - **'चुप रहो, तुम लोग किसके बहकाने से आवेश में आ गये हो।'** चन्द्रगुप्त को भी डाँटता है—**'कुमार, यह क्या हो रहा है?'** और पुरोहित को शास्त्रसम्मत बातें कहते देख धमकी देता है—**'तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।'** किन्तु चन्द्रगुप्त के बन्धन-मुक्त होकर अपना अधिकार जताते ही शिखरस्वामी अपना रुख बदल देता है। शान्त और विनम्र होकर समझौते की बात करने लगता है--**"कुमार, इस कलह को मिटाने के लिए हम लोगों को परिषद् का निर्णय मान्य होना चाहिये।'** वह चन्द्रगुप्त को समझाने का यत्न करता है—**'बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले लग कर गुप्त-कुल का गौरव बढ़ाइये।'** और अन्त में रामगुप्त को जब परिषद् राज्यपद का अनाधिकारी घोषित कर देती है तो रामगुप्त से कहने लगता है--**'परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।'** अवसरवादिता के साथ-साथ शिखर स्वामी को अपनी फिक्र पहले है।

मिहिरदेव

मिहिरदेव कोमा का पोषक पिता और शकराज का धर्मगुरु है। धर्मगुरु के नाते वह शकराज को कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देते हैं और समझाते हैं— **'राजनीति के पीछे नीति**

से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो, परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ा हानि है। शकराज, दो प्यार करने वालों के हृदय के बीच एक स्वर्गीय ज्योति का निवास है।' मिहिरदेव की यह जीवन की अनुभूति और निर्भीकता से रखी गई बातें शकराज को अच्छी नहीं लगतीं तो वह वहाँ से चला जाता है। पोष्यपिता होने के नाते कोमा से उनका नैसर्गिक स्नेह है। उसे दुखी देख कर स्वाभाविकता के साथ उससे पूछते हैं—**'बेटी, तू उदास क्यों है?'** और कारण जान लेने पर शकराजको चेतावनी देते हैं—**'स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा? राजा, स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना, कोमल तंतु को तोड़ने से भी सहज है, परन्तु सावधान हो कर उसका परिणाम सोच लो।'** परन्तु जब वह और उसकी पुत्री कोमा दोनों अपमानित होते है, तो उसे अलग ले जाना चाहते हैं। वह समझते हैं कि प्रताड़णा में बड़ा मोह होता है, उसे छोड़ने का मन नहीं करता। वह कोमा को समझाते हैं: **'छल का बहिरंग सुन्दर होता है, विनीत और आकर्षक भी; पर दुखदायी हृदय को बेधने के लिए इस बन्धन को तोड़ डाल।'** उसके व्यथित हृदय को भुलावा देने के लिए कहते हैं—**'यहाँ तेरी भलाई होती तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे। झरनों के किनारे, दाख के कुंजों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा।'**

मिहिरदेव में धर्मगुरु के उचित स्वरूप और पितृवात्सल्य की एक झाँकी है।

पुरोहित

पुरोहित का सर्जन नाटककार ने नाटक में उपस्थित होने वाली धार्मिक अथवा शास्त्रीय परिस्थितियों की जटिलता सुलझाने के लिए किया है। उसमें मानव व्यक्तित्व उतना नहीं है, जितना अपने पद की मर्यादा का गौरव और कर्तव्य पालन की सजगता। रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के राक्षस विवाह से उत्पन्न परिस्थिति के प्रति ध्रुवस्वामिनी की खीझ उसे वैवाहिक समस्या पर गम्भीरता से विचार करने को विवश करती है और वह निर्भीकता के साथ राजभय की परवाह किये बिना अपना मत व्यक्त करता है—**'स्त्री और पुरुष का परस्पर, विश्वासपूर्वक अधिकार रक्षा और सहयोग ही विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।'** और वह शास्त्र के सहारे रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के विवाह का खेल सिद्ध करने में सफल होता है। वह कहता है—**'विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पददलित नहीं किया जा सकता। माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से टूट नहीं सकते, परन्तु यह सम्बन्ध उन नियमों से भी विहीन है। और भी यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं, पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त**

को ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं... धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष की आज्ञा देता है।'

मोक्ष सिद्ध करने के निमित्त ही इस पात्र को सामने रखा गया है। मोक्ष यद्यपि हमारे देश के लिए नवीन नहीं, पर समय के साथ वह भुला दिया गया है। अब समय की माँग को उचित बताने के लिए प्रसाद जी ने शास्त्रसम्मत सामग्री इस पात्र के माध्यम से प्रस्तुत की है। इस पात्र के पीछे प्रसाद जी का व्यक्तित्व समय के साथ बोल रहा है।

—:०:—

में और दूसरा भारत-कला-भवन में है। इन दोनों सिक्कों पर अक्षर स्पष्ट है, जिनके देखने से ब्रिटिश संग्रहालय वाले सिक्के के सम्बन्ध में सन्देह नही रह जाता कि वह सिक्का पुर का नही वरन बुध का ही है। अतः पुर के शासक होने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही पुरुगुप्त के उत्तराधिकारी शासक हुए।

कुमारगुप्त

इस प्रकार कथानक का जो रूप प्रसाद जी ने दिया है उसके लिए आज कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक आधार नही है। इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य तत्वों में भी ऐतिहासिकता का अभाव है। प्रसाद जी ने नाटक मे कुमारगुप्त को विलासी चित्रित किया है। यदि हम प्रसाद जी के कथानक के अनुसार कुमारगुप्त को अनन्तदेवी के हाथ का खिलौना मान लें, वह भी इस नाते कि वह छोटी रानी थी, तो हमें यह मानना होगा कि वह उसके साथ में उस दिन से रहा होगा जिस दिन वह विवाहित होकर आयी होगी। जिस समय की घटना का अकन है, उस समय पुरगुप्त इतना वयस्क तो हो ही गया था कि वह राज्यभार ग्रहण कर सके अर्थात् उसकी अवस्था कम से कम बीस-पचीस के बीच रही होगी। हम जानते हैं कि प्रथम कुमारगुप्त ने लगभग ४२ वर्ष तक शासन किया था। इसका अर्थ यह है कि उसके शासन काल का आधा समय विलासिता मे ही बीता होगा। यदि ऐसा होता तो निश्चय ही उसके विलासी जीवन के कारण पहले ही शासन-व्यवस्था में बहुत कुछ अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी होती। पर उसने अपने पूर्वजों से प्राप्त साम्राज्य को आजीवन अक्षुण्ण रखा। यही नही उसने अपने जीवन में कमसे कम दो अश्वमेध यज्ञ किये (उसके दो भांति के अश्वमेध के सिक्के पाये जाते है)। उसके आखेट के अनेक भांति के सिक्के भी पाये जाते हैं। उसके पिता चन्द्रगुप्त ने केवल सिह के आखेट के कई भांति के सिक्के जारी किये थे। किन्तु हम कुमारगुप्त को न केवल सिंह और व्याघ्र का आखेट करता पाते है वरन् वह गैंडे का भी शिकार किया करता था। वह सिह का शिकार न केवल धनुष-बाण से करता था वरन् हाथी पर सवार होकर भी वह शिकार खेलता था। उसके नग्न मांसल शरीर के जो चित्र सिक्को पर अंकित है वे उसके विलासी चरित्र को नही, वरन् स्फूर्ति से भरे हुए जीवन को व्यक्त करते है। अतः उसे विलासी कहना उसके प्रति अन्याय होगा।

गोविन्दगुप्त

प्रसादजी ने नाटक में यह बताने की चेष्टा की है कि गोविन्दगुप्त अपने भाई से रूठ कर चला गया था। गोविन्दगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त दोनों सगे भाई थे और ध्रुवस्वामिनी के पुत्र थे। इन दोनो में गोविन्दगुप्त ज्येष्ठ था यह बात ध्रुवस्वामिनी की उस मुहर से ज्ञात होती है, जो बसाढ़ (वैशाली) की खुदाई में मिली थी। उस पर ध्रुवस्वामिनी ने अपने को चन्द्रगुप्त की पत्नी तथा गोविन्दगुप्त की माता अंकित किया है। यह स्पष्ट है कि मुहर उस समय की है जब चन्द्रगुप्त जीवित था। यदि वह मुहर उस समय बनी होती जब कुमारगुप्त शासनारूढ हो चुका था तो निःसन्देह ध्रुवस्वामिनी अपने को राजमाता कहने मे गौरव मानती और उस अवस्था मे अपने को कुमारगुप्त की माता कहना अधिक श्रेयस्कर समझती। यदि वह मुहर कुमारगुप्त के युवराजकाल की

होती तो भी ध्रुवस्वामिनी के लिए कुमारगुप्त का ही नाम देना अधिक महत्व रखता। अतः स्पष्ट है कि कुमारगुप्त या तो उस समय तक जन्मा ही नहीं था या वह युवराज नहीं था। ज्येष्ठपुत्रके रूप में गोविन्दगुप्त ही उसके सामने था। ज्येष्ठ होने के नाते कल्पना की जा सकती है कि वह राज्यका उत्तराधिकारी भी था। किन्तु चन्द्रगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त की ही प्रशस्तियाँ मिलती हैं, इसलिए यह अनुमान किया जाता रहा है कि गोविन्दगुप्त ने शासनभार ग्रहण नहीं किया। मालव संवत् ५२४ का एक लेख मन्दसौर में प्राप्त हुआ है, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय, गोविन्दगुप्त तथा प्रभाकर नामक एक शासक और उसके सेनापति दत्तभट्ट का नाम है। जिस समय यह लेख ज्ञात हुआ उस समय उसके अभिलेख का पूर्ण उद्धार नहीं किया जा सका था। फलतः अपूर्ण पाठ के आधार पर राखालदास बन्द्योपाध्याय ने अनुमान किया था कि गोविन्दगुप्त अपने भाई के समय में मालवा का उपरिक था और कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र हो गया। इसी आधार पर गोविन्दगुप्त के भाई से रूठ कर चले जाने की कल्पना प्रसादजी ने उपस्थित की है। पर इस शिलालेख के सम्पूर्ण अभिलेख के अध्ययन से अब इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त के सेनापति वायुरक्षित के पुत्र दत्तभट्ट ने उक्त लेख को उत्कीर्ण कराया था और उस समय (अर्थात् संवत् ५२४ से पूर्व) गोविन्दगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी। इस प्रकार निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गोविन्दगुप्त स्कन्दगुप्त के समय तक जीवित थे। यदि जीवित भी रहे हों, जिसकी सम्भावना नहीं है, तो भी वे मालव के उपरिक अथवा स्वतन्त्र शासक न रहे होंगे। मालव के संवत् ४६१ से ४८० तक वर्मनवंश के करद राजाओं के अधीन होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस काल में विश्ववर्मन और नरवर्मन वहाँ शासन करते थे। संवत् ४९३ मालव संवत् के एक लेख में कुमारगुप्त का शासन चतुर्दिक समुद्र तक विस्तृत बतलाया गया है। फिर स्कन्दगुप्त का स्वतः शासन पश्चिमी भारत में काठियावाड़ तक विस्तृत था, यह 'गिरनार लेख' से स्पष्ट है। इस प्रकार गोविन्दगुप्त के लिए उपरिक होने अथवा विद्रोह कर स्वतन्त्र शासन करने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। मन्दसौर वाले शिलालेख में उनके लिए जो प्रशस्ति वाक्य है वह किसी सम्राट् के लिए ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं। अधिक सम्भावना इस बात की है कि गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त के बाद राज्यारूढ़ हुए पर अधिक समय तक राज्य करने के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार गोविन्दगुप्त के स्कन्दगुप्त के शासनकाल में उपस्थित किये जाने का कोई आधार नहीं है।

अन्य पात्र

प्रसादजी ने अपने इस नाटक में पर्णदत्त, चक्रपालित, बन्धुवर्मन, भीमवर्मन, मातृगुप्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन आदि नाम कुछ पात्रों के दिये हैं। ये नाम ऐतिहासिक अवश्य हैं पर वे जिस रूप में प्रस्तुत किये गये हैं उनका ऐतिहासिक अस्तित्व सन्दिग्ध है। गिरनार शिलालेख के अनुसार **पर्णदत्त** सुराष्ट्र का उपरिक और चक्रपालित गिरिनार का शासक था। पर्णदत्त को मगध में महानायक के रूप में उपस्थित करना इतिहास के विरुद्ध जाता है। जिस शिलालेख में इन लोगों का नाम है वह स्कन्दगुप्त के शासनकाल के आरम्भ का ही है। उस समय पर्णदत्त जीवित भी था या नहीं, सन्दिग्ध है।

द्वितीय अंक में भी इस प्रकार के **सहसा** की कमी नहीं है। अवन्ती के दुर्ग में बन्धुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला के बीच देवसेना **सहसा** ही आ जाती है और आते ही बकने लगती है, मानो किसी कोने में छिपी हुई वह बात सुन रही हो और उत्तर देने को प्रस्तुत हो। अगले दृश्य में मातृगुप्त, मुद्गल और गोविन्दगुप्त का पथ में **सहसा** ही आगमन होता है। इस प्रकार के अन्य अनेक **सहसा** की चर्चा अनपेक्षित है।

चमत्कार का दूसरा उदाहरण इस नाटक में हम उस स्थल पर पाते हैं, जहाँ विजया के शव के लिए भूमि खोदते हुए भटार्क को रत्नगृह मिलता है।

स्वगत

प्रसाद जी का स्वगत के प्रति भी कम मोह नहीं है, यद्यपि स्वगत के दोषो से वे अपरिचित नहीं हैं। स्वयं उन्होंने **विशाख** में उसका मजाक भी उड़ाया है। इस नाटक में अपेक्षाकृत स्वगत कम है तथापि विजया, देवसेना, भटार्क, मुद्गल आदि से अनेक स्थलों पर स्वगत वचन कहलाये हैं। थोड़े ही श्रम से इन स्वगतों से मुक्ति मिल सकती थी। इनमें कोई भी ऐसा स्वगत नहीं है जो मानसिक संघर्ष को व्यक्त करता हो और जिसके अव्यक्त रहने पर कथावस्तु के विकास में बाधा पड़ती हो। ये स्वगत कहीं-कहीं काफी लम्बे और भाषण के समान हैं।

गीत

गीतों के प्रति भी प्रसाद जी ने समय का ध्यान नहीं रखा है। अनेक गीत काफी लम्बे हैं। रणक्षेत्र के प्रयाण गीत प्रायः अत्यन्त छोटे हुआ करते हैं, किन्तु रणक्षेत्र में मातृगुप्त का गान बहुत ही लम्बा-चौड़ा है और खटकनेवाला है। इसी प्रकार पंचम अंक के द्वितीय दृश्य का विजया का गीत भी खटकता है।

समस्याएँ

कथावस्तु की दृष्टि से नाटक तीन स्वतन्त्र समस्याओं को लेकर खड़ा किया गया है। ये समस्याएँ स्कन्दगुप्त के सम्मुख विदेशी आक्रमण, गृह-कलह और प्रेम के अन्तर्द्वन्द्व की हैं। इनमें प्रथम दो समस्याएँ ऐतिहासिक हैं और तीसरी नाटककार की कल्पना प्रसूत। नाटककारों और कथाकारों की यह धारणा रही है कि बिना रोमांस (प्रेम-चर्चा) के कथा सजीव नहीं हो सकती अथवा रोमांसविहीन कथानक का कोई महत्त्व नहीं है। सम्भवतः इसीलिए नाटककार ने यह आवश्यक समझा कि स्कन्दगुप्त के जीवन को लेकर इसकी भी चर्चा की जाय। इस कार्य में वे कितने सफल हुए हैं इसका विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि यदि रोमांस के इस अंश को नाटक से अलग कर दिया जाय तो भी नाटक के मूल कथानक पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता और न स्कन्दगुप्त के चरित्र के निखार में ही किसी प्रकार की कमी आती है, वरन् स्कन्दगुप्त के अस्त यस्त जीवन में इस प्रकार की चर्चा, एक प्रकार से उसके जीवन का उपहास करती सी जान पड़ती है।

नाटक में उपस्थित की गयी इन तीन समस्याओं की दृष्टि से यदि कथावस्तु का विश्लेषण किया जाय तो उसे हम अलग-अलग इस प्रकार रख सकते हैं।

विदेशी आक्रमण

गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध पुष्यमित्रों के आक्रमण को रोकने में प्रयत्नशील स्कन्दगुप्त नाटक में हमारे सामने आता है और उनके पराजित करने में वह सफल होता है। पुष्यमित्र विजय का अन्तिम प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते हैं और नासीर के सेनानायक की ओर से सहायता की माँग आती है। दशपुर से भी दूत आता है और सूचना मिलती है कि महाराज विश्ववर्मा का निधन हो गया। शक-राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है। नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र पदाक्रान्त हो चुका है और पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित नहीं हैं। बर्बर हूणों से वलभी का बचना भी कठिन है। इन समस्याओं के बीच घिरा हुआ स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा का निश्चय करता है और चक्रपालित को आदेश देता है **'पुष्यमित्र युद्ध में विजयी होने के बाद मालव में आकर मिलो'**। मालव पर शक और हूणों की सेना आक्रमण करती है और स्कन्दगुप्त समय पर पहुँच कर शत्रुओं को पराजित कर देता है। आगे, गान्धार की घाटी के रणक्षेत्र में स्कन्दगुप्त हूणों को पराजित करने के लिए प्रस्तुत है। चर आकर उसे सूचना देता है कि **'हूण शीघ्र ही नदी के पार होकर प्रतीक्षा कर रहे हैं और यदि आक्रमण न हुआ तो वे स्वयं आक्रमण करेंगे**। कुभा के रणक्षेत्र में मगध की सेना का हूणों से सन्धि होने के कारण परिस्थिति कुछ कठिन-सी है। गान्धार के क्षेत्र में हूणों का आक्रमण होता है और महाराज बन्धुवर्मा मारे जाते हैं। कुभा के रणक्षेत्र में स्कन्दगुप्त भटार्क को आदेश देता है और विश्वास के प्रमाणस्वरूप कहता है कि--**'यदि शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो उसे काट देना**।' युद्ध में हूण पराजित होते हैं और कुभा के उस पार उतर जाना चाहते हैं और मगध सेना कुछ नहीं करती। भटार्क बांध तोड़ देता है और कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है और सब लोग बहते दिखाई देते हैं। युद्ध की इस असफलता के बाद तक्षशिला में कनिष्क-स्तूप के आस-पास स्कन्दगुप्त विचित्र अवस्था में घूमता हुआ दिखाई देता है। यहीं परिस्थितिवश बिखरे हुए साथी एकत्र होते हैं और हूण सेना के साथ युद्ध होता है और वे पराजित होते हैं। बस इतना ही।

विदेशी आक्रमण द्वारा गुप्त साम्राज्य पर आयी हुई विपत्ति का चित्रण कुल मिला कर छः दृश्यों में किया गया है। ये दृश्य हैं : प्रथम अंक में प्रथम और सप्तम दृश्य, तृतीय अंक में पाँचवाँ और छठा दृश्य, चतुर्थ अंक में दृश्य सात और पंचम अंक में दृश्य पाँच।

कथावस्तु के इस भाग की सारी घटनाएँ स्कन्दगुप्त में केन्द्रित हैं, किन्तु नाटक में कहीं भी स्कन्दगुप्त में वह सक्रियता नहीं दिखाई पड़ती, जो विदेशियों को देश से बाहर करने के लिए अपेक्षित है। पुष्यमित्रों से युद्ध का हमें संकेतमात्र मिलता है। उसमें स्कन्दगुप्त का क्या हाथ रहा, यह हमें ज्ञात नहीं होता। उनके साथ हुए अन्तिम युद्ध को वह स्वयं नहीं करता वरन् चक्रपालित पर छोड़ कर मालव चला जाता है। वहाँ उसे हम युद्ध में निस्सन्देह विजयी होते देखते हैं, किन्तु उसके पश्चात् गान्धार और कुभा के युद्ध में हम स्कन्दगुप्त को निष्क्रिय ही पाते हैं। गान्धार के रणक्षेत्र में बन्धुवर्मा की प्रधानता है। कुभा के रणक्षेत्र में स्कन्दगुप्त कुछ दिखाई पड़ता है पर वहाँ भी वह भटार्क पर निर्भर करता है और उसके विश्वासघात के फलस्वरूप उसकी विजय पराजय का रूप ले लेती है। इस पराजय के बाद भी स्कन्दगुप्त का अकर्मण्य रूप ही सामने आता है। वह स्वयं सेना संगठन

का प्रयत्न नहीं करता, देवसेना द्वारा दी गयी ललकार ही उसे चेतन बनाती है। देवसेना ही उसके सब साथियों को एकत्र करती है और तब स्कन्दगुप्त हूणों से युद्ध करता है। इस प्रकार नाटक में स्कन्दगुप्त के सम्मुख प्रस्तुत तीन समस्याओं में प्रथम समस्या के निराकरण में स्कन्दगुप्त निष्क्रिय है। यदि चेतना कुछ हो भी तो वह दिखाई नहीं देती।

गृह-कलह

अब यदि कथावस्तु के दूसरे भाग को देखें तो यह अंश उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता हुआ भी उसके निकट नहीं जान पड़ता। ऐसा लगता है कि वह एकदम स्वतन्त्र हो। कम से कम स्कन्दगुप्त तो उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने में सहायक नहीं है। कथावस्तु के इस भाग में स्कन्दगुप्त वस्तुतः बहुत कम ही आया है, जहाँ आया भी है वहाँ उसकी उपस्थिति दोनों घटनाओं को एक सूत्र में आबद्ध करने में सहायक नहीं होती। दोनों को बाँधने वाला पात्र वस्तुतः भटार्क है।

कथावस्तु की दूसरी समस्या का सम्बन्ध अनन्तदेवी के उस कुचक्र से है जो वह अपने बेटे पुरगुप्त को, स्कन्दगुप्त के विरुद्ध, राज्य दिलाने के निमित्त करती है। इसका आभास यद्यपि प्रथम दृश्य में मिलता है किन्तु वह प्रकट जाकर चतुर्थ दृश्य में होता है। जया और अनन्तदेवी की बातचीत से आभास मिलता है कि अनन्तदेवी कुछ ऐसा कार्य करने जा रही है जो असाधारण है। वह अपने **नियति के पथ पर अपने आप चलना चाहती है**। वह अपनी सपत्नी देवकीके प्रभाव को उग्रता के साथ बढ़ते हुए देख कर अपने पुत्र पुरगुप्त के प्रति सशंक हो उठती है। वह समझती है कि **सम्राट् की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं**। वह भटार्क को भावी का संकेत इस प्रकार देती है—**'राजधानी में आनन्द विलास हो रहा है और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है। इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी। आज तुम कालागुरु के गन्धधूम्र से सन्तुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च शौर्य मन्दिरोंमें महापिशाची की विप्लव ज्वाला धधकेगी। उस चिर्यायंध की उत्कट गन्ध असह्य होगी।'**

अनन्तदेवी का सहायक प्रपंचबुद्धि है और वह उसकी सहायता से भाद्र की अमावस्या को कुछ कार्य करने का निश्चय करती है और भटार्क भी उसमें सहायक होने को प्रतिश्रुत होता है। अगले दृश्य में प्रकट होता है कि महादेवी देवकी के प्राण संकट में हैं और परमभट्टारक महाराज कुमारगुप्त का निधन हो गया है, किन्तु भटार्क आदि इस बात को प्रकट होने देना नहीं चाहते। कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महादंडनायक और महाप्रतिहार कुमारगुप्त को देखने भीतर जाना चाहते हैं किन्तु भटार्क द्वारा नियुक्त नायक उन्हें जाने से रोकता है। वे तीनों नायक के विरुद्ध खड्गहस्त होते हैं। इतने में पुरगुप्त और भटार्क आते हैं। भटार्क अभिवादन करता हुआ कहता है—**'परमभट्टारक महाराजाधिराज पुरगुप्त की जय हो! माननीय कुमारामात्य, महादंडनायक और महाप्रतिहार साम्राज्यके नियमानुसार शस्त्र अर्पण करके परमभट्टारक का अभिनन्दन कीजिए।'** तीनों अवाक् हो जाते हैं। जब उन्हें पता लगता है कि महाराज कुमारगुप्त गत हो गये, तो वे उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त की बात करते हैं। इस पर पुरगुप्त उन्हें डाँट देता है—**'तुम लोगों को बैठ कर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय**

सम्राट् कर गये हैं।' प्रमाण मांगने पर पुरगुप्त उन्हें विद्रोही कह कर गिरफ्तार करने का आदेश देता है, किन्तु वे तीनों बन्दी होने से पूर्व आत्महत्या कर लेते हैं।

इसके बाद हम मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग को महादेवी देवकी की हत्याके षड्यन्त्रमें लगे देखते हैं। प्रपंचबुद्धि का कहना है कि महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की सम्भावना है। उन्हें संसार से हटना होगा। शर्वनाग महादेवी की हत्या करने से इनकार करता है किन्तु तर्क द्वारा प्रपंचबुद्धि उसे हत्या करने पर सहमत कर लेता है। शर्वनाग मदिरोन्मत्त होकर देवकी के राजमन्दिर में जाता है। वहाँ उसकी पत्नी रामा उसे मिलती है और रामा को शर्वनाग का उद्देश्य ज्ञात हो जाता है। वह उसे समझाती और मना करती है। अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क आकर शर्वनाग को प्रोत्साहित करते हैं, पदवृद्धि और पुरस्कार का प्रलोभन देते हैं। बन्दीगृह में देवकी के पास अनन्त-देवी के साथ भटार्क आदि जाते हैं और उसकी हत्या की तैयारी करते हैं। रामा छुरी निकाल कर रोकती है और शर्वनाग खड्ग उठा कर देवकी को मारना चाहता है। इतने में सहसा स्कन्द भीतर घुस आता है और सर्वनाग से तलवार छीन लेता है। भटार्क से द्वन्द्व युद्ध होता है, भटार्क घायल होता है। स्कन्दगुप्त अनन्त देवी को क्षमा कर देता है और कहता है--**'कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो.... विद्रोह की इच्छा न करना।'** इस प्रकार षड्यन्त्र असफल रहता है।

मालव में स्कन्दगुप्त का अभिषेक होनेवाला है। उस अवसर पर भटार्क पुनः कुछ प्रपंच करना चाहता है। यह बात उसकी माँ कमला को मालूम हो जाती है और वह उसे दंडनायक को समर्पित कर देना चाहती है। उसी समय गोविन्दगुप्त आ जाता है। भटार्क तलवार निकालता है, किन्तु गोविन्दगुप्त उसे छीन लेता है और वह बन्दी कर लिया जाता है। स्कन्दगुप्त के सम्मुख उपस्थित किये जाने पर उसे क्षमा मिल जाती है।

प्रपंचबुद्धि अपनी असफलताओं से दुःखी है। उसी समय भटार्क उसके पास आता है और प्रपंचबुद्धि उसको पुनः उत्तेजित करता है--'**शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये न कि उसके उपकारों का स्मरण।'** वह पुनः नये कुचक्र के लिए तत्पर हो जाता है और भटार्क को हम एक बार फिर कुचक्र में रत देखते हैं। अपने षड्यन्त्रों में असफल होकर वह विदेशी हूणों की सहायता से स्कन्दगुप्त को पराजित करने की चेष्टा करता है। हूणदूत को यह विश्वास दिलाता है कि **वह मगध सेना के साथ नगरहार के गिरिव्रज के युद्ध में हूणों को अपने विश्वास का परिचय देगा** और हम देखते हैं कि कुभा के रणक्षेत्र में भटार्क बाँध तोड़ देता है और स्कन्दगुप्त की सेना बह जाती है। इस प्रकार भटार्क अपने कुचक्र में सफल होता है।

भटार्क को उसकी माँ तिरस्कृत करती है और भटार्क अपनी सफाई देता है— **साम्राज्य के विरुद्ध अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहसान पर बैठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा।** अन्त में अपनी माँ की भर्त्सना पाकर वह शस्त्र त्याग करने का निश्चय करता है और संघर्ष से अलग हो जाता है। स्कन्दगुप्त के सम्मुख जाकर विजया को आत्महत्या करते देख भटार्क भी आत्महत्या करना चाहता है, किन्तु स्कन्दगुप्त उसे रोकता है और जन्मभूमि के लिए

प्राण देने को प्रोत्साहित करता है। उसे विश्वास दिलाता है—'**तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहसान देकर मैं वाणप्रस्थ ग्रहण करूँगा**' और भटार्क उसके साथ हो जाता है।

अनन्त देवी हूणों के साथ मिल कर अब भी स्कन्दगुप्त को नष्ट करने की चेष्टा करती है। हूण सैनिकों को बौद्ध जनता से जो सहायता मिलती थी उसके बन्द हो जाने से हूण सेनापति क्षुब्ध है और उस क्षोभ के साथ अनन्त देवी का क्रोध भी मिला हुआ है। बौद्ध श्रमण प्रख्यातकीर्ति की हत्या का प्रयत्न जिस समय हूण सेनापति करता है, उसी समय धातुसेन उन सब को बन्दी कर लेता है। वे स्कन्दगुप्त के सम्मुख लाये जाते हैं और अनन्तदेवी स्कन्दगुप्त से क्षमा चाहती है। स्कन्दगुप्त उसे क्षमा कर देता है और पुरगुप्त को युवराज बना देता है।

इस प्रकार नाटक का अधिकांश भाग, इस दूसरी समस्या गृह-कलह के दृश्य उपस्थित करने में लगाया गया है। जहाँ अनन्त देवी अपने बेटे पुरगुप्त को राजा बनाने के निमित्त स्कन्दगुप्त के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में सतत प्रयत्नशील है, वहीं हमें स्कन्दगुप्त उसके प्रतिकार के लिए तनिक भी सचेष्ट नहीं दिखाई देता। वह राज्याधिकारों के प्रति उदासीन है, राज्य के प्रति उसका मोह नहीं जान पड़ता। हाँ, षड्यन्त्रों के उत्कर्ष के समय हम उसे असफल करने के लिए सहसा मगध में उपस्थित होते अवश्य देख लेते हैं, किन्तु वहाँ भी उसकी निष्क्रियता ही अधिक टपकती है। वह षड्यन्त्रकारियों को सदैव क्षमा कर देता है। षड्यन्त्र रोकने का तनिक भी प्रयास नहीं करता। यही नहीं, विद्रोही भटार्क की प्रतिज्ञा रक्षा को अधिक महत्व देता है। इस नाटक में घात के होते हुए भी प्रतिघात का सर्वथा अभाव है, जिसके कारण नाटक निर्जीव-सा लगता है और जान पड़ता है सारा कार्य यन्त्र-चालित रूप में एकांगी हो रहा है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न उठता है—यह कुचक्र क्यों और किसके विरुद्ध है?

प्रेम

• नाटक की तीसरी समस्या प्रेम की है। स्कन्दगुप्त को केन्द्रविन्दु मान कर विजया और देवसेना की उसके प्रति प्रेम की कल्पना कर एक स्वतन्त्र कथा वस्तु का सर्जन किया गया है और नाटक के मूल कथानक के साथ-साथ जोड़ दिया गया है।

स्कन्दगुप्त मालव की सहायता के लिए जाता है। युद्धस्थल में शत्रु पराजित होने की अवस्था में, जब वीरता का प्रस्फुरण अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ता है, हम विजया को स्कन्दगुप्त के प्रति आकृष्ट होते देखते हैं और स्कन्दगुप्त भी उसके प्रति आकृष्ट होता है। यद्यपि स्पष्टतः शृंगार हमारे सामने नहीं आता किन्तु उस रस का आभास तो मिलता ही है। स्कन्दगुप्त को देखकर विजया के मुख से निकल पड़ता है—'**अहा, कैसी भयानक और सुन्दर मूर्त्ति है!**' और स्कन्दगुप्त विजया को देखकर पूछ बैठता है '**यह...यह कौन**?'

इस प्रेमाभास को हम दूसरे अंक में विकसित होते देखते हैं। विजया और देवसेना की बातचीत से विजया के मुँह से सुन पड़ता है—'**मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना न पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ। परन्तु उसको मैं कुछ राजकीय**

प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ।' देवसेना कहती है—'**यह टालने से, बहला देने से नहीं हो सकता। तुम भाग्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे।'**

स्कन्दगुप्त को राज्य के प्रति उदासीन देखकर विजया के मन पर प्रतिक्रिया होती है।

विजया—**यह क्या राजकुमारी, युवराज तो उदासीन हैं।**

देवसेना—**हाँ विजया, युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।**

विजया—**दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।**

देवसेना—**कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्व का पर्दा तो नहीं हट रहा है। क्यों विजया वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?**

विजया—**राजकमारी तुम तो निर्दय वाक्य बाणों का प्रयोग कर रही हो।**

देवसेना—**नहीं, विजया, बात ऐसी है। धनवानों के हाथ में माप ही एक है। वह विद्या, बल, पवित्रता और तो क्या हृदय भी उसी से मापते हैं। वह माप है उनका ऐश्वर्य।**

विजया—**परन्तु राजकुमारी इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है ? हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है।**

देवसेना—**और सबसे अच्छी एक बात है, तुम समझती हो कि वह महत्वाकांक्षी है, उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो, क्यों ?**

इस वार्तालाप से विजया के प्रेम के स्वरूप का कुछ बोध होता ही है, साथ ही बातचीत के क्रम में इस बात का भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि देवसेना भी स्कन्दगुप्त के प्रति अनुरक्त है। विजया से देवसेना का स्कन्दगुप्त के प्रति अनुराग छिपा नहीं है और जब मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को भेंट करने की बात बन्धुवर्मा और जयमाला तय कर लेते हैं तो विजया समझती है कि उपकारों के बोझ को लाद कर स्कन्दगुप्त को देवसेना के लिए उससे छीना जा रहा है और उसमें द्वेषबुद्धि जागरित हो जाती है और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो वह भटार्क का वरण कर लेती है। जब भटार्क और विजया बन्दीरूप में स्कन्दगुप्त के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं और विजया भटार्क के वरण की बात कहती है तो स्कन्दगुप्त के मुंह से निकल पड़ता है —'**विजया तुमने यह क्या किया ?'** देवसेना अनुभव करती है कि **जिसकी मुझे आशंका थी, वह है। विजया आज तू हार कर जीत गयी।'** अर्थात् देवसेना पर स्कन्दगुप्त का विजया के प्रति अनुराग प्रकट हो जाता है और देवसेना विजया की जल्दबाजी पर खेद प्रकट करती है। सोचती है—**प्रतिहिंसा मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है !**

देवसेना की जब क्षिप्रातट पर विजया से भेंट होती है तो विजया की प्रतिहिंसा भावना अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है। देवसेना अपनी स्थिति स्पष्ट करना चाहती है—'**मैंने तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।'** विजया भी अपने मन की भावनाओं को स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर देती है—'**उपकारों के ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया।'** किन्तु देवसेना समझाना चाहती है कि वह **मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती।'** इस प्रकार स्कन्दगुप्त के प्रति नारी की दो भिन्न भावनाएँ सामने आती हैं।

देवसेना स्कन्दगुप्त को चाहती तो अवश्य है किन्तु उसके मन में वेदना है--'**प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का व्याह किया जा रहा है ।**' वह अपने प्रेम को अपने हृदय तक ही रखना चाहती है--'**मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है । नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता कचोटने का सुख मिलता है । जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ, उसीमें सब छिप जाता है ।**' स्कन्दगुप्त के मन में भी देवसेना के प्रति अनुराग है । कमला की कुटी के पास हूणत्रस्त देवसेना के शब्द सुन कर उसका हृदय व्याकुल हो उठता है और देवसेना से भेंट होने पर अपने मनोभाव स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर देता है--'**देवसेना, चलो महादेवी के समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों हम तुम अब अलग न होंगे । साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना महत्व तुम्हें अर्पित करके उच्च होऊँगा और एकान्तवास करूँगा ।**' किन्तु देवसेना उसे स्वीकार नहीं करती । यह बताये जाने पर कि वैसी बन्धुवर्मा की इच्छा थी, देवसेना स्पष्ट शब्दों में कह देती है--'**उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे । अब प्रतिदान लेकर उस महत्व को कलंकित न करूँगी ।**' स्कन्द अनुनय करता है--'**एकान्त में किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा । साम्राज्य की इच्छा नहीं । एक बार कह दो ।**'

देवसेना--'**तब तो और भी नहीं....आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीती न रहेगी । सम्राट् क्षमा हो, इस हृदय में....आह कहना ही पड़ा । स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये । उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिए । नाथ मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।**'

स्कन्दगुप्त--'**तुम्हारी विजय हुई । आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मै कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा ।**'

अन्त में स्कन्दगुप्त और देवसेना सदैव के लिए विलग हो जाते हैं ।

देवसेना के समान विजया भी स्कन्दगुप्त के सामने आती है, पर देवसेना से भिन्न स्वरूप लेकर । वह कहती है--'**तुम्हारे लिए मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है ।**' फिर भी आत्मसमर्पण नहीं करती । वह प्रलोभन द्वारा अपनाना चाहती है ।--'**दो रत्नगृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र कर के तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो ।**' किन्तु स्कन्दगुप्त उसके प्रलोभन में नहीं आता । विजया अनेक प्रकार से लुभाने का यत्न करती है और अन्ततोगत्वा यह ज्ञात होने पर कि स्कन्दगुप्त ने कौमार्यव्रत की प्रतिज्ञा की है, निराश होकर आत्महत्या कर लेती है ।

नाटक के भीतर इस प्रेमकथा का कथानक की दृष्टि से स्थान गौण है, उसका सर्जन केवल स्कन्दगुप्त के चरित्र के विकास के निमित्त किया गया है, इसलिए यह अंश नाटक में बहुत थोड़ा ही है । किन्तु जितना भी है, वह बहुत सुन्दर है और सफलता पूर्वक उसका निर्वाह किया गया है । नाटक के मूल कथानक के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होते हुए भी, निस्संकोच कहा जा सकता है कि यही अंश इस नाटक का प्राण है । यदि वह न होता तो नाटक निर्जीव-सा रह जाता । यदि प्रसाद जी ने देवसेना और विजया के चरित्र को

लेकर एक स्वतन्त्र नाटक की रचना की होती तो वे कदाचित् अधिक सफल नाटक का निर्माण कर सकते, ऐसा सोचना अनुचित न होगा।

हमने प्रसाद जी के नाटकों की विवेचना करते हुए पिछले पृष्ठों में इस बात की अनेक बार याद दिलायी है कि ऐतिहासिक नाटक लिखने के पीछे प्रसाद जी का एक निश्चित उद्देश्य था। वे अतीत की घटनाओं की याद दिला कर हमारे सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे और उससे लोगों को वर्तमान गिरी दशा से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करना उन्हें अभीष्ट था। जब उनके इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर इस नाटक पर दृष्टि डालते हैं तो हमें घोर निराशा होती है। समूचे नाटक में हमें ऐसी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती जिसको हम आदर्श रूप में ग्रहण कर सकें अथवा जिससे हमें अपने जीवन में किसी प्रकार की प्रेरणा मिल सके। इस नाटक में जो चित्र उपस्थित किया गया है उसमें जीवन का अपकर्ष ही दिखाई पड़ता है, जो आज से भिन्न नहीं है। एक ओर देश पर हूणों का आक्रमण हो रहा है, दूसरी ओर राज्यके प्रमुख लोग कुचक्र और षड्यन्त्रमें लगे हैं। स्कन्दगुप्त जिससे आशा की जाती है कि वह इनके उन्मूलन में सक्रिय होकर हमें चेतना का उद्बोधन करायेगा, उसे हम राज्य के प्रति उदासीन ही पाते हैं। उसकी दार्शनिकता हमें कर्मक्षेत्र की ओर अग्रसर करने की अपेक्षा पीछे घसीटती हुई जान पड़ती है। हमें अतीत के इस चित्र से कोई स्फुरण प्राप्त नहीं होता। हाँ, यह कहा जा सकता है कि इस कथानक में उन्होंने हमारी सामयिक समस्याओं को चित्रित कि [illegible] है। प[illegible] तब उसके लिए अतीत के किसी चित्र की आवश्यकता न थी।

नाटक में निहित सामयिक तत्व को यदि देखा जाय तो कहा जा सकता है कि यह नाटक देश की उस अवस्था को व्यक्त करता है जब हमारे देश पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे और देश के भीतर पारस्परिक कलह का बोलबाला होता जा रहा था। और तब हम यह समझ सकते हैं कि उस काल की अवस्था आज से कुछ भिन्न न थी। अन्तर केवल इतना ही है कि उस समय देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ नहीं था, वरन् जकड़ने का प्रयास हो रहा था और आज देश पराधीन हो चुका था। दोनों ही अवस्थाओं में आवश्यकता इस बात की थी कि लोगों के मन में राष्ट्रीयता के भाव जगाये जायँ। किन्तु इसके लिए जिन ऐतिहासिक पात्रों से हमें प्रेरणा मिलनी चाहिए, वह हमें नहीं मिलती। वहाँ तो हमें निष्क्रियता, देशद्रोह आदि ही सामने आते दिखाई देते हैं। हाँ, जो पात्र प्रसाद जी की कल्पना के हैं, वह देश की रक्षा के लिए हंसते-हंसते मर मिटने को, देशप्रेम की बलिवेदी पर चढ़ जाने को प्रस्तुत हैं और वे हमें अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हैं।

हम विजया को यह कहते सुनते हैं—'**गा चुके मिलन संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े; एकबार उद्बोधन के गीत गादो कि भारतीय अपनी नश्वरता का विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ. . .सुना दो वह संगीत जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय, अंगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोहनिद्रा से भारतवासी जाग पड़ें;** तो लगता है कि विजया मातृगुप्त को नहीं, प्रसाद जी अपने युग के उन नवयुवक कवियों को सचेत करते जान पड़ते हैं जो 'क्षितिज के उस पार' हृद्तन्त्री की झंकार को झंकारने और प्रेम की आह कराह को सुनने-सुनाने

को ही कविता और कर्म समझ रहे थे। उन्हें उन्होंने एक करारी चोट दी है, उन्हें जगाने की चेष्टा की है और उन्हें कर्त्तव्य की ओर प्रेरित किया है।

इसी प्रकार, पर्णदत्त के ये वाक्य—'**मुझे जय नहीं चाहिये, भीख चाहिए; जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, ऐसे वीर चाहिये, कोई देगा भीख में ?**' गाँधी जी द्वारा देश के किये गये उद्बोधन की प्रतिच्छाया-सा लगता है।

देश की एक विषम समस्या, साम्प्रदायिक वैमनस्य भी प्रसाद जी की आँखों से ओझल नहीं हो सका है। उन्होंने देश की स्वकालीन हिन्दू-मुसलिम साम्प्रदायिकता को बौद्ध-ब्राह्मण साम्प्रदायिकता के संघर्ष के रूप में अंकित किया है। और उसके लिए उन्होंने अनावश्यक प्रसंगों की कल्पना की है। इसी प्रकार यत्र-तत्र सामयिक राजनीतिक संघर्ष की झलक भी दिखाई पड़ती है।

इन सबके बावजूद हमें उस आदर्श का अभाव ही मिलता है, जिसको प्रसाद जी अपने नाटकों के माध्यम से हमारे सम्मुख रखना चाहते थे।

प्रसाद जी के अन्य नाटकों से भिन्न इस नाटक में एक बात विशेष दिखाई पड़ती है और वह यह है कि इस नाटक के पात्र दार्शनिकता से भरे हुए हैं। उनके कार्य और वार्तालाप दोनों में दार्शनिकता भरी हुई है। लगता ऐसा है कि उस समय के लोग सोते जागते हर समय दार्शनिकों की भाषा में बोलते बर्ताते थे। आलोचकों ने नाटक के इस दोष की ओर अंगुलिनिपात किया है, पर अधिकांश आलोचकों को इसमें प्रसाद जी की भाषा का वैशिष्ट्य दिखाई पड़ा है और उन्होंने उसकी सराहना की है। यदि यह भुला दिया जाय कि नाटक के पात्र जनसमुदाय के सम्मुख अपने मनोभाव प्रकट कर रहे हैं अथवा वे सामान्य व्यक्ति की भाँति बोल और कार्य कर रहे हैं, तो बेशक कहा जा सकता है कि उनके वार्तालाप अत्यन्त सुन्दर हैं, उनसे पात्रों की चित्तवृत्ति का आभास मिलता है। पर यह भुलाया नहीं जा सकता कि हम नाटक की बात कर रहे हैं। नाटक के दर्शक को और पाठक को भी यह एक नीरस विवाद-सा ही जान पड़ता है। वह उबा देने वाला है। स्कन्दगुप्त राज्य के प्रति भले ही उदासीन हो, मातृगुप्त भले ही कवि हो; किन्तु पारस्परिक बातचीत में उनकी परिस्थितियों के व्यक्ति उस ढंग की बातचीत करते नहीं सुने जाते, जिस ढंग से प्रसाद जी ने उनसे कराया है। वे बात नहीं करते, व्याख्यान देते हैं।

स्कन्दगुप्त के मुख से—**बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है। उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना, तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है। करुणा सहचर क्या जिस पर कृपा होती है उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो ? नाथ मुझे दुःखों से भय नहीं, संचार के संकोच पूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है....परन्तु....यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष गुप्त साम्राज्य हरा-भरा रहे,**

और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो जाने दो। गया सब कुछ गया, मन बहलाने की कोई वस्तु नहीं रही। कर्त्तव्य विस्मृत, भविष्य अन्धकारपूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनन्तसागर का संतरण है।

बजा दो वेणु मनमोहन बजा दो
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो
....
इसे आनन्द मय जीवन बना दो।

(अंक ४, दृश्य ७)

परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इस पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा; विश्वनियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ ?....मैं कुछ नहीं, उसका अस्त्र हूँ परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसीसे मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध है....

(अंक ५, दृश्य २)

मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले ! ओह सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्यकर्मों से समस्त पापपंक धो जायेंगे; हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु तथा गंगा यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर सन्तुष्ट करेंगी, और आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्रग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमालय की भाँति सिर ऊँचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्यसिन्धु में शेषपर्यंक शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिन्धु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराजियाँ आर्यावर्त की वेलाभूमि पर निछावर होंगी.....

(मातृगुप्त—अंक ४, दृश्य ३)

इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशांति, राज्य में अशान्ति केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है सबकी विश्व भर की शान्तिरजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता। परन्तु मेरा निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला, कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रियाकलाप में संलग्न रक्खा है, कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है....

(स्कन्दगुप्त—अंक ३, दृश्य २)

अन्त में थोड़ी-सी चर्चा पात्रों के चरित्रचित्रण के सम्बन्ध में आपेक्षित हैं।

स्कन्दगुप्त—

स्कन्दगुप्त इस नाटक का प्रधान पात्र है। उसके नाम पर इस नाटक का नामकरण हुआ है और उसे विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित किया गया है। वस्तुतः उसके चाँदी

के कुछ सिक्कों पर उसकी उपाधि विक्रमादित्य पायी जाती है। ऐतिहासिक स्कन्दगुप्त इस उपाधि के सर्वथा योग्य था। उसने हूणों के रूप में देश पर आयी हुई विपत्ति को जिस साहस और शौर्य के साथ रोका,उसका सजीव वर्णन कवि ने उसके 'भीतरी' स्थित प्रशस्ति में किया है, किन्तु खेद है कि इस नाटक का स्कन्दगुप्त उस ऐतिहासिक स्कन्दगुप्त की प्रतिच्छाया भी नहीं जान पड़ता। इस नाटक के पात्रों के मुख से स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में जब हम सुनते हैं :—

आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति गुप्तकुल-तिलक—गोविन्दगुप्त
गुप्तकुल के अभिमान का चिन्ह—गोविन्दगुप्त
उदार, वीरहृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त का एक मात्र आशास्थल—वन्धुवर्मा
आर्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है—वन्धुवर्मा
प्रवीर, उदारहृदय स्कन्दगुप्त—मातृगुप्त
रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्यावर्त की छत्रछाया—रामा
वीर, उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्—भटार्क
आशा का केन्द्र ध्रुवतारा—धातुसेन

तो लगता है कि वस्तुतः स्कन्दगुप्त कोई एक पुरुषार्थी, राष्ट्रप्रेम और स्वजाति कामना से ओत-प्रोत, उदार हृदय वाला युवक राजकुमार होगा, किन्तु उसके कार्य-कलापों का जब हम विश्लेषण करते हैं, तो हमें लगता है कि इन पात्रों के मुख से निकले वाक्य थोथे हैं। स्कन्दगुप्त उन विशेषणों के सर्वथा अयोग्य है और नाटककार ने उसे विक्रमादित्य कह कर उसका उपहास किया है।

नाटक का आरम्भ उसके स्वगत से होता है और उसके प्रथम वाक्य ही स्पष्ट कर देते हैं कि वह अपने कर्तव्य के प्रति अन्यमनस्क है। '**अधिकार सुख कितना मादक और सार-हीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।**' उसकी दार्शनिकता के आवरण में छिपी यह अन्यमनस्कता लोगों से छिपी नहीं है। पर्णदत्त के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। अधि-कार का सम्बन्ध कर्तव्य से होता है। जब अधिकार उपेक्षित हो तो कर्तव्य कहाँ रह जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से हम समूचे रूप में स्कन्दगुप्त को जो कुछ भी करते पाते हैं, उसमें कर्तव्य की भावना और अधिकार की प्रेरणा का सर्वथा अभाव ही जान पड़ता है। जो कुछ वह करता है, वह दूसरों के ठेलने से।

राज्य में क्या हो रहा है, इससे उसे कुछ मतलब नहीं। यह बताये जाने पर भी कि गुप्त साम्राज्य के बलाधिकृत का निधन हो गया और सम्राट् की विलास-मात्रा बढ़ गयी है, वह अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर नहीं होता, वरन् टाल जाता है—'**अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार सहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ, वह भी किस लिए...।**' लगता है वह कठोर प्रत्यक्ष का सामना न कर अपनी दार्शनिकता और काल्पनिकता में ही भूला रहना चाहता है। उसकी अवस्था को देख कर पर्णदत्त ने ठीक ही कहा है कि **गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।**' वही क्यों,

स्कन्दगुप्त स्वयं यही समझता है--**'इस साम्राज्यका बोझ किसके लिए. . .केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रखा है ।'**

उसकी इस निष्क्रियता को अनेक आलोचकों ने मनोरम शब्दों के आवरण में रख कर उसके चरित्र की एक विशेषता, एक गुण बताने की चेष्टा की है । कहा जाता है कि प्रसादजी ने उसके महान् व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है । वह निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित होता है । जल में कमलपत्र की भाँति निर्लिप्त भाव से वह जीवन के विविध व्यापारों से निरन्तर संघर्ष करता है । समझा यह जाता है कि तितिक्षा और विराग की अविरल धारा में संतरण करते हुए भी वह आर्य साम्राज्य के संघटन, रक्षा और उद्धार में साहस, धैर्य और पराक्रम के साथ प्रवृत्त होता है । यदि यह बात होती तो निस्सन्देह स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व की महत्ता को लख और परख पाते और समझते कि प्रसाद जी ने उसी सृष्टि द्वारा एक विशिष्ट व्यक्तित्व उपस्थित किया है ।

नाटक का स्कन्दगुप्त मन से ही विरक्त नहीं है, वरन् कर्म से भी विरक्त है । उसके सम्मुख एक अ र देश पर विदेशियों का होता हुआ आक्रमण है और दूसरी ओर राज्य के भीतर शासनाधिकार के लिए षड्यन्त्र । उन दोनों का शमन करन के लिए जिस सक्रियता और दृढ़ता की आवश्यकता है, वह हम उसमें तनिक भी नहीं पाते । नाटक में यह अवश्य दिखाया गया है कि हूण पराजित होते हैं और षड्यन्त्र का दमन होता है, पर उससे कहीं भी यह प्रक : नहीं होता कि स्कन्दगुप्त ने उसके लिए कोई चेष्टा की । वह दूसरों के सहारे ही यत्र-तत्र घटना-चक्र में घूमता दिखायी पड़ता है । हूणों को देश से निकाल बाहर करने की आवश्यकता है । किसी भी देशभक्त के सम्मुख, कर्तव्यपरायण शासक और उत्तराधिकारी के सम्मुख यही समस्या उठ सकती है कि हम पहले विदेशियों को देश से निकाल बाहर कर लें फिर घरेलू समस्याओं को समझते रहेंगे । पर हम स्कन्दगुप्त को यही सोचते पाते हैं कि वह कुछ करे तो किस लिए और कुछ करता भी है तो दूसरों के ढकेलने से ही । पुष्यमित्रों के युद्ध की भीषणता का जो चित्र भीतरी प्रशस्तिकार ने अंकित किया है और उसके जीतने के लिए स्कन्दगुप्त को किन यातनाओं को सहन करना पड़ा था, उसकी प्रतिच्छाया भी यहाँ नहीं दिखायी पड़ती । उस युद्ध का इस नाटक में संकेत मात्र ही मिलता है और ज्ञात नहीं होता कि उसमें स्कन्दगुप्त का क्या हाथ था । उनके साथ हुए अन्तिम युद्ध को वह स्वयं नहीं करता । चक्रपालित पर छोड़ कर मालव चला जाता है । आगे गान्धार और कुभा के युद्ध में भी हम स्कन्दगुप्त को निष्क्रिय ही पाते हैं । गान्धार के रणक्षेत्र में बन्धुवर्मा की प्रधानता है, कुभा का रणक्षेत्र भटार्क को सौंप कर वह निष्क्रिय हो जाता है । सैन्य-संचालक की-सी चपलता उसमें हमें नहीं दिखायी पड़ती । कहीं भी यह दिखायी नहीं पड़ता कि वह सैन्य का संचालन कर रहा है और जो कुछ कर रहा है उसमें सेनापति की-सी दूरदर्शिता है । भटार्क के षड्यन्त्र की सूचना पाकर भी उसके प्रति सजग नहीं होता तथा उसको रोकने की कोई व्यवस्था नहीं करता । फलतः भटार्क के विश्वासघात से उसकी पराजय होती है ।

इस पराजय के पश्चात् हम उसे देश की दुर्दशा से व्यथित तो पाते हैं । वह रो उठता है–**'परन्तु यह ठीकर इसी सिर पर फूटने को था । आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को**

देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय वृक्ष गुप्त साम्राज्य हरा-भरा रहे।' किन्तु उसका देशाभिमान केवल शब्दों में ही गरजता रह जाता है, बरसता नहीं। पराजय के फलस्वरूप उसमें नया जोश नहीं आता। वह हताश होकर अकमण्य बन जाता है। आगे कुछ करने का उत्साह नही दिखाता। वह तो चाहता है—'**बोद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी-सम्पूर्ण विस्मृति।** यह उसकी निराशा की चरम सीमा है। वह अपने को अकेला, निस्सहाय अनुभव करता है, सैन्य-संघटन की ओर प्रवृत होकर अपन कतव्य का पालन नहीं करता। वरन् इस निराशा में उसकी वासना जाग उठती है और वह देवसेना को देख कर अपने को रोक नहीं सकता। कह उठता है—'**एकान्त में किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा।'** यदि देवसेना के स्थान पर विजया या उसी सी कोई और नारी होती तो निश्चय ही स्कन्दगुप्त का पतन था। यह तो देवसेना की देश के प्रति कर्तव्य की सजगता थी, जो उसे इस प्रकार पतन से रोकती है। वह ललकारती है। वह उसके सब साथियों को एकत्र करती है, तब कहीं स्कन्दगुप्त हूणों से युद्ध करता है और विजयी होता है। इस प्रकार विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध में नाटक का स्कन्दगुप्त ऐतिहासिक स्कन्दगुप्त के ठीक विपरीत आचरण करता है। वह देश को विदेशियों से मुक्त करने में प्रायः निष्क्रिय ही रहा है। मालव का प्रतिरोध और देवसेना की ललकार पर हूणों से युद्ध मात्र स्कन्दगुप्त को किसी प्रकार ऊँचा उठा कर विक्रमादित्य के आसन पर नहीं बैठा सकते। हमें तो इस स्कन्दगुप्त में कहीं भी कोई ऐसी बात देखने को नहीं मिली जिससे हम अपने आलोचक मित्रों के स्वर में स्वर मिला कर उसकी प्रशंसा कर सकें और कह सकें कि वह आर्य साम्राज्य के संघटन, रक्षा और उद्धार में रत साहस, पराक्रम और उत्साह की मूर्ति था।

स्कन्दगुप्त की यही निष्क्रियता हमें राज्य के लिए पनपते गृह-षड्यन्त्र के प्रतिरोध में भी पाते हैं। वह राज्याधिकारों के प्रति आरम्भ से ही उदासीन है। राज्य के प्रति उसका कोई मोह नहीं है। हम उसे सदा यही कहते पाते है—'**मैं झगड़ा नहीं करना चाहता, मुझे सिंहासन नहीं चाहिये। मै केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट् नहीं। साम्राज्य का बोझ किस लिए। केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। एकान्त में किसी कानन के कोने में जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं।'** यह सब हमारे आलोचक मित्रों की दृष्टि में अनासक्ति भाव का परिचायक है। हम भी उनके स्वर में यही बात कहते यदि वह अपने इसी भाव को उचित रूप में अपनी विमाता अनन्त देवी पर प्रकट कर उसे अपने पुत्र पुरगुप्त को शासनाधिकारी बनाने के निमित्त षड्यन्त्र करने का अवसर न देता और षड्यन्त्र के फलस्वरूप बिखरी हुई गृह-शक्ति को विदेशियों के शमन में लगाता। वर्तमान अवस्था ढकने के लिए बार-बार उसने इन शब्दों को दुहराया है।

षड्यन्त्र के रोकने के प्रति भी हमें स्कन्दगुप्त की कोई सक्रियता नहीं दिखायी पड़ती। यह अवश्य है कि षड्यन्त्रकारियों के उत्कर्ष के समय हमें उन्हें असफल करने के लिए सहसा मगध में उपस्थित होते अवश्य पाते हैं, पर वहाँ भी उसकी सक्रियता का अभाव ही है। हम देखते हैं कि षड्यन्त्रकारी बार-बार उसके सामने आते हैं और हर बार वह उन्हें क्षमा

कर देता है। षड्यन्त्र रोकने का प्रयास नहीं करता। इसे आलोचक मित्रों ने स्कन्दगुप्त की क्षमाशीलता का परिचायक बताया है, पर यह तो उसका सबसे बड़ा देशद्रोह है। षड्-यन्त्रकारियों की उपेक्षा कर वह अपनी स्थिति तो खतरे में डालता ही है, साथ ही देश की शक्ति को विघटित होने देकर देश की स्थिति भी खतरे में डालता है। यही नहीं, अपने से अधिक भटार्क की प्रतिज्ञा की रक्षा करता है और उसकी रक्षा के निमित्त पुरगुप्त को युवराज बना देता है। यदि उसे यही करना था तो आरम्भ में ही इस बात की घोषणा कर देता कि राज्य का उत्तराधिकारी पुरगुप्त है। उस समय न तो उसके विरुद्ध षड्यन्त्र होते और न राज्य की शक्ति विरोधियों के कारण छिन्न-भिन्न होती। उस समय उसकी अना-सक्ति और उदारता का महत्व होता जो उसके चरित्र को ऊँचा उठा देता। हमें तो यही लगता है कि उसने अपनी दुर्बलताओं को उदारता के इस आवरण में छिपाने का प्रयत्न किया है।

प्रसाद जी का यह पात्र-चरित्र सर्वथा अनैतिहासिक है, सम्भवतः इसी कारण उसके चरित्र का निखार नाटक के अनैतिहासिक अंश में ही विशेष रूप से हो सका है। विजया और देवसेना के बीच उसके प्रणय-चित्रण अत्यन्त गम्भीर और संयत रूप में सामने आये हैं। स्कन्दगुप्त मालव दुर्ग की रक्षा के समय विजया के प्रति आकृष्ट होता है। उसका रूप उसे प्रभावित करता है। उस समय परिस्थिति की गम्भीरता के अनुसार उचित ही इतना पूछ कर रह जाता है—'**यह कौन** ?' किन्तु विजया सी साधारण रमणी उन दो शब्दों के प्रणय-सन्देश को समझने में असमर्थ रहती है। वह जब स्कन्दगुप्त को राज्य के प्रति उदासीन पाती है तो उसकी ओर से उसका मन कुछ खिंचता-सा है और वह भटार्क का वरण कर लेती है। तब स्कन्द का हृदय क्षुब्ध हो उठता है और अपने को रोक नहीं पाता और उसके मुँह से निकल पड़ता है—'**विजया तुमने यह क्या किया** !' स्कन्द के हृदय में विजया की ओर से यह पहला आघात होता है। उस पर दूसरा आघात तब होता है जब वह देवसेना की हत्या के लिए कार्य करती है। उस समय उस पर विजया का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसका हृदय चीत्कार कर उठता है—'**विजया...? ओह ! उसे स्मरण करके क्या होगा, जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्या-तारा के समान पहले देखा, वही उल्का-पिंड होकर दिगन्त-दाह करना चाहती है।**" विजयाका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है और रूप के आधार पर उभरी हुई प्रणयाकांक्षा को अनुकूल गुण का अभाव देख कर सदा के लिए शमन कर देता है। और जब विजया उसके सम्मुख अपने प्रणय का पात्र लेकर उपस्थित होती है तो उसे इन्द्रजाल-मन्त्र समझता है। स्पष्ट कह देता है—'**उस खल को खेलने की इच्छा नहीं...तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ** ।' वह प्रलोभन देती है दो रत्नगृहों का, जिनकी सहायता से हूणों को परास्त किया जा सकता है। पर वह इतना दृढ़ है—'**साम्राज्य के लिए अपने को बेंच नहीं सकता। इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं।**' और उसे ठुकरा देता है। विजया की ओर से खिन्न होने पर उसे अपने प्रणय क्षितिज में एक नये नक्षत्र के रूपमें देवसेना दिखायी पड़ती है। वैसे तो उसने देवसेना को विजया के साथ ही मालव दुर्ग में देखा था। पर तब उसके आकर्षण का केन्द्र थी विजया। उस आकर्षण-केन्द्र से हटने पर देवसेना दिखायी पड़ी। श्मशान में मृत्यु के मुख में पड़ी देवसेना उसकी याद कर रही है—'**प्रियतम, मेरे देवता**

युवराज !' वह उसके प्रणय का केन्द्रविन्दु बन गयी । किन्तु हूणों के युद्ध और गृह-षड्यन्त्र के बीच फँसे रहने से उसे शीघ्र कोई अवसर न मिला । जब मिला, तो दुर्भाग्य से ऐसे समय जब वह कुभा के युद्ध में पराजित होकर हताश-निराश घूम रहा था । उस समय वह अपने हृदय की चिरसंचित भावों को बिना कुछ सोचे-समझे उड़ेल देता है--'**हम तुम सब अब अलग न होंगे । साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकान्तवास करूँगा....** ।' वह अनुनय करता है एक प्रणयी की भाँति--'**एकान्त में किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा । साम्राज्य की इच्छा नहीं । एक बार कह दो** ।' और अन्त में वह देवसेना की आत्मसमर्पण युक्त दृढ़ता के सम्मुख अपनी कमजोरी का अनुभव करता हुआ कुमारजीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा कर लेता है । स्कन्दगुप्त की इस प्रणय-याचना का आधार रूप नहीं, वरन् देव-सेना का गुण है । वह उसमें देखता है कि **वह इस नन्दन वन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी है** ।

इस प्रकार स्कन्दगुप्त प्रणय भाव में संयत और गम्भीर है, इसी को हम उसके चरित्र की विशिष्टता कह सकते हैं ।

भटार्क

स्कन्दगुप्त के पश्चात् यदि किसी पात्र की चर्चा इस नाटक के सम्बन्ध में की जा सकती है, तो वह भटार्क है । कहा जा चुका है कि इस नाटक में भटार्क नाम के अतिरिक्त इस पात्र में ऐतिहासिक कुछ भी नहीं है । वह मगध का महा बलाधिकृत है । उसका विश्वास है कि **क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है ? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा** ? वह बाहुबलमें विश्वास करता है । उसे हम सक्रिय रूप से पहली बार उस समय देखते हैं जब वह चंचल शकराष्ट्रमंडल के लिए सुयोग्य सेनापति भेजने की सम्मति के व्याज से अपने को उस योग्य होने का संकेत करता है । उसकी महत्वाकांक्षा से भरी इस अनावश्यक उत्सुकता को लक्ष कर पृथ्वीसेन उसको टाल देता है । इसे वह अपमान समझता है और उसके प्रतिकार के लिए कटिबद्ध होता है और षड्यन्त्ररत अनन्तदेवी के सम्मुख वह अपने हृदय की वेदना को इन शब्दों में व्यक्त करता है--'**कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग-बाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं । उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी होंगे । चुभ चुभ कर वे मुझे सचेत करेंगे....मेरा हृदय शूलों के लौह फलक सहने के लिए है, क्षुद्र वाक्य बाण के लिए नहीं** ।'

इन शब्दों से उसका स्वाभिमान प्रकट होता है । वह अपनी इस स्वाभिमान रक्षा के भावावेश में बह कर बिना परिस्थितियों के पूर्वापर किसी प्रकार विचार किये ही अनन्त देवी द्वारा आयोजित षड्यन्त्र में इसलिए सम्मिलित हो जाता है कि उसकी कृपा से ही वह महाबलाधिकृत बनाया गया है । वह उसका प्रतिदान इस प्रकार चुकाना चाहता है । वह अनन्तदेवी के वाग्जाल में फँस कर मगध के सिंहासन पर पुरगुप्त को बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होता है और इस प्रकार भटार्क इस नाटक में हमारे सम्मुख खलनायक के रूप में उपस्थित होता है । तथा हम कुमारगुप्त की मृत्यु, देवकी की हत्या

के प्रयत्न, मालव में स्कन्दगुप्त के विरुद्ध षड्यन्त्र, प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या की योजना, आदि सभी रोमांचकारी घटनाओं के पीछे स्थिरमति, दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी भटार्क का हाथ पाते हैं। नगरहार के युद्ध में तो भटार्क की पिशाचलीला चरम सीमा को पहुँच जाती है। वह विश्वासघात कर हूणों से मिल जाता है और हूणों को सुरक्षा का मार्ग बता कर ठीक मौके पर कुभा का बांध तोड़ देता है। फलस्वरूप स्कन्दगुप्त अपनी सेना सहित उसमें बह जाता है।

किन्तु प्रकृतया भटार्क नीच नहीं है। कुसंग में पड़ कर ही उसने ये सारे कार्य किये हैं। अतः अपने इन कार्यो के प्रति समय-समय पर हम उसे पश्चाताप करते हुए पाते हैं। महाप्रतिहार, महादण्डनायक और महामन्त्री की आत्महत्या पर उसे खेद होता है। **'भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक**। देवकी की हत्या के प्रयत्न एवं मालव में स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण के समय षड्यन्त्र करने के अभियोगों में जब वह बन्दी करके स्कन्दगुप्त के सम्मुख उपस्थित किया जाता है तो वह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लेता है—**'अपराध हुआ'** और उसका सर नीचा हो जाता है। स्कन्दगुप्त उसे कोई दंड न देकर केवल धिक्कारता है। उसका मन ग्लानि से भर जाता है। अपमानित कर क्षमा किये जाने को वह सूली से बढ़ कर समझता है। वह कृतज्ञता से भर जाता है। अनुभव करता है कि उस पर दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया गया है। प्रपंचबुद्धि द्वारा उकसाये जाने पर भी कि **'शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण'** एक बार तो वह कह ही उठता है कि **'मैं इतना नीच नहीं हूँ....मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कन्दगुप्त से किस मुँह से....'**

किन्तु कुसंग में पड़ जाने पर मनुष्य को उससे शीघ्र छटकारा नहीं मिलता। प्रपंचबुद्धि उसे अपने वाग्जाल में फँसा ही लेता है और वह राजकुमारी देवसेना की हत्या की योजना में सम्मिलित हो जाता है। तब भी वह अनुभव करता है कि **पापपंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बांध लेता है।'** अपना दुर्भाग्य मानता हुआ विवशता के साथ उस ओर खिंच जाता है और हम उसे पुनः पापरत देखते हैं। कुभा के युद्ध में वह स्कन्दगुप्त के साथ विश्वासघात कर उठता है। अपनी माँ कमला द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर उसका विवेक जाग उठता है, वह अपने हृदय के भाव निष्कपट रूप से खोल कर रख देता है—**'साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था; केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित हो कर मैंने यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा।'** मां की भर्त्सना पाकर वह इस संघर्ष से अलग हो जाता है और स्कन्दगुप्त के सम्मुख सच्चे हृदय से आत्म-समर्पण कर देता है।

हम देखते हैं कि भटार्क एक सैनिक है, उसमें सैनिक के सारे गुण विद्यमान हैं। वह सैनिक की तरह अनुशासनप्रिय है, शर्वनाग को अपने विश्वास में लेकर उसे भविष्य में विश्वासघात न करने के लिए सचेत करता है, उसमें सैनिक की भाँति कर्त्तव्य की दृढ़ता भी है। एक बार जो भी निश्चय वह कर लेता है, वह चाहे गलत हो या सही, उस पर दृढ़ रहता है। स्कन्दगुप्त के स्थान पर पुरगुप्त को सिंहासनारूढ करने की धुन में उचित-

अनुचित का विचार भूल जाता है। यह उसकी दुर्बलता मनुष्य के नाते कही जा सकती है। पर सैनिक के रूप में तो यह सराहनीय है।

सैनिक से भिन्न होकर जब राजनीतिक बनने की चेष्टा करता है, तो हम देखते हैं कि वह अपनी शक्ति की सीमा से बाहर जाने का दुःस्साहस कर रहा है। वह राजनीति से भिज्ञ न होकर अपने को राजाओं का नियामक समझने लगता है। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। इसके प्रति मन्त्री कुमारामात्य पृथ्वीसेन आरम्भ में ही चेतावनी देते हैं—**'परन्तु भटार्क! जिसे तुम खेल समझ कर हाथ में ले रहे हो, उस कालभुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना।'** भटार्क उसकी बात अनसुनी कर जाता है। उसे अपने सारे षड्यन्त्रों में सफलता नहीं मिलती। वह पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में सफल नहीं हो पाता। इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में उसकी पराजय होती है। पर हम उसकी इस पराजय में भी जय पाते हैं। स्कन्दगुप्त उसकी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं। पुरगुप्त को सिंहासन देकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार घटनाचक्र ने चाहे जो रूप लिया हो, प्रकट में भटार्क अपनी राजनीति में पराजित ही क्यों न हुआ हो, परिणाम में स्कन्दगुप्त की पलायनवादी प्रवृत्ति के कारण वह अपने उद्देश्य में सफल ही रहा। आवश्यक नहीं कि राजनीति में किसी कार्य का वही परिणाम हो, जो प्रत्यक्ष जान पड़े। राजनीति में परिणाम पीछे के दरवाजे से भी आया करता है। कौन कह सकता है कि भटार्क की राजनीति में सफलता पीछे के दरवाजे से नहीं आयी। अतः हम तो यही कहेंगे कि वह अपनी राजनीति में, अपने लक्ष्य में सफल ही रहा।

भटार्क की अपनी जीवन के प्रति कुछ मान्यताएँ भी जान पड़ती हैं। वह विलासिता को वीरता की एक आवश्यकता मानता है। उसकी मान्यता है—**'जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।'** देखने में उसकी यह धारणा कुछ अटपटी सी जान पड़ती है। जी उसका उपहास करने को चाहता है, किन्तु वास्तविक जीवन में हम उसे अत्यन्त संयत पाते हैं। अनन्तदेवी की आँखों में **काम पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है, हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है।** परन्तु इसके विचार करने का उसके पास स्थान नहीं है। अनन्तदेवी के यह काम-पिपासा युक्त भाव विजया से छिपे नहीं रहते। वह अनन्तदेवी से प्रणय वंचना के लिए झगड़ बैठती है, किन्तु उसका यह सन्देह निराधार ही है। अनन्तदेवी की ओर भटार्क को भूल कर भी देखते नहीं पाते। दूसरी ओर हम देखते हैं कि जब वह विजया को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है, तो उसका दम बराबर भरता रहता है। स्कन्दगुप्त से प्रणय भीख माँगते देख कर भी उसे अपने पति होने का खेद नहीं होता, वरन् पति होने के नाते ही वह उसकी भर्त्सना करता है। यदि वस्तुतः वह अपनी मान्यता के अनुसार विलासी होता, तो हम उसे अनन्तदेवी की न तो उपेक्षा करते पाते और न इस प्रकार विजया को तिरस्कृत करते।

समष्टि रूप से भटार्क खलनायक भले ही हो, चरित्र में वह महान है, आदर्श है। उसकी दुर्बलताओं की भित्ति उसके चरित्र की दृढ़ता पर खड़ी है। जो कुछ वह

करता है निश्चित लक्ष्य, एकलव्य की भाँति वह लक्ष्य को ही देखता है। उसके साधन के उपकरण जुटाता है। उसे अच्छे-बुरे के देखने की आवश्यकता नहीं।

पर्णदत्त

स्कन्दगुप्त और भटार्क के बाद यदि किसी पुरुष पात्र की चर्चा की जा सकती है तो वह वृद्ध पर्णदत्त है। वह गुप्त साम्राज्य के महानायक के रूप में सामने आता है। उसमें हम स्वामिभक्ति और कर्तव्यपराय ता कूट कूट-कर भरा पाते हैं। वह अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहता हुआ परिस्थितियों का धैर्यपूर्वक सामना करता है और अपने कर्तव्य के अनुकूल वीरता और साहस का परिचय देता है। वह हमारे सामने कामना लिए हुए आता है कि '**गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र धर्म का पालन करते हुए मर मिटूँ**।' वह दुखी है अपने अधिकारों के प्रति स्कन्दगुप्त की उदासीनता और अयोध्या में होने वाले नित्य परिवर्तनों से। वह स्कन्दगुप्त को उसके प्रति सजग करता है और स्कन्दगुप्त की निष्क्रियता से क्षुब्ध होता है और उसके मुँह से व्यंग से पूर्ण फटकार भरे ये शब्द निकल पड़ते हैं '**गुप्त साम्राज्य के शासक इस साम्राज्य को गले पड़ी वस्तु समझने लगे हैं**।' वह स्कन्दगुप्त की निष्क्रियता में गति लाना चाहता है, किन्तु वह स्कन्दगुप्त को अपने अधिकारों के प्रति सजग कर साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह तो उसकी रक्षा के लिए प्रेरित करना चाहता है। हम देखते हैं वह चक्रपालित से स्कन्दगुप्त के उदासीनता भरे प्रश्न की चर्चा करता है कि—'**अधिकार किस लिए ?**' तो वह उसके मूल में गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम की बात का अनुमान करता है। उसके मुँह से विद्रोह को उत्तेजना देनेवाली बात निकलते ही पर्णदत्त डाँट देता है—'**यदि यह बात हो भी, तब भी तुम को ध्यान रखना चाहिये कि हम साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक अपनी चंचलता को विषवृक्ष का बीज न बना देना**।' स्कन्दगुप्त को, जब वह मालव-दूत को इन शब्दों में आश्वस्त करता पाता है—'**शरणागत की रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है....अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो**', तो वह खिल उठता है। उसके मुँह से उसकी यह प्रसन्नता फूट पड़ती है– '**आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ**' और आशिर्वचन निकल पड़ते हैं—'**गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी**।'

इस प्रकार पर्णदत्त का सात्विक स्वामिभक्ति और देशप्रेम से ओत-प्रोत स्वरूप सामने आता है और उसके सक्रिय रहने के समाचार हमें निरन्तर मिलते रहते हैं। हम पाते हैं वह सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगा है। हम देखते हैं कुभा के युद्ध में स्कन्दगुप्त के गायब हो जाने के बाद जब साम्राज्य अत्यन्त अस्तव्यस्त हो जाता है तब भी वह अपने कार्य में लगा हुआ है। वह साम्राज्य के बिखरे हुए रत्नों को एकत्र करता है। वह उन सबकी सेवा करता है। उनके लिए सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं। **जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता है, उन्हीं कुत्सित अन्नों को उसे बचा कर रखना पड़ता है**। अक्षय निधि के समान वह उस पर पहरा देता है। जिस काम को उसने कभी नहीं किया, वह उससे करते नहीं बनता। अतः उसका हृदय चीत्कार उठता है। पर वह एक सच्चे क्षत्रिय की भाँति उन परिस्थितियों को आपद्धर्म मान कर दुर्दशाग्रस्त वीर हृदयों की

सेवा के लिए करता है। उसके मन में अटूट विश्वास भरा है जीवन का **तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा।**

वह अपनी देशरक्षा की धुन में मस्त भीख मांगता फिरता है--'**भीख दो बाबा। देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा।**

एक ओर अपनी यह असहाय स्थिति और दूसरी ओर नागरिकों का विलासिता भरा कुत्सित जीवन। उसे देख कर उसका हृदय क्षुब्ध हो जाता है, उसका उनके प्रति विद्रोह उबल पड़ता है। भिक्षा के लिए गीत गाती हुई देवसेना के प्रति अशिष्ट पुरुषों के कुत्सित शब्द सुनते ही वह उबल पड़ता है —**नीच दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा। बालों को संवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर अब भी घमंड से तना हुआ, निकलता है... जिस देश के युवक ऐसे हों उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज....अन्न पर स्वत्व है भूखों का, धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए, हम भूखों के लिए रख छोड़ा है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं।'** उसका यह विद्रोह स्वाभाविक है। उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है, जो युद्ध में मरना चाहते हैं, जो युद्ध में मरना जानते हैं। उनको भूख से तड़पते हुए देख कर आँखों, में रक्त न आना आश्चर्य की बात होती।

वह देश-रक्षा की भावना से इतना ओतप्रोत है कि उसे अपनी जयकार भी अच्छी नहीं जान पड़ती ; जब चक्रपालित और भीमवर्म्मा, उसकी तत्परता और त्याग भावना से प्रभावित होकर चिल्ला उठते हैं—'**आर्य पर्णदत्त की जय!**' तो वह झुंझला उठता हैं—'**मुझे भीख चाहिये। जो दे सकता हो अपने प्राण, जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहियें, कोई देगा भीख में?**

पर्णदत्त के रूप में प्रसाद जी ने इस नाटकीय ऐतिहासिक पात्र के माध्यम से हमारे सम्मुख एक ऐसा चरित्र प्रस्तुत किया है जो देश के नवयुवकों को हमारी सामयिक अवस्था में उद्बोधन प्रदान करता दिखाई पड़ता है। वह कर्तव्य निष्ठा और देशानुराग का अद्भुत आदर्श है।

इस नाटक के शेष पुरुष पात्र नाटक को गति देने के लिए ही सामने आते हैं। पहले कहा जा चुका है कि नाटक के कुछ दृश्यों को इससे सरलता से अलग किया जा सकता है। उन दृश्यों में आये हुए पात्र तो प्रायः नाटक की दृष्टि से महत्वहीन हैं। उनके चरित्र का कोई रूप हमारे सामने नहीं आता। उनके एक आध कार्य-कलाप से उनके सम्बन्ध में अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। कुमारगुप्त, मगध सम्राट्, स्कन्दगुप्त के पिता, इस नाटक में केवल एक दृश्य में हमारे सामने आते हैं। उन्हें हम अपने परिषद के बीच पाते हैं। उसका शासक अथवा युद्धरत देश के संचालक का रूप हमारे सामने नहीं आता। बातचीत में केवल हम इतना ही जान पाते हैं कि **अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए युद्ध आवश्यक है। समुद्रगुप्त को विवश होकर सिन्धु के उस पार के विद्रोहियों का दमन करना पड़ा था।** फलतः वह उसी परम्परा को निभा रहा है। पृथ्वीसेन युद्ध के समाचार बताता है। वह सुन लेता है। पृथ्वीसेन के शब्दों को दुहरा कर भटार्क के प्रस्ताव को टाल देता है।

इन सबसे यह नहीं जान पड़ता कि वह किस प्रकार का व्यक्ति है। वह युद्ध को विवशता के रूप में ग्रहण करता है अथवा उसके पीछे उसमें किसी प्रकार का उत्साह भी है, यह हम नहीं जान पाते। किन्तु उसका विलासी स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप में आ जाता है, जब मुद्गल चक्रपाणि भगवान की पूजा के लिए चलने की बात पूछता है तो वह यह कह कर टाल देता है—**'आज तो पारसीक नर्तकियाँ आनवाली हैं, आपानक भी है। कल चलूँगा।'** अनन्त देवी को देखते ही कह उठता है—**'तुम्हें खोज हो रहा था।'** किन्तु ऐतिहासिक कुमारगुप्त का यह स्वरूप कदापि नहीं हो सकता, जिसने अपने पिता से दायरूप में प्राप्त विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण ही नहीं रखा, वरन् दो अश्वमेध यज्ञ भी किये।

गोविन्दगुप्त

गोविन्दगुप्त, कुमारगुप्त का बड़ा भाई और स्कन्दगुप्त का चचा है। वह इस नाटक में अनावश्यक रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्कन्दगुप्त के समय में वह जीवित भी था यह संदिग्ध है। इस कारण उसे इस नाटक से अलग रखा जा सकता था। वह यहाँ दो दृश्यों में प्रस्तुत किया गया है। एक दृश्य में हम उसकी बातों से जान पाते हैं कि वह रूठ गया था, पर उसका यह रूठना स्कन्दगुप्त के प्रति नहीं अन्य के प्रति था। वह संन्यासी रूप में प्रकट होता है, मुद्गल उसे पहचान लेता है। इस प्रकार गोविन्दगुप्त हमारे सम्मुख नाटकीय रूप में उपस्थित होता है। उसकी बातों से लगता है, उसके पास कोई सेना है—**'चलो दुर्ग में से हमारी सेना पहुँच चुकी है।'** उसी से सूचना मिलती है—**'हूणों के आतंक का डर नहीं है।'** इससे अधिक उसका कोई कार्य इस दृश्य में नहीं है। दूसरे दृश्य में हम उसे मालव में स्कन्दगुप्त का राज्याभिषेक करते देखते हैं। उसके चरित्र के स्वरूप को जानने का कोई अवसर नाटक में नहीं है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह परिवार से रूठ जाने पर भी साम्राज्य के प्रति निष्ठ था।

पुरगुप्त

नाटक में गृह-कलह का केन्द्रविन्दु पुरगुप्त है। उसे राज्य दिलाने के लिए उसकी माता अनन्तदेवी कुचक्र करती है; किन्तु उस कुचक्र के बीच अथवा नाटक के किसी अन्य स्थल पर पुरगुप्त को अपने उस रूपमें नहीं पाते, जिसकी कि स्वाभाविक रूपमें ऐसी परिस्थितियों में आशा की जाती है। प्रथम अंक के पाँचवें दृश्य में वह सर्वप्रथम हमारे सम्मुख आता है। उस समय तो ऐसा अवश्य लगता है कि वह अपनी माता के कुचक्र में सक्रिय सहयोग कर रहा है। जब कुमारामात्य, महादंडनायक, महाप्रतिहार आदि महाराज कुमारगुप्त को अस्वस्थावस्था में देखने के लिए अन्दर जाना चाहते हैं और भटार्क के षड्यन्त्र के अनुसार वे भीतर जाने से रोके जाते और प्रतिशोध लेना चाहते हैं, उस समय पुरगुप्त वस्तुतः परिस्थिति के अनुसार अपना स्वरूप प्रकट करता है। वह पृथ्वीसेन को उत्तराधिकार की बात चलाने पर डाँट देता है चुप रहो—**'चुप रहो। तुम लोगों को कठोर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं।** प्रमाण माँगने पर उन्हें विद्रोही कह कर बन्दी करनेका आदेश देता है। दृढ़ता

पूर्वक परिस्थिति का सामना करता है। यदि उसकी यह दृढ़ता अन्त तक बनी रहती, तो कहा जा सकता था कि अपने स्थान पर पुरगुप्त दृढ़चरित्र वाला व्यक्ति था। किन्तु अंक तीन के तीसरे दृश्य में जब हम उसे दूसरी बार नाटक में उपस्थित पाते हैं तो उसे स्कन्दगुप्त की विजय पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए देखते हैं—'**विजय पर विजय! देखता हूँ कि एक बार वंक्षु-तट पर गुप्त साम्राज्य की पताका फिर फहरायेगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्णप्रभा का विस्तार करेगा।**' और तभी हम उसकी माता को उसकी भर्त्सना करते हुए पाते हैं—'**परन्तु तुम को क्या? निर्वीर्य, निरीह बालक; तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है? लज्जा के गर्त्त में डूब ही जाते। और भी छाती फुला कर आनन्द मनाते हो!**' लगता है कुचक्र से वह तटस्थ है। इस प्रकार जान ही नहीं पड़ता कि वह किस प्रकार का व्यक्ति है। वह दूसरों के हाथ की कठपुतली मात्र है या उस का अपना भी चरित्रबल है। उसमें चरित्रबल का अभाव उसके मध्य होने की बात से भी प्रकट है। विजया से वह पात्र माँगता है। सैनिक को मित्र सम्बोधित कर कादम्ब पीने को निमन्त्रित करता है। पाँचवें अंक के तीसरे दृश्य में युद्ध की बात से घबराता है और सुरापात्र की माँग करता है।

यही नहीं, भटार्क और हूण-दूत की बातचीत को वह समझ ही नहीं पाता। पूछता है—'**यह क्या हो रहा है?**' जैसे कुचक्र की उसे कोई खबर ही न हो। अन्तिम बार हम उसे बन्दी के रूप में स्कन्दगुप्त के सम्मुख उपस्थित पाते हैं। वह अपने को अपराधी मान कर स्कन्दगुप्त के चरणों में गिर जाता है। यह निरीहता और पहले अंक में चित्रित अहंकार दोनों को जब हम एक साथ देखते हैं तो लगता है पुरगुप्त स्वतः कुछ नहीं, परिस्थितियों का दास तथा दूसरों के हाथ की कठपुतली मात्र है।

चक्रपालित

चक्रपालित पर्णदत्त का पुत्र है। उसमें पिता के समान ही देशप्रेम और वीरोचित गुण भरे हुए हैं। किन्तु नाटक में अनेक स्थानों पर अवतरित होते हुए भी उसका कार्यक्षेत्र (रोल) इतना सीमित है कि उसके ये गुण निखर नहीं पाते। फिर भी हम प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में देखते हैं कि वह उत्साह और निर्भयता से ओतप्रोत नवयुवक राजनीति के छल-प्रपंचों से दूर रह कर राज्य और राष्ट्र के प्रति कर्तव्यपालन को ही अपने जीवन का चरम आदर्श समझता है। **हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।** आक्रमणकारियों से घिरे देश की रक्षा की बात न कर जब स्कन्दगुप्त दार्शनिक बन जाता है जो चक्रपालित क्षुब्ध हो उठता है। उसे उसकी यह दार्शनिकता नहीं रुचती। वह उसे कर्मरत होने के लिए बार-बार उसकाता है (**अंक २, दृश्य १**)। उसे हम सदा हूणों का सामना करने को प्रस्तुत पाते हैं। वह शत्रुओं से मिले भटार्क की कुमन्त्रणा और कुटिल नीति पर दृष्टि रखता है और उसकी ओर से स्कन्दगुप्त को सावधान करता रहता है (**अंक ३, दृश्य ६**)। किन्तु देशभक्त वीर होते हुए भी वह नियतिवादी है। चौथे अंक के छठे दृश्य में हमें ऐसा लगता है कि वह परिस्थितियों से हताश हो गया है: '**मनुष्य की अदृष्टलिपि वैसी ही है जैसी अग्निरेखाओं से कृष्णमेघ में बिजली की**

वर्णमाला एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होने वाली। भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।'

बन्धुवर्मा

मालव नरेश बन्धुवर्मा का परिचय हमें प्रथम अंक में मिलता है, जब उस का दूत बर्बर हूणों से मालव की रक्षा के लिए स्कन्दगुप्त से सहायता के लिए आता है (**अंक १, दृश्य १**)। युवराज स्कन्दगुप्त का कोई सन्देश न मिलने से चिन्तित हम उसे आगे पाते हैं। वह सोचता है—'**सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।**' उस निराशा में उसकी पत्नी जयमाला उसे उत्तेजित करती है—'**तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह विक्रम की सेना पर टूट पड़ो!**' और वह अन्तःपुर का भार जयमाला और दुर्ग भीमवर्मा के ऊपर छोड़ कर युद्ध के लिए लिए जाता है (**अंक १, दृश्य ७**)। स्कन्दगुप्त की सहायता से उपकृत होकर वह प्रतिज्ञा करता है—'**अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है**' (**अंक २, दृश्य १**)। आगे चल कर वह स्कन्दगुप्त को मालव सौंप देने का विचार करता है; उसकी पत्नी जयमाला उसका विरोध करती है। यहाँ बन्धुवर्मा का परिचय हमें विशेष रूप से मिलता है।

बन्धुवर्मा—**देवी! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्म्मा ने एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं; परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी; उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलम्ब निःशेष था, तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने रक्षा की थी; अब राज्य न्याय से उन्हीं का है।**

× × × ×

बन्धुवर्मा—**देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्यावर्त पर विपत्ति की प्रलय मेघमाला घिर रही है; आर्य्य साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भलीभाँति जान गये हैं। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की सम्भावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य्य राष्ट्र के त्राण के लिए युवराज उज्जयिनी में रहें; इसी में सबका कल्याण है। आर्य्यावर्त्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है। और उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट होंगे स्कन्दगुप्त।**

जयमाल—**आर्य्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा?**

बन्धुवर्मा—**तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी, वैभव और ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य्य प्रस्ताव करोगी, इसकी मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था।**

जयमाला—**यदि होता?**

बन्धुवर्मा—**तब मैं इस कुटुम्ब की मनोय कल्पना को दूर ही से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिय जो केवल खड्ग का अवलम्ब रखनेवाले हैं, सैनिक**

हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीरपोषण के लिये क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्मा—भइया! तब?

बन्धुवर्मा—भीम! क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्तत्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसकरा कर अवहेलना करना और विपन्नों के लिए, देश के लिए प्राण देना।

× × × ×

जयमाला—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो!

बन्धुवर्मा—इसी क्षुद्र ममत्व ने हम को दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर होते जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

और इन भावनाओं से ओतप्रोत बन्धुवर्मा अपनी पत्नी के पक्ष में सिंहासन का त्याग करता है—'तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो! बन्धुवर्मा तो आज से आर्य्य साम्राज्य सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। (अंक २, दृश्य ४)

जब जयमाला के पक्ष में स्वेच्छया सिंहासन त्याग करता है, तो अपने विचारों के अनुसार ही वह स्कन्दगुप्त से सिंहासन ग्रहण का अनुरोध करता है। गोविन्दगुप्त उसके इस त्याग की सराहना करता हुआ साम्राज्य के बलाधिकृत होने के उपयुक्त होने की बात कहता है तो वह कह उठता है—'अभी नहीं आर्य! आपके चरणों में बैठ कर यह बालक स्वदेशसेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुम्ब, एक-एक बच्चा आर्य्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है' (अंक २, दृश्य ६)। और हम उसे शीघ्र ही गान्धार की घाटी में ललकारते हुए पाते हैं—

'वीरो! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर गाथा सुर-सुन्दरियों की वीणा के साथ मन्दध्वनि से नन्दन में गूँजे उठेगी। असीम साहसी आर्य्य सैनिक! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिसके आतंक से आज विश्वविख्यात रूम-साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो—आज के युद्ध में प्रत्यावर्तन नहीं है। जिसे लौटना हो अभी लौट जाय।'

स्कन्दगुप्त से वह कहता है—आज इस नदी की तीक्ष्ण धाराको लाल कर के बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है, आज मालव का एक भी सैनिक नासीर सेना से न हटेगा...... यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मरकर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बन्धुवर्मा मरने मारने में जितना पटु है उतना षड्यन्त्र तोड़ने में नहीं......... यहाँ हूणोंको रोकना मेरा ही कर्तव्य है। उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा' (अंक ३, दृश्य ५)।

धुंधली होकर सामने आयेगी। संयोग और वियोग की यथार्थ अनुभूति इन पंक्तियों में साकार हो उठी है।

शर्वनाग

शर्वनाग पात्रपरिचय के अनुसार अन्तर्वेद का विषयपति है, पर नाटक में उस रूप में उसका चित्रण नाम को भी नहीं हुआ है। वह एक सामान्य किन्तु प्रमुख सैनिक से अधिक कुछ नहीं है। किन्तु उसका महत्व इस दृष्टि से विशेष है कि वह नाटक की अनेक मुख्य घटनाओं से सम्बद्ध है और उसके चरित्र का उतार-चढ़ाव अपनी विशिष्टता रखता है। वह एक सैनिक है जो सदैव **सुन्दरी खड्गलता की प्रभा पर मुग्ध** रहा, अर्थात् वह वीर है किन्तु अपनी स्त्री से **उसकी अन्तरात्मा काँप उठती है**। अर्थात् वह अपनी से सदैव भय खाता रहता है। समाज में कितने ही व्यक्ति हैं जो अपनी पत्नी के सम्मुख पत्ते की तरह काँपते रहते हैं; किन्तु शर्वनाग की भाँति घर से बाहर उनके चरित्र का दूसरा पहलू वीरता भी हो, यह कदाचित विरला ही हो। प्राय: ऐसे व्यक्ति देखने में नहीं आते। सैनिक के अनुरूप वह अपने कर्तव्यों का पालन करता है। उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास है। प्रपंचबुद्धि के षड्यन्त्र की मन्त्रणा में वह सम्मिलित तो होता है, पर आत्मविश्वास को खोता नहीं। वह प्रपंचबुद्धि को चौंकते देख कर कहता है—**परन्तु आप चौंकते क्यों हैं ? मैं तो कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया या आवेगा...मैं खड्ग हाथ में लिये प्रत्येक भविष्यत की प्रतीक्षा करता हूँ, जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा...विश्वास करना और देना इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायेंगी।**' उसकी वीरता का अपना एक मापदंड है। प्रपंचबुद्धि जब धर्म की रक्षा के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेने की बात कहता और महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की सम्भावना बता कर, उन्हें संसार से हटाने की बात कहता है तो उसकी वीरता विवेक के साथ उसका प्रतिरोध करती है। वह कह उठता है—'**मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िये की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ परन्तु निरीह हत्या मुझसे नहीं हो सकती।**' वह भटार्क को ललकारता है—'**तुम सैनिक हो उठाओ तलवार। चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें मरने से कौन भागता है।**'

किन्तु उसकी हृदय की सात्विकता कुचक्रियों के फेर में पड़ कर टिक नहीं पाती; पत्नी का आतंक उसे परास्त कर देता है। उसकी **पत्नी के अभावों का कोष कभी खाली नहीं रहता, उसकी भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है**। उसकी पत्नी उसे नित्य निकम्मा, अपदार्थ बनाती रहती है। अत: जब प्रपंचबुद्धि उससे तर्क करता है, वह अपनी सारी दृढ़ता भूल जाता है। मद्यपान करके तो वह अपना सारा विवेक खो ही बैठता है और महादेवी देवकी की हत्या को प्रस्तुत हो जाता है, क्योंकि उसके सामने सोने का संसार खड़ा है। वह अपनी पत्नी के सम्मुख यह दिखा देना चाहता है कि वह भी कुछ है।

मद्यप होकर वह इतना विवेक-शून्य हो जाता है कि अपनी पत्नी रामा को भी पहचान नहीं पाता। उसके समझाने-बुझाने पर भी महादेवी की हत्या के निश्चय से विरत नहीं होता। उसे ठुकरा देता है—'**जा तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ**

करनी पड़ेगी। मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ।' और वह देवकी की हत्या के लिए जाता है। रामा सक्रिय प्रतिरोध करती है। स्कन्दगुप्त के आ जाने से वह अपने कार्य में असफल रहता है।

मद्यपान कर उसमें जो दानवता जाग उठी थी उसके शान्त होते ही उसमें पुनः विवेक का उदय हो जाता है और जब वह स्कन्दगुप्त के सम्मुख बन्दी के रूप में उपस्थित किया जाता है, तो आत्मग्लानि और पश्चाताप के आँसुओं से अपना कलुष मिटाने का यत्न करता है—'**सम्राट् मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है। जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा। दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था। ओह!**' और स्वयं आत्महत्या की चेष्टा करता है। अन्त में पश्चाताप करता है—'**मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था। अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ हूँ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देवचरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ।**' और वह तद्वत् उसका पालन भी करता है। देश सेवा में लग जाता है। जीवन के चढ़ाव-उतार का एक अच्छा उदाहरण शर्वनाग है।

धातुसेन और मुद्गल

मुद्गल और धातुसेन इस नाटक के दो अन्य पुरुष पात्र हैं जिनकी कुछ चर्चा की जा सकती है। ये दोनों ही पात्र प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषक के प्रतिरूप हैं। नाटकों में विदूषक का क्या स्थान है और उसका महत्व क्या है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। विदूषक के बिना भी नाटक का सर्जन सुन्दर हो सकता है। कथानक के घात-प्रतिघात को ऐसे ढंग से उपस्थित किया जा सकता है कि दर्शक को किसी कृत्रिम हास्य द्वारा अपने को संयत करने की आवश्यकता न पड़े। अस्तु, ऐसा लगता है कि प्रसादज ने इन दो पात्रों—धातुसेन और मुद्गल द्वारा इस दिशा में दो स्वतन्त्र प्रयोग उपस्थित किये हैं।

धातुसेन, प्राचीन कालीन नाटकों का दरबारी विदूषक नहीं है। वह सिंहल का राजकुमार है और उत्तर भारत की यात्रा करने आया है। उसे हम प्रथम कुमारगुप्त के दरबार में पहली बार देखते हैं। वहाँ वह अपनी विनोदपूर्ण वाक्पटुता का परिचय देता है। उसकी बातें विदूषक की भाँति दर्शक का मनोरंजन करती हैं, किन्तु उसकी बातों में कोरा मनोरंजन नहीं है। धातुसेन गम्भीर और विचारशील है और परिस्थितियों का विश्लेषण कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की उसमें अपूर्व क्षमता है। उसकी विशेषता यह है कि वह अपनी बातों को इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि लोगों को उसकी तथ्यपूर्ण बातें भी बोझिल नहीं जान पड़तीं। तत्कालीन राजदरबार की अवस्था का उसके इन वाक्यों में सजीव चित्रण हो उठा है—

सुना है सम्राट्! स्त्री की मन्त्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसी लिए उन्हें (बालि को) राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गयी। परमभट्टारक की दुहाई! स्त्री को मन्त्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूछों वाले मन्त्रियों के बदले उनकी एकान्त मन्त्रणा कल्याणकारी होगी।

× × × ×

वह चाणक्य कुछ भांग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिये।

× × × ×

भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी सन्तान उत्पन्न हों।

× × × ×

यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छन्दतापूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा।

धातुसेन कोरा विचारक और वाक्यपटु ही नहीं है, वरन् वह कर्मक्षेत्र में उतर कर कार्य करनेवाला भी है। वह स्कन्दगुप्त के साथ देवकी के उद्धार के लिए बन्दीगृह में जाता है, देश में ब्राह्मण और बौद्धों के बीच फैली' हुई विद्वेष भावना को दूर करने की चेष्टा करता है। हूणों के षड्यन्त्र को विफल करने में महत्वपूर्ण भाग लेता है। वह अपने साहस और पराक्रम से अनन्तदेवी, हूण सेनापति आदि को बन्दी बना कर न केवल प्रख्यात-कीर्ति आदि की जीवन रक्षा करता है. वरन् विदेशियों और देशद्रोहियों के विकट षड्यन्त्र से देश की रक्षा भी करता है। उसका सर्वोपम गुण है भारतभूमि के प्रति अभेद की भावना। कुमारदास के रूप में मातृगुप्त से उसकी जो बातचीत होती है, उसमें इसकी स्पष्ट झलक मिलती है—'**समझ में न आया सिंहल और काश्मीर में क्या भेद है**' (अंक १, दृश्य ३)। '**भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है।**' (अंक ४, दृश्य ४)।

इस प्रकार प्रसादजी ने धातुसेन के रूप में एक ऐसे पात्र की रचना की है जो नाटक को सभी परिस्थितियों में योग देता हुआ विदूषक का कार्य सम्पन्न करता है, किन्तु विदूषक की स्थिति से परे है।

मुद्गल धातुसेन से भिन्न प्रकार का पात्र है, वह प्राचीन नाटकों के विदूषकों के अधिक निकट है। प्रसाद ने उसको विदूषक का ही काम सौंप कर दर्शकों के सामने भेजा है; किन्तु साथ ही उन्होंने उसका प्रयोग घटनाओं की सूचना प्रस्तुत करने और यत्र-तत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान के लिए भी किया है। इसलिए वह कोरा विदूषक भी नहीं है। विनोद के अतिरिक्त उसके चरित्र में कोई विशेषता नहीं है। हाँ, उसके अन्त में सहानुभूति की मात्रा पर्याप्त झलकती है। वह मातृगुप्त की दीनदशा से द्रवित होकर उसे युवराज भट्टारक के पास रखवा देता है। हूणों के हाथों निरीह नागरिकों की यातना उसे कातर और त्रस्त बना देती है। विजया के चरित्र से परिचित होते हुए भी उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करता है। इस प्रकार यह पात्र भी अपनी परम्परा से हटता हुआ प्रसादजी का एक नया प्रयोग कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त नाटक के कुछ और पात्र यथा—भीमवर्मा, प्रपंचबुद्धि, प्रख्यातकीर्ति, पृथ्वीसेन, खिंगिल आदि बच रहते हैं; किन्तु उनका स्थान नाटक में इतना नगण्य है कि उनके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

नारी पात्र

इस नाटक में आठ नारी पात्र हैं —देवकी, अनन्तदेवी, जयमाला, देवसेना, विजया, कमला, रामा और मालिनी। इनमें **देवकी** का स्कन्दगुप्त की माता होते हुए भी नाटक में स्थान अत्यन्त नगण्य है। वह केवल तीन स्थानों पर हमारे सामने आती है : अंक २ दृश्य ४, अंक २ दृश्य ७ और अंक ४ दृश्य २। पहले दृश्य में वह बन्दीगृह में दिखायी गयी है। वहाँ उसकी दीन अवस्था का सामान्य चित्रण मात्र हुआ है। दूसरे दृश्य में उसका स्वरूप क्षमा का दिखाया गया है। वहाँ वह अपने अपराधियों को क्षमा करती दिखायी गयी है। अन्तिम बार वह स्कन्द को खोजती भटकती दिखाई गयी है। वहाँ उसका अन्त हो गया है। इस प्रकार उसके चरित्र के स्वरूप को देखने का हमें कोई अवसर नहीं मिल सका है। फलतः उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

जयमाला

जयमाला, मालव नरेश बन्धुवर्मा की पत्नी है। वह हमारे सम्मुख अपने निराश पति को प्रोत्साहित करती हुई एक वीरबाला के रूप में आती है—'**नाथ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह विक्रम की सेना पर टूट पड़ो! दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूँ।**' वह युद्ध को गान समझती है—'**जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।**' और वह वीरता के साथ युद्ध करती हुई दिखाई पड़ती है। किन्तु वीर होते हुए भी वह अपने पति के समान उदार हृदय नही है। वह अपने पति के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं है कि मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को सौंपा दिया जाय। किन्तु जब बन्धुवर्मा उसे ही राज्य सौंप कर अलग हो जाते हैं तो वह स्वेच्छया स्कन्दगुप्त को राज्य सौंपने को प्रस्तुत हो जाती है और सौंप भी देती है। यदि जयमाला में राज्य के प्रति मोह की स्वाभाविक दुर्बलता न होती तो वह निस्सन्देह एक आदर्श नारी कही जाती, किन्तु वह आदर्श यथार्थ से बहुत ऊँचा होता जिसे छू पाना सम्भव नहीं। उसका यह रूप ही यथार्थ है साथ ही आदर्श के अत्यन्त निकट भी। यदि नाटक में इसके चरित्र को निखरने का कुछ और अवसर मिल पाता तो अच्छा होता।

रामा

रामा शर्वनाग की पत्नी है। वह राजभक्त कर्तव्यपरायण दासी है। वह महारानी देवकी की रक्षा के लिए उत्सुक और सन्नद्ध है। उसके लिए जो कुछ भी सम्भव हो सकता है करती है। जब उसका पति मद्यप अवस्था में देवकी की हत्या करने को प्रस्तुत होता है तो पहले उसे समझाती है, जब वह नहीं मानता तो उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है और मरने से नहीं डरती। इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति आदर्श रूप है। उसे

नाटक में अन्तिम बार हम पगली के रूप में पाते हैं। उस समय वह हूणों के अत्याचारों से विक्षिप्त हो उठी है, अपने प्रलाप में स्कन्दगुप्त की वह जिस प्रकार भर्त्सना करती है, वह उसके चरित्र की उज्ज्वलता को और निखार देता है।

कमला

कमला भटार्क की माँ है, किन्तु उसके हृदय में मातृत्व की दुर्बलता नहीं है। वह भटार्क के राष्ट्रद्रोह से अत्यन्त दुःखी है—'**मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों नहीं गयी; क्यों अपने कलंकपूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा; मेरा सिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय!...ग्लानि है इसलिए कि तू राज्यकुल की शान्ति का प्रलय मेघ बन गया; और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न!!**'

और अपनी इसी मनोवेदना को व्यक्त कर वह सन्तुष्ट नहीं हो जाती। वह उसे दंडनायक को समर्पत करने की बात भी सोचती है और जब गोविन्दगुप्त द्वारा भटार्क बन्दी किया जाता है तो कह उठती है—'**अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।**'

जब जब भटार्क अपनी माँ के सामने आता है वह उसकी भर्त्सना करती है—'**मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूँ! जिस जननी की सन्तान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्यों मुँह दिखाना चाहिये? ...मैंने भूल की; सूतिकागृह में ही तेरा गला घोंट कर क्यों न मार डाला! आत्महत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रायश्चित नहीं।**'

मातृत्व का इतना ऊँचा आदर्श, देशभक्ति का यह अद्भुत उदाहरण जगत में विरला ही होगा। उसके हृदय में असीम जीवन-शक्ति है। हताश, निस्सहाय स्कन्दगुप्त को वह बल प्रदान करती है '**कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो।...उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोनेवालों को जगाओ और रोने वालों को हँसाओ। आर्य्यावर्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य्यपताका के नीचे समग्र विश्व होगा।**' उसकी वाणी की यह ओजस्विता प्रभावोत्पादक है।

कमला अपने उद्देश्य की महत्ता, चरित्र की उज्ज्वलता और कर्तव्य के प्रति दृढ़ता के साथ एक आदर्श माता है।

अनन्तदेवी

अनन्तदेवी प्रथम कुमारगुप्त की पत्नी और पुरगुप्त की माता है। इस नाटक में यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम सामने आती है, पर वस्तुतः वही नाटक के एक प्रमुख अंश का केन्द्रविन्दु है। नाटक में उसका स्थान खलनायक का-सा है। वह वृद्ध सम्राट् की छोटी रानी है जो स्वभाव से ही महत्वाकांक्षी है। वह उत्तराधिकार के नियम के प्रतिकूल बड़ी रानी देवकी के पुत्र युवराज स्कन्दगुप्त को अधिकारच्युत कर अपने

पुत्र पुरगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाना चाहती है। अपनी इस आकांक्षा-पूर्ति के लिए जो ताना-बाना वह बुनती है, वह इस नाटक का एक प्रमुख अंश है। '**विषयरत वृद्ध सम्राट् को विलास की अधिक मात्रा से जीवन के जटिल सुखों की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त कर**' अपने लिए कार्य-क्षेत्र एवं अनुकूल वातावरण तैयार कर लेती है। वह भटार्क को महाबलाधिकृत बनवा कर उसे चिर कृतज्ञता के पाश में बाँध लेती है और फिर उसे अपनी कार्य-सिद्धि का साधन बनाती है। वह अपनी कार्य-सिद्धि दूसरों के माध्यम से ही करना नहीं जानती, वरन् स्वयं अपने साहस और प्रयास का भी उपयोग करती है। वह जानती है कि—'**क्षुद्र हृदय जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिये स्वप्न है।' वह अपने नियति के पथ पर अपने पैरों चलना** चाहती है, दूसरे की शिक्षा उसे अभीष्ट नहीं। फलतः भटार्क और क्रूर-आकृति एवं क्रूरकर्मी प्रपंचबुद्धि के सहयोग से वह मगध में **पारसीक मदिरा की धारा के स्थान पर रक्त की धारा बहाने** और गुप्त-साम्राज्य में **खंड प्रलय** उपस्थित करने का उपक्रम करती हैं; और हम देखते हैं कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण एवं रहस्यमय मृत्यु, महादेवी देवकी की हत्या का आयोजन। देवकी की हत्या के लिए वह शर्वनाग को तैयार करती है, विचलित होने पर **कुत्तों से नुचवा देने का भय** दिखाती है। किन्तु अपने इस षड्यन्त्र में वह सफल नहीं हो पाती। असफल होकर स्कन्दगुप्त के सम्मुख गिड़गिड़ाती है और वह उसे क्षमा कर देता है—'**कुसुमपुर में पुरगुप्त को ले कर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है।**'

पर अनन्तदेवी पर इस चेतावनी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी महत्वाकांक्षा-पूर्ति से बाज नहीं आती। पुरगुप्त की उदासीनता देख कर क्षुब्ध हो जाती है—'**निर्वीर्य्य, निरीह बालक! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है? लज्जा के गर्त्त में डूब ही जाते।**' पर उसे सिंहासन पर बैठाने की प्रस्तावना से विचलित नहीं होती। हूणों से उत्कोच लेकर उनका साथ देती है। फलतः उसी की योजना के परिणाम स्वरूप स्कन्दगुप्त की नगरहार में पराजय होती है। इस प्रकार वह अपनी योजना में सफल रहती है। वह पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाने के अपने लक्ष्य में भी सफल होती है, यद्यपि उसकी इस सफलता में उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

अनन्त देवी महत्वाकांक्षी एवं कुटिल होने के साथ विषयलोलुप और विलासिनी भी है। वह अपने प्रेमपाश में भटार्क को बाँधना चाहती है। भटार्क अनुभव करता है कि '**उसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर आरक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है।**' और हम देखते है कि वह अपने पुत्र पुरगुप्त के सम्मुख निर्लज्जतापूर्वक मद्यपान करती है और भटार्क को साथ लेकर जाती है। उसकी यह विलासिता उसकी महत्वाकांक्षा-पूर्ति का एक साधन मात्र जान पड़ती है। जब विजया भटार्क के प्रति उसके आकर्षण का भंडाफोड़ करती है तो वह हँस कर वास्तविकता प्रकट कर देती है—'**तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य, साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है।**'

महत्वाकांक्षा-पूर्ति के लिए साहस दिखाना अनन्तदेवी के चरित्र की ही विशेषता नहीं है। जब मनुष्य अपनी किसी आकांक्षा की पूर्ति पर तुल जाता है तो वह साहसी हो ही जाता है। उस समय वह अच्छे-बुरे का विवेक लेकर उधेड़-बुन करने नहीं बैठता। जो भी उपाय सम्भव हों, उन सबको काम में लाता है। अतः अनन्तदेवी ने वही किया जो उसकी स्थिति में कोई भी करता। पति की हत्या, पुत्र से विरोध, सपत्नी के प्रति द्वेष, उसके वध की चेष्टा, शत्रु की सहायता ये सारे कार्य मर्यादा के प्रतिकूल भले ही हों, उसे उसकी चारित्रिक दुर्बलता भले ही कहें, पर हैं वे यथार्थ। उसे आदर्श की कसौटी पर कसने की चेष्टा करना वास्तविकता को विकृत बनाना होगा। प्रसाद ने अनन्तदेवी के रूप में जिस यथार्थ का चित्रण किया है, वह सर्वत्र देखा जा सकता है। उसके चरित्र का विश्लेषण करते ही शेक्सपियर की लेडी मैकबेथ की याद आ जाती है। दोनों ही स्त्रियों की महत्वाकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए कठोरता में अद्भुत समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि लैडी मैकबेथ भयानक कृत्य कर जाती है जिसके लिए उसे पश्चाताप भी करना पड़ता है। अनन्तदेवी क्रूरता की ओर बढ़ कर भी उसकी सीमा तक नहीं पहुँच पाती। उसके लिए अवसर न रहा हो, ऐसी बात नहीं है। एक आलोचक मित्र के शब्दों में लगता है प्रसाद की कविजनोचित कोमलता स्त्रियों को इतना निर्दय बनाना स्वीकार न कर सकी।

एक बात और, प्रायः नाटकों और उपन्यासों में हम नीच कर्मों का फल उसके अनुरूप मिलता हुआ पाते है। लेखक प्रायः उसका परिणाम दिखाना आवश्यक समझते है, किन्तु प्रसाद जी ने इस नाटक में कहीं भी इस बात का संकेत नहीं किया है कि अनन्तदेवी का अन्त कैसा रहा। इतिहास से हम इसका उत्तर पाने की आशा नहीं रखते, क्योंकि नाटक की घटनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों से दूर जा पड़ी हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि प्रसाद आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को अधिक निखरे रूप में हमारे सामने रखना चाहते हों? सभी बुराइयों का प्रतिफल मिले ही, यह आवश्यक नहीं—यह एक नग्न तथ्य है।

विजया

विजया और देवसेना इस नाटक के दो ऐसे पात्र हैं, जिनसे यह नाटक रंगीन हो उठा है। विजया मालव की श्रेष्ठि-कन्या है। वह अपने वर्ग की जन्मजात विशेषता श्रम से अर्जित धन की रक्षा के लिए चिन्तित, वणिक् स्वभाव लेकर पाठकों के सामने आती है। हूणों का भयंकर आक्रमण होने पर रक्षार्थ मालव दुर्ग में आयी हुई है। वहाँ वह धन-रक्षा के लिए विशेष चिन्तित है, यद्यपि वह उसे छिपाना चाहती है। उसकी धन-लोलुपता ऐसी बढ़ी हुई है कि वह **अपनी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश** भी नहीं देना चाहती, किन्तु अपनी इस दुर्बलता को यह कह कर छिपाना चाहती है कि '**इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।**'

उसके इन शब्दों को सुन कर पहले तो ऐसा लगता है कि वणिक् पुत्री होकर भी उसमें कुछ दृढ़ता और साहस है, पर जब युद्ध की वास्तविक स्थिति आती है तो उसकी संस्कार जन्य दुर्बलता प्रकट हो जाती है। **उसकी स्वर्ण रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली की तलवारों का तेज सह नहीं पातीं।** जयमाला के हाथ में छुरी देख वह काँप उठती है।

वह कल्पना भी नहीं कर सकती कि नारियाँ घनघोर युद्ध की उपेक्षा कर गीत गा सकती हैं अथवा वे दुर्ग का भार अपने ऊपर ले सकती हैं। तभी तो वह जयमाला की बात को वाचालता समझती है और बन्धुवर्मा से कह उठती है कि '**दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिये**। देवसेना और विजया के साहस को देख आश्चर्य चकित हो उठती है और उसके मुँह से निकलत पड़ता है—'**तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो या स्त्री हो ? देवी! ज्वालामुखी के सुन्दर लट के समान तुम लोग...**'

विजया की हृदगत् इस कातर भावना को हम थोड़े ही दिनों पश्चात् विगलित होते पाते है। आगे के दृश्यों में वह एक साहसी नारी के रूप में निखरी हुई हमारे सामने आती हैं; किन्तु यह कहना पड़ेगा कि उसके साहस को उभारने में सन्देह और ईर्षा का ही विशेष हाथ है। देवसेना के प्रति ईर्षा जगने पर वह भयानक श्मशान में उसके साथ घूमती है। जिस छुरी को देख कर मालव दुर्ग में वह एक दिन काँप उठी थी, उसी को वह सदैव अपने पास रखती है और एक दिन उसी से आत्महत्या कर लेती है।

उसके साहस का रूप ईर्षा और द्वेष से ऊपर उठा हुआ भी मिलता है। हम देखते है कि देशके प्रति अपने कर्तव्य की सजगता को लेकर हताश मातृगुप्त को साहस प्रदान करती है—'सुकवि शिरोमणि! **गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ? एक बार वह उद्बोधन गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ...एक नहीं ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देवतुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जायँ और समुद्र काँप कर रह जाय; अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़े। हम तुम गली-गली कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे।**' 'उसके इस उद्बोधन को सुन कर मातृगुप्त के मुख से उचित ही निकल पड़ा है—**वीरबाले**!'

किन्तु विजया की कायरता और साहस का यह रूप उसके जीवन के चरित्र का एक अंश मात्र है। मूलतः वह सुख-भोग की लालसा, मिथ्याभिमान, ईर्षा और सन्देह से युक्त नारी है। यह उस जैसी ऐश्वर्यवाली युवती की सहज प्रवृत्ति कही जा सकती है। हम देखते है युद्धस्थल के बीच ही मालव दुर्ग में वह स्कन्दगुप्त के प्रति आकृष्ट होती है—'**अहा! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है**।' और देवसेना के सम्मुख '**युवराज के सामने मन ढीला होने**' की बात स्वीकार करती है, पर साथ ही उसे वह कुछ **राजकीय प्रभाव कह कर टाल भी देना** चाहती है। और युवराज को राज्य की ओर से उदासीन पाती है, देखती है—**दुर्बलता उन्हें राज्य से हटा रही है**, तो उसे एक झटका-सा लगता है और स्वयं स्कन्दगुप्त के प्रति उदासीन हो जाती है। लगता है उसके आकर्षण में अन्तस् का उतना वेग नहीं था जितना कि ऐश्वर्य का मोह। ऐश्वर्य का अभाव सामने आते ही वह स्कन्दगुप्त को भुला देना चाहती है। उसके सम्मुख चक्रपालित का **वीर हृदय, प्रशस्त वक्ष, उदार मुख-मंडल** नाच उठता है और कदाचित उसके मन में उसके **महत्वाकांक्षी** होने की भी बात उठती है और अपने **वैभव से उसे क्रय करने** की बात भी सोचती है। सम्भवतः चक्रपालित उसकी पहुँच के बाहर था अथवा कुछ ही दिनों बाद उसके जीवन में भटार्क आ जाता है और वह उसे भूल जाती है, जिससे चक्रपालित के प्रति उसके भाव स्पष्ट नहीं हो पाते।

हम देखते हैं भटार्क की वीरतत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति और गुप्त-साम्राज्य के महा-बलाधिकृत का उच्च आसन उसे अपनी ओर खींच लेता है। वह उसकी ओर से इतना खिंच उठती है कि अकारण ही बन्दी होने को प्रस्तुत हो जाती है और भटार्क को अपनी भावनाओं को प्रकट करने का अवसर दिये बिना ही स्कन्दगुप्त के सम्मुख बिना किसी झिझक के कह उठती है कि उसने **भटार्क को वरण किया है**। यहीं उसकी लालसाओं का अन्त नहीं होता। वह भटार्क को आत्मसमपर्ण कर विडम्बनापूर्ण विलासमय जीवन व्यतीत करने लगती है। भटार्क अनन्तदेवी के इशारों का दास था, वह पुरगुप्त को सम्राट् बनाने के लिए प्रतिश्रुत था, अतः विजया भी अनन्तदेवी की चाटुकारिता में रत हो कर पुरगुप्त के विलास का साधन बनती है।

इस प्रकार हम विजया को वासना के पथ पर एक से दूसरे के पास भटकते हुए पाते है। इसे युवावस्था का उन्माद कह कर नहीं टाला जा सकता। वह तो ऐश्वर्य की भूख की शान्ति के लिए एक से दूसरे के पास दौड़ती फिरती है, किन्तु जब उसे सफलता नहीं मिलती अर्थात् **क्षुद्र पुरगुप्त का विलास जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर** उसको सन्तुष्ट नहीं कर पाता तो उसे पुनः अपने भटार्क की याद आती है और तब हमें विजया का एक नया स्वरूप देखने को मिलता है।

वह भटार्क को अपना समझ कर अनन्तदेवी के प्रति क्षुब्ध हो उठती है। यह समझ कर कि अनन्तदेवी ने भटार्क को उससे छीन लिया है, वह उत्तेजित हो उठती है। उसे अपनी **राह से हटाने की बात** कहती है। वह चिल्ला पड़ती है—**प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से नहीं वंचित कर सकता। प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े–विघ्नों को—दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती है। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती हैं।**' किन्तु अनन्तदेवी की विकराल फटकार के सामने उसका यह गर्जन, कोरा गर्जन ही रह जाता है। वह वज्र बन कर उस पर टूट नहीं पड़ता। विजया में वह साहस नहीं, जो कुछ कर सके।

विजया भटार्क को अपना कर, स्कन्दगुप्त के प्रति विरक्तभावना व्यक्त कर भी स्कन्दगुप्त को भुला नहीं पाती। स्कन्दगुप्त के हृदय पर प्रथम दर्शन में ही **विजया के रूप और सौन्दर्य की छाप लग गयी थी**। अतः भटार्क के वरण की बात सुन कर वह हतप्रभ हो उठता है और कह उठता है—'**तुमने यह क्या किया है, विजया ?** स्कन्दगुप्त के इस मनोभाव के जानने के पूर्व ही विजया देवसेना से ईर्ष्या करने लगी थी और अब स्कन्द के मनोभाव जानकर वह पश्चाताप करती है—**उस उच्छृङ्खल वीर को मैं लौहशृंखला पहना सकूँगी ? उसे अपने बाहुपाश में जकड़ सकती हूँ ? हृदय के विफल मनोरथ !**'

और उसकी यह विकलता देवसेना के प्रति ईर्ष्या को प्रज्वलित कर देती है। उसे देखते ही वह उत्तेजित हो उठती है '**राजकुमारी ! मुझे मत छेड़ना, मैं तुम्हारी शत्रु हूँ।**' वह देवसेना के प्राण लेने पर तत्पर हो जाती है। उसके लिए वह प्रपंचबुद्धि से सहायता लेती है और देवसेना को फुसला कर प्रपंचबुद्धि के पास बलि के लिए ले जाती है; किन्तु अपनी योजना में सफल नहीं होती।

अन्त में वह स्कन्दगुप्त की खोज में निकलती है। यह उसका अपूर्व साहस है। चारों ओर से ठोकरें खाकर भी उसमें सुख की लालसा बनी हुई है। अपने वणिक् स्वभाव के बल पर वह अब भी जीवन को सुखमय बनाने का स्वप्न देखती है—**'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, विजया भी एक बार वही करेगी। ...यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती। मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन के लिए सम्राट् को दूंगी और एक बार बनूंगी महादेवी, क्या नहीं होगा? अवश्य होगा, अदृष्ट ने इसीलिए उस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ। तो आज वही करूँगी।'**

तब हम उसे देखते हैं स्कन्दगुप्त के निकट प्रणय-याचना करते हुए। वह अनुनय करती है—**'तुम्हारे लिए मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है।'** प्रलोभन देती है—**'मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो...मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प कर लिया है और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतन्त्र करा दूँगी; अथलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।'**

लोभ से जब वह स्कन्दगुप्त को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती तो वह उसकी वासना को उत्तेजित करना चाहती है—**'क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गयी है? आओ, हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनन्द लो!...कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सबका बोझ अपने सिर पर लाद कर क्यों व्यस्त होते हो?...यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ...।'**

अपने उद्देश्यों में वह सफल नहीं होती और अन्त में स्कन्दगुप्त और भटार्क दोनों से तिरस्कृत हो आत्महत्या कर लेती है।

प्रसाद ने विजया के रूप में नारी के एक जटिल स्वरूप को अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है। विजया नारी की सम्पूर्ण दुर्बलताओं का आदर्श है। उसका सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन विजया के चरित्र के रूप में प्रस्तुत कर जीवन के एक पक्ष—नारी-स्वभाव के यथार्थ को हमारे सम्मुख रख दिया है।

देवसेना

देवसेना मालव राजकुमारी है। उसका जीवन पहेली का रूप लेकर हमारे सम्मुख आता है। **युवावस्था के उन्मादकाल में संगीत की एकान्त साधना में लीन, भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी** अपने चरित्र की विचित्रता लेकर हमारे सम्मुख अवतरित होती है। हम उसे भयानक युद्ध आसन्न जानकर भी गीत गाने के लिए उत्कंठित पाते हैं। उसे यह कहते सुन कर कि—**'तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ!'** अथवा **'भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूं प्रिय गान, फिर गाने को मिले या न मिले,'** हम वणिक् वृत्ति और सांसारिक सुख की चाह रखनेवाली विजया के समान ही सहसा चौंक

उठते हैं और मुँहसे निकल पडता है--'**युद्ध और गान** !' किन्तु इस विचित्र रमणी के लिए तो **करुण कोमल तान के बिना सब रंग फीका लगता है।** वह संगीत को ब्रह्म की सत्ता के समान सर्वत्र व्याप्त देखती है—'**प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है । . . .पक्षियों को देखो, उसकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' में, काकली में रागिनी है. . .तुमने एकान्त टीले पर, सबसे अलग, शरद् के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूल से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है ? . . . .उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता, वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजा कर, झूम-झूम कर नाचता है । अपना नृत्य अपना संगीत, वह स्वयं देखता है, सुनता है । उसके अन्तर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है । वह बड़े कोमल स्वर में गाता है. . .।**'

देवसेना का यह संगीत-प्रेम हमें चाहे बन्धुवर्मा के शब्दों में '**विचित्र राग**' भले ही लगे, पर है वह उसके जीवन का दर्शन। वह सामान्य अनुभूति के स्तर से बहुत ऊँचे उठ कर रहस्यात्मक अनुभूति में पहुँची हुई रमणी है। इसी कारण हम उसके जीवन की भावाभिव्यक्ति संकेतपूर्ण और गम्भीर पाते हैं, जो उसे सामान्य नारी से कहीं ऊँचे उठा देती है। पारिजात के परिचय के मिस वह अप्रस्तुत रूप से अपने ही को व्यक्त करती है। संगीत की प्रभविष्णुता और उसका मनोहर स्वरूप वह जिस प्रकार वृक्षों, पक्षियों तथा विश्व के अन्य रूपों में देखती है, वैसे ही मंगलमय रूप की वह मानव प्रकृतिमें भी कल्पना करती है। वह जयमाला से कहती है--'**सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है।**' अन्यत्र वह कहती है—'**संसार में ही नक्षत्र से उज्जवल—किन्तु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं।**'

किन्तु देवसेना के संगीत में करुणा की मात्रा तीव्र है। उसकी यह करुणा परिस्थिति-जन्य है। जिस प्रणय उपासना के लिए उसने **बागेश्वरी की** तान का अभ्यास किया था, उसके दुष्प्राप्य होने पर ही उसके संगीत का स्वर वेदनायुक्त हो जाता है। जयमाला के शब्दों में '**जब वह गाती है तो उसके भीतर की रागिनी रोती है। जब उसके हृदय में रुदन का स्वर उठता है तभी वह संगीत की वीणा मिला लेती है। बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।**'

देवसेना के जीवन में प्रणय-कथा अत्यन्त करुण और मर्मस्पर्शी है। मालव नरेश की सहायता के लिए आये हुए स्कन्दगुप्त के प्रति देवसेना आकृष्ट हो जाती है और स्कन्द-गुप्त आकृष्ट हो जाता है विजया के प्रति। विजया का भी स्कन्दगुप्त के प्रति आकर्षण छिप नहीं पाता। बातों-बातों में वह जान लेती है कि **युवराज के प्रति उसका मन ढीला हुआ है।** यह जान कर भी उसमें द्वेष भाव नहीं जगता, यद्यपि उसे तनिक धक्का अवश्य लगता है जिसकी प्रतिध्वनि हमें उसके इन शब्दों में सुनाई पड़ती है—'**तुम भाग्यवती हो, देखो यदि यह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे।**' वह अपने अन्तर की वेदना को अपने संगीत-दर्शन में कौशलपूर्वक छिपा लेती है। न्यायाधिकरण में स्कन्दगुप्त के सम्मुख जब विजया अपने भटार्क के वरण की बात कहती है तो स्कन्दगुप्त का अन्तस् में छिपा आकर्षण कचोट

उठता है और उसके भाव प्रकट हो उठते हैं। और तब देवसेना के मुँह से बरबस निकल पड़ता है—'**जिसकी मुझे आशंका थी वह है। विजया तू हार कर भी जीत गयी।**'

यह देवसेना के लिए एक बहुत बड़ा आघात था। जिस व्यक्ति पर नारी अपना सर्वस्व निछावर कर चुकी हो, वह दूसरी स्त्री का स्वप्न देखे, यह उसे सह्य नहीं; यह नारी-स्वभाव ही है। पर हम देखते हैं कि अपने को पराजित पाकर भी देवसेना क्षुब्ध नहीं होती, उसे क्रोध भी नहीं आता विजया पर। वरन् उसे दया ही आती है विजया की उस जल्द-बाजी पर, जिसके कारण उसने प्रतिहिंसावश भटार्क का वरण कर दिखाया है। अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ वह विजया से जानना चाहती है—'**क्या जो तुमने किया है, उसे सोच-समझ कर? कहीं तुम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया?**' विजया के इस भ्रम को कि देवसेना ने उपकारों की ओट में उसके स्वर्ग को छिपा दिया, वह भ्रम को दूर करने की सतत् चेष्टा करती है। वह समझाना चाहती है—'**मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।**' विजया के भ्रम के कारण उसे जो मनोव्यथा है, वह प्रपंचबुद्धि के सम्मुख इन शब्दों में व्यक्त करती है: '**एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी!**' यह देवसेना के चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है।

देवसेना स्कन्दगुप्त से प्रेम करती है, किन्तु मूल्य देकर उनका प्रणय नहीं लिया चाहती। बन्धुवर्मा स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य भेंट करते हैं। उसे लगता है—'**लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।**' वह अपनी प्रेमाकांक्षा को भी स्कन्दगुप्त पर प्रकट नहीं होने देना चाहती। उसकी दृष्टि में स्कन्दगुप्त से **प्रेम-चर्चा करना उनका अपमान करना है। वह नीरव जीवन, एकान्त व्याकुलता और कचोटने में** ही सुख का अनुभव करती है। उसे अपने हृदय की सहज दुर्बलताओं का बोध होता है—'**मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है; म उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं।**' उसके हृदय में **बरसाती नदी का वेग भरा है कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा**...उसमें वह प्रेम को, प्रियतम को, सुख-संसार को भुला कर अपनी जीवन-नौका चलाने का यत्न करती है। भौतिक सुख-साधना, शारीरिक विलास भावना के उन्माद को जिस त्याग और संयम के साथ कठोर नियन्त्रण करती है, वह वस्तुतः अद्भुत है, अपूर्व है।

स्वयं प्रणय-याचना तो करती ही नहीं, जब स्कन्दगुप्त प्रणय की भिक्षा माँगने द्वार पर आ खड़ा हुआ, तब भी वह हिमालय की भाँति अचल रहती है—'**सो न होगा सम्राट्! मै दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी।**' जब बन्धुवर्मा की इच्छा की याद स्कन्दगुप्त दिलाता है तो देवसेना का नारीत्व क्षुब्ध हो उठता है। वह अपने मनोभाव छिपा नहीं पाती और कह ही उठती है—**उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को, कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके प्राप्य में भाग न**

लूँगी ।' देवी से नारी के स्तर पर उतर कर वह पुनः देवत्व से ऊँचे उठ जाती है, किन्तु देवत्व की कठोरता नारी की सुकुमार भावना सहन करने में असमर्थ रहती है और उसके धैर्य का बाँध टूट पड़ता है । भरे हुए कंठ से उसे वह बात कह ही देनी पड़ती है जिसे वह अब तक अपने ही में छिपाये हुए थी—'**इस हृदय में...आह कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये । नाथ, मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती...**' और वह चली जाती है ।

देवसेना ने अपने आदर्श तथा अपनी आन की झोंक में स्कन्दगुप्त के प्रस्ताव को ठुकरा तो दिया, किन्तु शरीर की स्वाभाविक भूख को कोरी आदर्शवादिता से मिटाया नहीं जा सकता । वह व्यथित हो उठती है । उसी व्यथा को व्यक्त करने के लिए प्रसाद ने अन्तिम दृश्य का सर्जन किया है । किन्तु हम देखते हैं देवसेना के संयम का बाँध अब भी बँधा हुआ है। वह मचलते हुए हृदय को समझाने का चेष्टा कर ती है—'**हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा । जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ?**'

देवसेना के चरित्र का एक पहलू और भी है, और वह है देशप्रेमिका और समाज-सेविका का । उसे संगीत-दर्शन की व्याख्या करते और प्रणय-व्यथा से छटपटाते देख कर उसके इस रूप की ओर हमारा समुचित ध्यान नहीं जा पाता । वह हमारे सम्मुख अपने इस उपेक्षित रूप में ही सबसे पहले आती है । हम उसे नाटक के प्रथम अंक में अन्तःपुर की रक्षा के लिए चिन्तित भाई भीमवर्मा को आश्वस्त करते देखते हैं—'**भइया, आप निश्चिन्त रहिये ।**' और उसी आश्वासन के अनुरूप हम उसे दुर्ग-रक्षा के लिए युद्धरत पाते हैं । जब बन्धुवर्मा साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्यराष्ट्र के त्राण के लिए मालव का सिंहासन स्कन्दगुप्त को सौंपना चाहते हैं और जयमाला इस प्रस्ताव से सहमत नहीं होती तो देवसेना उसे वीरोचित ढंग से समझाती है—'**क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो; भइया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान और कितना पवित्र** और अपने को राष्ट्र-सेवा के लिए वह सौंप देती है—'**चलो भाई, मैं भी तुमलोगों की सेवा करूँगी ।**'

देवसेना के देशप्रेम का निखरा रूप हमारे सम्मुख उस समय आता है जब पर्णदत्त देश के दुर्दशाग्रस्त वीरों की सेवा के लिए तत्पर होता और देवसेना उनका सहयोग करती है । वह इन वीरों के अनाथ बच्चों के पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए भीख माँगती है । मालव राजकुमारी का यह रूप हमारी आज की नवयुवतियों के लिए सेवा का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है । अपनी इस दीनावस्था में भी देवसेना अपनी सहज सहिष्णुता का त्याग नहीं करती । भीख माँगनेवाली देवसेना के प्रति जब कुछ लोग वासनापूर्ण कटाक्ष करते हैं तो पर्णदत्त उन लोगों के प्रति उत्तेजित हो उठता है, पर देवसेना शान्त बनी रहती है, उन्हें समझाती है—'**क्या है बाबा । क्यों चिढ़ रहे हो ? जाने दो, जिसने नहीं दिया—उसने अपना, कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया ।**'

देवसेना का यह रूप यद्यपि बहुत विस्तृत रूप में हमारे सामने नहीं आया है, उसकी केवल कुछ झाँकी ही देखने को मिलती है, पर जो कुछ भी है, वह उसे आदर्श की कोटि मे ले जा बैठाता है, पर है वह लौकिक ही ।

राज्यश्री

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

गुप्त शासकों के पतन के पश्चात् छठी शताब्दी के आरम्भ में उत्तर भारत के इतिहास ने एक नया रूप धारण किया। समझा ऐसा जाता है कि गुप्त शासकों के वंशज यद्यपि निर्बल होगये थे, फिर भी उनका दावा समूचे गुप्त-साम्राज्य पर था। वैसे ये अधिकारी केवल मगध और बंगाल के थे। सम्भव है कि यह अधिकार कुछ काल के लिए मालवा पर भी रहा हो। ये गुप्त शासक **पिछले गुप्त** के नाम से इतिहास में पुकारे जाते हैं। इन गुप्तों के मुकाबले में अन्तर्वेद के ठीक बीच दक्षिण पांचाल की राजधानी **कान्यकुब्ज** (कन्नौज) में **मौखरी** नामक नया राजवंश उठ खड़ा हुआ। मौखरी लोगों की ख्याति सर्वप्रथम हूणों के युद्ध में हुई। पाँचाल की तरह कुरु देश का **वैसवंश** भी हूणों के युद्ध में प्रसिद्ध हुआ था। उसने भी इस काल में राजवंश का रूप धारण कर लिया। इसने अपनी राजधानी **स्थाण्वीश्वर** (थानेसर) को बनाया। आगे चल कर मौखरीवंश ने साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। उसके अन्तर्गत सौराष्ट्र से मगध तक और दक्षिण में आन्ध्र तक का देश सम्मिलित हो गया और गुप्त शासक सम्भवत: बंगाल के शासक मात्र रह गये। गुप्तों की एक शाखा मालवा में शासन करने लगी।

छठी शताब्दी के अन्त और सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थाण्वीश्वर का शासक **प्रभाकरवर्धन** हुआ। यह सम्भवत: मालवा के गुप्त शासक महासेनगुप्त का भानजा था। इसने अपनी शक्ति उत्तरापथ की तरफ बढ़ाई। पहले उसने काश्मीर अथवा तुखारिस्तान से हूणों को खदेड़ा,फिर सिन्ध, पंजाब, मारवाड़ और गान्धार के शासकों को अधीन किया। इसके बाद वह दक्षिण की ओर झुका तथा दक्षिण गुजरात, मालवा आदि पर अधिकार किया। उसके तीन सन्तानें हुईं—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह कान्यकुब्ज के मौखरी राजा **अवन्तिवर्मन** के बेटे **ग्रहवर्मा** से हुआ।

प्रभाकरवर्धन ने अपने बेटे राज्यवर्धन को हूणों को परास्त करने के लिए उत्तरापथ को भेजा। उसके चले जाने के पश्चात् हर्ष भी शिकार खेलने चला गया। काश्मीर की तराई में जब वह था, तभी उसे अपने पिता प्रभाकरवर्धन की बीमारी का समाचार मिला और वह लौट आया। उसके वापस आने पर प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हुई। राज्यवर्धन भी समाचार पाकर लौट आया। जब प्रभाकरवर्धन की मृत्यु का समाचार मालवराज को मिला, उसका नाम सम्भवत: **देवगुप्त** था, तो उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर दिया और ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को कैदखाने में डाल दिया। उसी समय बंगाल में **शशांक** नामक राजा का उदय हो गया था। उसने मालवनरेश के सहयोग से स्थाण्वीश्वर पर चढ़ाई की तैयारी कर दी। जब यह खबर राज्यवर्धन को मिली तो वह दस हजार सवारों के साथ आगे आया और मालवनरेश को परास्त कर शशांक की ओर मुड़ा। शशांक ने मैत्री भाव

प्रदर्शित करता है। चतुर्थ दृश्य में देवगुप्त राज्यश्री के पास आता है। राज्यश्री उसका तिरस्कार करती है और वह बन्दी बनायी जाती है। पाँचवें दृश्य में विकटघोष मधुकर को बन्दी बना कर राज्यश्री का पता पा लेता है। छठे दृश्य में सुरमा और देवगुप्त प्रणयोन्मत्त हैं। इतनेमें विकटघोष वहाँ पहुँच जाता है और नेपथ्य से उन्हें डराता है। देवगुप्त भयभीत होकर भाग जाता और विकटघोष सुरमा के सामने प्रकट होता है और सुरमा की भर्त्सना करता है। सुरमा क्षमा माँगती है। सातवें दृश्य में ज्ञात होता है कि दुर्गद्वार पर राज्यवर्धन की सेना युद्ध कर रही है। देवगुप्त की मृत्यु होती है। विकटघोष राज्यश्री और सुरमा को ले जाता है।

तीसरा अंक

तीसरे अंक के आरम्भ में हम फिर शान्ति भिक्षु उर्फ विकटघोष को सुरमा के साथ देखते हैं। उनकी बात चीत उनके विगत-जीवन की कहानी है। वहीं नरेन्द्रगुप्त अपने एक सहचर के साथ आता है। उनकी बात-चीत से प्रकट होता है कि वह राज्यवर्धन की हत्या करना चाहता है। इस काम में वह विकटघोष और सुरमा से सहायता लेता है। दूसरे दृश्य में दो दस्यु राज्यश्री को लेकर जंगल में आते हैं। वह उससे धन माँगते हैं। वह देने से अपने को असमर्थ पाती है। वे उसे बेच देने का प्रस्ताव करते हैं। इतने में दिवाकरमित्र आकर उनको छुड़ाता है और अपने आश्रम पर ले जाता है। उन्हीं के मुख से उसे पता लगता है कि रेवा-तट पर कुमार हर्षवर्धन और पुलकेशिन चालुक्य का युद्ध चल रहा है। अगले दृश्य में हर्षवर्धन और पुलकेशिन दिखाये गये हैं। युद्ध सज्जित दोनों खड़े हैं, पर हर्षवर्धन युद्ध करने से इनकार कर देता है। वह कहता है—'**मुझे साम्राज्य की सीमा बढ़ानी नहीं है। वसुन्धरा के शासन के लिए एक प्रवीर की आवश्यकता होती है, सो इधर दक्षिणापथ में उसका अभाव नहीं है। महाराष्ट्र सुशासित वीर निवास है। मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है। तुम अपनी विजय घोषणा कर सकते हो क्योंकि मेरी गजवाहिनी तुम्हारे अश्वारोहियों से वित्रस्त हो चुकी है। परन्तु अब मैं युद्ध न करूँगा। व्यर्थ इतने प्राणों का नाश न होने दूँगा। चालुक्य से सन्धि का प्रार्थी हूँ...हम लोग साम्राज्य स्थापित नहीं किया चाहते थे। मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था, आपाततः मुझे युद्ध करना पड़ा। उधर मेरे आत्मीय मौखरी ग्रहवर्मा का षडयन्त्र से वध हुआ ही था, भाई राज्यवर्धन की भी हत्या हुई। मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पने वाला दस्यु नहीं हूँ। यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक; कश्मीर से लेकर रेवा तक एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और कुछ नहीं चाहिये।**'

पुलकेशिन और हर्ष में मैत्री हो जाती है।

आगे एक नया प्रसंग सामने आता है। सुरमा और विकटघोष के सामने सुएनच्वाँग (ह्वेनसांग) पकड़ कर लाया जाता है। उसे धनी समझ कर विकटघोष धन माँगता है। धन न देने पर उसकी बलि की तैयारी करते हैं। उसी बीच बात-चीत में सुरमा और विकटघोष राज्यवर्धन की हत्या का विवरण प्रकट करते हैं। दैवी आपत्ति आती है और दस्यु सुएनच्वाँग को धक्का दे कर भगा देते हैं। पाँचवे दृश्य में राज्यश्री दिवाकर-

मित्र के तपोवन में दिखायी गयी है। चिता तैयार है। राज्यश्री उसमें प्रवेश करने का उपक्रम करती है। इतने में उसे हर्षवर्धन के आने का समाचार मिलता है। वह रुक जाती है। हर्ष उसे प्राण त्यागने से विमुख करने का प्रयत्न करता है। वह उसे राज्यवर्धन की हत्या का सामाचार देता है, और दिवाकरमित्र से भिक्षु बना लेने को कहता है। राज्यश्री कहती है– '**ऐसा नहीं होगा, मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी।**

चतुर्थ अंक

चतुर्थ अंक में सुरमा और विकटघोष फिर दिखायी पड़ते हैं। वह साधुरूप धारण करके राज्यश्री के दान में से कुछ माँग लेने की तैयारी कर रहा है। कान्यकुब्ज में राज्यश्री अपने समस्त कोष का दान कर रही है। इतने में सूचना मिलती है कि कान्यकुब्ज का दान अन्तप्राय है। प्रयाग में फिर से दान होगा। अगले दृश्य में प्रयाग में गंगा-तट पर हर्ष सपरिवार है। भण्डि आकर सूचित करता है कि नरेन्द्रगुप्त सन्धि का प्रार्थी है। राज्यश्री उसे क्षमा करने को कहती है। हर्ष स्वीकार कर लेता है। उसी समय सूचना मिलती है—'**महाश्रमण अर्थात् सुएनच्वांग पर भयानक आक्रमण हुआ, किन्तु वे बच गये।**' अगले दृश्य में हत्यारे के पकड़े जाने की सूचनामात्र है। अंतिम दृश्य में बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख हर्षवर्धन, प्रमुख सामन्तगण और सुएनच्वांग हैं। हर्षवर्धन सब मणि-रत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है और राज्यश्री से एक वस्त्र माँगता है। राज्यश्री देती है। राज्यश्री सुएनच्वांग से एकक वस्त्र माँगती है और वह देता है। विकटघोष हत्या के अपराध में उपस्थित किया जाता है। राज्यश्री उसे क्षमा करती है। फिर सुरमा और विकटघोष भी काषाय धारण करते हैं। उसके बाद कुमार राजा हर्ष से अनुरोध करते हैं कि धर्म की रक्षा के लिए बोधिसत्व ग्रहण कीजिये। आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नहीं कर सकते। राजदण्ड से ही आपका कर्तव्य पूरा होगा। सुएनच्वांग भी कहता है—'**इस धर्मराज्य का शासन करने के लिए आपको राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करना ही पड़ेगा।** यहीं नाटक का अन्त होता है।

दो संस्करणों में अन्तर

अब यदि इस नाटक पर सम्यक रूप से दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि इसमें कथानक उलझा हुआ है। इसमें ऐतिहासिक घटनाक्रम से स्वतन्त्र एक और कथानक चलता है जो सुरमा और शान्तिभिक्षु में ही केन्द्रित है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, जिस रूप से आज नाटक प्रस्तुत है, मूल में उसका वह स्वरूप न था। अपने मूल रूप में जब वह इन्दु में प्रकाशित हुआ था, उसमें केवल तीन अंक थे और उसमें क्रमशः ५, ६ और ५ दृश्य थे। परिवर्धित संस्करण में चार दृश्यों का चौथा अंक तो बढ़ा ही है, अन्य तीन अंकों में भी क्रम से ७, ७ और ५ दृश्य हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम दो अंकों में क्रम से दो और एक दृश्य की वृद्धि हुई है। इसके साथ-साथ कुछ दृश्यों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी किया गया है। मूल नाटक उसी दृश्य के साथ समाप्त हो जाता था जहाँ राज्यश्री चितारोहण की तैयारी करती है। हर्षवर्धन वहाँ आता है और बातचीत के अनन्तर अपने राज्य को चला जाता है। इन

दो संस्करणों को देखने से पता चलता है कि शान्तिभिक्षु और सुरमा का कोई स्थान पहले संस्करण में स्थान नहीं था। उसी प्रकार सुएनच्वांग भी बाद का जोड़ा हुआ पात्र है और उसकी घटना बाद में जोड़ी गयी है। कुछ परिवर्तन अन्य दृश्यों में भी किये गये हैं। पहले संस्करण में नरेन्द्रगुप्त की हत्या हर्ष के सैनिक स्कन्दगुप्त ने कर डाली, ऐसा दिखाया गया था, पर बाद के संस्करण में इस इतिहासविरुद्ध तथ्य को निकाल दिया गया है और चौथे अंक में उसे सन्धि के लिए उत्सुक दिखाया गया है।

उलझा हुआ कथानक

कथानक अपने में उलझा हुआ है। उसका कारण है; पूरे नाटक में कहीं भी यह नहीं पता चलता कि नाटक का प्रधान पात्र कौन है। सारा नाटक किसी के चारित्रिक विकास को हमारे सामने न रख कर घटनावृत्त ही सामने रखता है। वह घटनावृत्त भी अधिकांश रूप में दूसरों की सूचना द्वारा ही हमें ज्ञात होता है। संक्षेप में नाटक की कथावस्तु की निम्नलिखित घटनाएँ प्रमुख हैं :—

१. नरवर्मा का मृगया के लिए सीमाप्रान्त जाना।
२. स्थाण्वीश्वर में प्रभाकरवर्धन का निधन।
३. हूण-युद्ध के लिए राज्यवर्धन का गमन।
४. ग्रहवर्मा का सीमान्त युद्ध में घायल होना और मृत्यु।
५. प्रतिशोध के लिए राज्यवर्धन की सेना का आगमन।
६. गौड़ राज नरेन्द्रगुप्त शशांक का राज्यवर्धन से मैत्री की इच्छा।
७. गौड़नरेश द्वारा राज्यवर्धन की हत्या का षड्यन्त्र और हत्या।
८. रेवा तट पर हर्षवर्धन और पुलकेशिन का युद्ध।
९. नरेन्द्रगुप्त की सन्धि प्रार्थना।

ये सभी घटनाएँ कैसे घटित हुई, कब घटित हुई और क्यों घटित हुई, हमें केवल दूसरों के मुख से ज्ञात होती हैं। सुरमा आकर नरवर्मा के मृगया के लिए सीमान्त जाने की सूचना देती है। प्रभाकरवर्धन के निधन, हूण-युद्ध के लिए राज्यवर्धन के गमन और नरवर्मा के सीमान्त युद्ध में घायल होने की सूचना देवगुप्त के चरों से मिलती है। उनकी मृत्यु का आभास हमें मन्त्री की बातों से होता है जिसे वह राज्यश्री की अवस्था देख कर कहता है। दस्युओं के मुख से राज्यवर्धन की सेना आने का समाचार मिलता है। भण्डि की बातें शशांक की मैत्री-चर्चा का संकेत करती हैं। राज्यवर्धन की हत्या के षड्यन्त्र का आभास हमें नरेन्द्रगुप्त की बातों से मिलता है और हत्या की बात सुरमा और विकटघोष के मुँह से सुनायी पड़ती है। रेवातट पर हर्ष-पुलकेशिन युद्ध की बातें दिवाकरमित्र कहते हैं। भण्डि के मुख से नरेन्द्रगुप्त की सन्धि-प्रार्थना की बात सामने आती है। इस प्रकार अधिकांश पात्र हमारे सामने घटनाओं की सूचना देने के लिए ही आते हैं। केवल निम्नलिखित घटनाओं का परिचय हमें प्रयत्क्ष रूप से मिलता है :—

१. देवगुप्त का कान्यकुब्ज में आकर ग्रहवर्मा के विरुद्ध तैयारी।
२. राज्यवर्धन और नरेन्द्रगुप्त के बीच मैत्री का आश्वासन।
३. राज्यश्री का बन्दी होना।

४. देवगुप्त की मृत्यु ।
५. राज्यश्री का बन्दीगृह से निकल जाना ।
६. पुलकेशिन और हर्ष की मैत्री ।
७. राज्यश्री का सती होने का प्रयत्न और हर्ष का आगमन ।
८. सुएनच्वांग को दस्युओं द्वारा बलि देने का प्रयत्न ।

प्रधान पात्र का अभाव

इन सबको सामने रख कर देखा जाय तो किसी भी पात्र की सारे नाटक में प्रधानता नहीं पायी जाती। देवगुप्त हमारे सामने नरवर्मा के विरूद्ध षड्यन्त्र लेकर आता है, पर कुछ ही दृश्यों के बाद मृत्यु के साथ उसका अन्त हो जाता है। नरेन्द्रगुप्त अपने नये षड्यन्त्र के साथ सामने आता है, पर शीघ्र ही वह भी लुप्त हो जाता है। राज्यवर्धन हमारे सामने क्षणभर . लिए आता है। हर्षवर्धन की चर्चा हम पुलकेशिन के युद्ध से पहले नहीं सुनते। ह्वेनसांग अन्त के दृश्यों में आता है। इस प्रकार नायक जैसा कोई पात्र दिखायी पड़ता।

राज्यश्री के नाम पर नाटक है। इस नाते उसे प्रधान पात्र का नाम देने का प्रयत्न किया जाता है, पर समूचे नाटक में उसका अपना कोई स्थान नहीं है। हाँ सुरमा, शान्तिभिक्षु और देवगुप्त को लेकर कथानक कुछ दूर तक संघटित रूप से चला है, पर देवगुप्त रास्ते में ही छूट जाता है। शेष दो कल्पित पात्र हैं और उनकी कहानी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वे घटनाक्रम में सहायक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार समूचे नाटक में चरित्र के विकास के लिए कोई स्थान नहीं है।

घटना की प्रधानता

यह कहना अनुचित न होगा कि राज्यश्री चरित्रप्रधान नाटक न होकर घटना प्रधान है। घटनाओं का वेग भी इतना है कि पात्रों के अन्तर्जगत तक पहुँचने और उनकी आन्तरिक वृत्तियों को समझने का समय ही नहीं मिल पाता। घटनाओं की आंधी में पात्रों का व्यक्तित्व उड़ता-फिरता है। फिर भी उन पात्रों का किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व तो है ही।

राज्यश्री

राज्यश्री का व्यक्तित्व यद्यपि उभर कर हमारे सामने नहीं आ सका है, फिर भी हमारे सम्मुख उसके तीन स्वरूप है। आरम्भ में हमारे सम्मुख उसका रूप पत्नी का है। वहाँ वह पतिपरायणा आदर्श आर्य-नारी-सी लगती है। उसमें विचार की मात्रा भी अधिक है। भावी आशंकाओं से उद्विग्न पति को प्रबोध देती है और उनमें मानसिक कष्ट को निर्मूल प्रमाणित करने का यत्न करती है। कहती है—'**नाथ! आप जैसे धीर पुरुषों को, जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है, क्या मानसिक बाधाएँ हिला या गला सकती है? कभी नहीं।**' किन्तु विवाद में असफल होकर नारी सुलभ विनय का सहारा लेकर कहती है—'**हृदय को प्रसन्न कीजिये। सम्भव है संगीत में मन लग जाय, बुलाऊँ गानेवालियों को**?' फिर पति की इच्छा में ही सन्तोष मानकर कहती है—**जैसी इच्छा**?

जब ग्रहवर्मा मृगया के लिए सीमान्त के बनों में चले जाते हैं तब राज्यश्री को हम प्रतिक्षण उन्हीं की ओर ध्यान लगाये पाते हैं। पूजा-पाठ के समय भी उसका ध्यान उनकी ओर ही बना रहता है। युद्ध समाचार सुनने के पश्चात् वह अपने पति की मंगल-कामना करती है। तभी अट्टहास होता है और भावी अनिष्ट की आशंका से मूर्छित हो जाती है। उसके बाद कुछ समय तक विक्षिप्त रहती है। इस अचेतन अवस्था में भी वह जो प्रलाप करती है उसमें उसके पति की मंगल कामना की ही ध्वनि है।

राज्यश्री का दूसरा स्वरूप हमारे सम्मुख वीर क्षत्राणी का उपस्थित होता है। शान्ति-भिक्षु द्वारा भिक्षा न लेने पर अमंगल की आशंका से काँप उठने वाली राज्यश्री जब सुनती है कि सीमान्त से युद्ध का सन्देश आया है तो वह कह उठती है–'**मन्त्री, इसी बात को कहने में आप संकुचित होते थे। क्षत्राणी के लिए इससे बढ़ कर शुभ समाचार कौन होगा। आप प्रबन्ध कीजिये, मैं निर्भय हूँ।**' इसी प्रकार विक्षिप्त अवस्था में होते हुए भी जब वह सुनती है कि शत्रु दुर्ग में घुस आये हैं, तब वह कह उठती है––'**जाओ उन्हें सादर लिवा लाओ।**' उसमें भय का तनिक भी नाम नहीं है। देवगुप्त के सामने आते ही वह एक वीरबाला की भ ति देवगुप्त पर खड्ग का वार करती है। बन्दिनी हो जाने पर उसका ओज ज्यों का त्यों बना रहता है। वह देवगुप्त के समस्त ऐश्वर्य,सुख के प्रलोभनों को ठुकरा कर निर्भीकता और दृढता के साथ कहती है––'**देवगुप्त, तुम मुझसे बातें करने के अधिकारी नहीं हो। मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस!**' वह अपने गौरव को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहती। चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, अपना गौरव अक्षुण्ण रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। देवगुप्त के सामने वह चुनौती तो देती ही है––'**मैं सचेत हूँ देवगुप्त। मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती?**' दयनीय अवस्था में पड़ कर परिचय देने में भी अपना अपमान अनुभव करती है। विवशताग्रस्त दशा से उद्धार करने के बाद जब दिवाकरमित्र ने परिचय जानना चाहा तो उसका उत्तर था––'**जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्जवल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है।**'

तीसरी अवस्था में हम उसे विपत्तियों में पड़ कर निराश पाते हैं। उसकी निराशा चरम सीमा पर पहुँची हुई है। देवगुप्त के बन्दीगृह में वह अपनी सखी विमला से कहती है–– '**वेदना रोम रोम में खड़ी है विमला। चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं,अत्याचार और इस छोटे से जीवन पर संसार के दिये हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।**' जब वह दस्युओं के हाथ में पड़ जाती है, वे धन चाहते हैं। वह उनसे कहती है––'**तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं है। इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन? आह। जितनी साँस चलती है वे तो चल कर ही रुकेंगी।...तब अच्छा है कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय। दिवाकर मित्र से भी वह कहती सुनायी पड़ती है: दुखों को छोड़ कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर। पर अब उसे भी छोड़ेगी। आर्य मुझे आज्ञा दीजिये...इस क्षण क्षणभंगुर संसार से बिदाई लूँ। नित्य की ज्वाला से यह चिता की ज्वाला प्राण बचाये।**'

इस प्रकार राज्यश्री के वीरबाला होते हुए भी आशा का उसमें अभाव है। किन्तु यह स्वाभाविक है। वह देवता नहीं,मानवी ही है। मानव के रूप में जब हम उसे देखते हैं तो जहाँ

उसे पतिपरायणा पाते हैं, वहाँ उसमें स्नेह का अजस्र स्रोत भी भाई के लिए फूटता दिखायी पड़ता है। बन्दीगृह में पड़ी-पड़ी जब वह विकटघोष द्वारा हर्षवर्धन का सन्देश पाती है, उस समय उस उसके हृदय में भ्रातृ-स्नेह उमड़ पड़ता है और व्यावहारिक ज्ञान से शून्य सरल बालिका-सी उस सन्देश पर विश्वास कर लेती है और विकटघोष के साथ चली जाती है। पुनः वह चिता पर जलने को तैयार है। किन्तु हर्षवर्द्धन के आने का समाचार सुनते ही उसके मुख से हठात् निकल पड़ता है––'**कौन ? भैया हर्ष...!**' और वह कह उठती है–– '**आओ हर्ष ! इस अन्तिम समय में तुम आ गये। मेरा सारा विषाद चला गया।**' जब हर्ष निराश होकर दिवाकरमित्र से काषाय माँगता है तो वह विचलित हो उठती है। उसे अपने निश्चय को बदलना ही पड़ता है। वह कहती है––'**ऐसा नहीं होगा। मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी। मेरे अकेले भाई...मैं स्त्री हूँ, स्वभाव से दुर्बल नारी। मेरा अनुकरण न करो।**'

राज्यश्री का एक और गुण है––उदारता। कान्यकुब्ज की महारानी होकर कितनी उदार थी, यह तो शान्तिभिक्षु के प्रसंग से स्पष्ट ही है, किन्तु जब वह दीर्घकालीन कष्टमय जीवन के बिता देने के पश्चात् पुनः वैभव-सम्पन्न हो जाती है, तब तो उसकी उदारता की मात्रा और बढ़ जाती है और वह अपना समस्त कोष दान कर देती है। यही नहीं, हम उसे अपने भाई राज्यवर्धन के हत्यारे नरेन्द्र को क्षमा करने का अनुरोध करते हुए पाते हैं–– '**फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं। क्षमा करो भाई।**' यही उदारता उसकी विकटघोष के प्रति भी है। विकट-घोष ने एक भाई की हत्या की, दूसरे की हत्या का प्रयत्न किया तथा उसे स्वयं अपार कष्ट में डाला, फिर भी उसके प्रति उसकी प्रतिहिंसा प्रज्वलित नहीं होती और वह हर्षवर्द्धन से क्षमा करा देती है––'**आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या यही एक दान रह जाय ? इसे प्राणदान दो भाई।**' यहीं राज्यश्री की उदारता आदर्श रूप धारण करती हुई दिखायी देती है।

हर्ष

हर्ष इस नाटक में प्रथम बार रेवातट की युद्ध-भूमि पर दिखायी पड़ता है, अद्भुत् भगिनी-प्रेम से ओत-प्रोत। सामने युद्ध के लिए शत्रु सेना खड़ी है, पर वह चालुक्य से सन्धिकी प्रार्थना करता है। इसलिए नहीं कि उसकी गजवाहिनी पुलकेशिन के अश्वा-रोहियों से त्रस्त हो गयी है। इसलिए भी नहीं कि उसे किसी प्रकार पराजय की आशंका है। वरन् एक मात्र इसलिए कि उसने सुना है कि मेरी अनाथ दुखिया बहिन कहीं इसी विन्ध्यपाद में है। उस का मन व्यथित हो चुका है। वह अभी जीना चाहता है। बहिन की स्मृति के साथ उसे उन घोर दयनीय परिस्थितियों का भी स्मरण हो आता है। वह सारी परिस्थिति को स्पष्ट करता हुआ पुलकेशिन से कहता है––'**मुझे साम्राज्य की सीमा बढ़ानी नहीं है...मुझे तो उत्तरापथ के द्वार की रक्षा करनी है। मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था, आपाततः मुझे युद्ध करना पड़ा।.....मैं अकारण दूसरों की भूमि हड़पनेवाला दस्यु नहीं हूँ। यह संयोग है कि कामरूप से सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर रेवा तक एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न**

चाहिए। और यदि इतने ही मनुष्यों को मैं सुखी कर सकूँ, राजधर्म का पालन सकूँ तो कृत-कृत्य हो जाऊँगा।' इन शब्दों में उसका चरित्र स्वतः अंकित है। युद्ध से भागने की यह प्रवंचना हो, ऐसी कोई बात नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि उसके शत्रु भी उसकी वीरता की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं—**'उत्तरापथेश्वर! अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्योंकि विदेशी हूणों को विताड़ित करनेवाले महावीर हर्षवर्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।'** इस प्रकार उसकी उक्तियों में उसकी सद्वृत्तियाँ ही प्रस्फुटित हुई हैं; पर वह सारा कार्य निस्पृह बुद्धि से किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। उसमें पूर्णतया मानवीय आकांक्षाएँ भरी हुई हैं। उसने प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर ही इतना रक्त-पात तथा लाखों प्राणियों को संहार किया। उसने जो कुछ किया किसी कामना से ही। वह दिखा देना चाहता था कि **कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्धन-वंश की एक बालिका ऊर्जस्वित शासन कर सकती है।**

जब वह देखता है कि जिस बहन के लिए उसने यह सब कुछ किया वही प्राण त्यागने को प्रस्तुत है, उसकी कामनाएँ भस्मीभूत हो रही ह तो उसके मन में क्षोभ होता है। संसार से विरक्त सा हो जाता है। वह दिवाकरमित्र से काषाय माँगने लगता है। किन्तु जब राज्यश्री उसे आश्वासन देती है कि **'मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी'** तो उसके मन में आशा का एक बार पुनः संचार होने लगता है। वह कर्म की ओर रत होता है; पर अब उसमें परिवर्तन हो गया है। उसे सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से, संसार की एक ठोकर से निस्सार लगने लगा। वह राज्यश्री से कहता है—**'चलो, पराक्रम से जो सम्पत्ति, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य मैंने छीन लिया हैं, उसे पाने वाले को दे दूँ। हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।'** राज्यश्री के सम्पर्क से इस प्रकार की निस्पृहता आ जात है। वह उदार बन जाता है, किन्तु सर्वस्व त्याग कर भी मानव-दुर्बलता नहीं खो पाता। उसकी उदारता उसको आदर्श की इस सीमा तक नहीं ले जा सकी है जहाँ वह अपने सगे भाई राज्यवर्धन के हत्यारे को क्षमा प्रदान कर सके। वह स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है कि—**'मेरा हृदय नहीं क्षमा करेगा। मै अशक्त हूँ।'** इसी प्रकार महाश्रमण के ऊपर आक्रमण किये जाने का समाचार सुन कर वह क्रुद्ध होता है और उसका क्रोध चरम सीमा तक पहुँच जाता है। वह दौवारिक को आज्ञा देता है कि— **जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलना पड़ेगा।'** उसके इस क्रोध के पीछे राजमद भले हो न हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि वह दया और उदारता के सीमा रहित होने में विश्वास नहीं करता। वह मानता है कि **'उसका व्यापक प्रसार नीच लोगों को उच्छृङ्खल एवं प्रमादी बना देता है।'** वह मर्यादा की रक्षा करना चाहता है। जब वह उसे टूटते देखता है तो उसका क्रोध चरम सीमा को पहुँच जाता है। वह केवल अपराधी को दण्ड देकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहता, वरन् सारे विरोधियों को जला कर प्रतिशोध लेना चाहता है। यही मानव-चरित्र की स्वाभाविकता है।

हर्ष की उदारता, अहिंसावादिता, धार्मिकता उस समय जागरित होती है, जब वह राज्यश्री के प्रभाव में आता है। उसी समय उसे वैभव, ऐश्वर्य आदि की निस्सारता का भान होता है। पर इन सबका गहरा प्रभाव तब पड़ता है जब स्वयं उसके वध का

प्रयत्न होता है। उसे अपनी हत्या के मूल में धन का लोभ दिखायी पड़ता है। नीचता के इस उच्छृंखल रूप को देखकर उसे धन, ऐश्वर्य और पराक्रम के प्रति घोर विरक्ति होती है और वह अपने सर्वस्व का परित्याग कर देता है। वह इतना उदार हो जाता है कि कह उठता है–'**यदि कोई शत्रु मेरा प्राण-दान चाहे तो वह भी दान दे सकता है।**' विरक्त होकर भी वह लोक-कल्याण की भावना के प्रति उदासीन नहीं होता और लोगों के कहने पर उसके निमित्त राजदंड ग्रहण करता है। यही उसके जीवन की विशषता है।

देवगुप्त

इस नाटक का तीसरा उल्लेख्य पात्र देवगुप्त है। वह मालव नरेश है। वह हमारे सम्मुख दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है—कामुक और कुचक्री। वह छद्मवेश में कान्यकुब्ज में प्रविष्ट होता है और अवसर पाकर ग्रहवर्मा की अनुपस्थिति में षड्यन्त्र द्वारा दुर्ग में प्रवेश कर जाता है और उस पर अपना अधिकार कर लेता है। यही उसका कुचक्र है। राजनीति में शत्रु को परास्त करने के लिए कुचक्र रचना वैध माना गया है। जो जितना ही सफल कूटनीतिज्ञ होगा, वह उतना ही अच्छा राजनीतिज्ञ होगा। इस दृष्टि से देवगुप्त ने जो कुछ भी किया वह क्षत्रियोचित वीरता के प्रतिकूल होते हुए भी राजनीति की मर्यादा के अनुसार एक राजलिप्सित शासक के लिए उचित और शास्त्र-सम्मत ही था। इसके लिए उसके षड्यन्त्रों और कौशल की सराहना ही की जानी चाहिये। पर उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसमें साहस न था। हम देखते हैं कि वह स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों को एक साथ ध्वंस करने की बात कहता तो है, पर उसे कर पाने की न तो उसमें शक्ति है और न साहस। वह इतना भीरु है कि विकटघोष की एक घुड़की में उसके देवता कूच कर जाते हैं और वह सुरमा को निराश्रित छोड़ कर भाग खड़ा होता है। जिस प्रकार वह राज्यवर्धन के साथ द्वन्द्व-युद्ध में पराजित हो कर मारा जाता है, वह भी इसी बात का संकेत करता है कि वह साहसी नहीं था। साहस से हीन कुचक्र और कूटनीति किसी शासक की योग्यता के स्थान पर अयोग्यता ही प्रदर्शित करती है और यह व्यक्त करती है कि साहस के अभाव में ही वह कुचक्र का सहारा ले रहा है।

देवगुप्त की दूसरी कमजोरी उसकी विलासिता है। वह कान्यकुब्ज में दुर्ग हस्त-गत करने आता है और सुरमा नाम्नी मालिन के रूप-मोह में पड़ जाता है। वह उसे अपना भी लेता है, पर वह उसके लिए विलास-सामग्री से अधिक नहीं हो पाती। तभी तो विकटघोष के आने पर उसे निराश्रित छोड़ कर भाग जाता है। उसके स्वरूप का परिचय उसके ही शब्दों से मिलता है। वह सुरमा से पहली ही भेंट में कहता है—'**तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती प्याली हो। पागल न होना ही आश्चर्य है।**' वह युद्ध और संघर्ष को आसन्न देखकर भी सुरा और सुन्दरी में लीन रहता है—'**आज सुरमा अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिए प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा!**' देवगुप्त केवल सुरमा के प्रति आसक्त हुआ हो, यह बात भी नहीं है। उसकी कामुक आँखें राज्यश्री की ओर भी उठती हैं। असफल होने पर उसकी कामुकता कठोरता का रूप धारण कर लेती है और उसे बन्दीगृह में डलवा देता है। देवगुप्त इस प्रकार एक नीच चरित्र का स्वाभाविक प्रतीक है।

सुरमा और शान्तिदेव

सुरमा और शान्तिदेव, यद्यपि इस नाटक के कल्पित पात्र हैं और उन दोनों का समावेश प्रसाद जी ने इस नाटक में पीछे से किया है, तथापि वे ही दोनों सारे नाटक में अधिकाधिक रूप में हमारे सामने आते हैं। प्रत्येक अंक का आरम्भ इन दोनों पात्रों से होता है। सुरमा शान्तिदेव पर आसक्त है और शान्तिदेव राज्यश्री के प्रति आकृष्ट। इस प्रकार शान्तिदेव और सुरमा दोनों कामुक स्वरूप ले कर हमारे सामने आते हैं। सुरमा देवगुप्त के मोह में पड़ जाती है और शान्तिदेव को भुला देती है। थोड़ी देर के लिए वह मालव नरेश की रानी भी बन ज ती है, किन्तु देवगुप्त के छोड़ देने पर वह पुनः शान्तिदेव के पास घटनाचक्र से आ जाती है। शान्तिदेव राज्यश्री को पाने में अपने को असमर्थ पाता है और इधर सुरमा उसे छोड़ कर चली जाती है। यह आघात शान्तिदेव सह नहीं सकता और वह दस्यु बन जाता है। वह अपने को नियति पर छोड़ देता है। वह भण्डि की सेना में सैनिक बनता है। वह कौशल से उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ सुरमा और देवगुप्त हैं और देवगुप्तसे मित्रता कर सुरमा को पुनः प्राप्त कर लेता है। सुरमा अपने किये के लिए क्षमा चाहती है, पर वह कहता है--'**अभी नहीं विलम्ब है।**' शान्तिदेव विकटघोष के रूप में राज्यश्री को बन्दीगृह से भी निकालता है और अपने साथी दस्युओं को सौंप देता है। सुरमा को पाकर शान्तिदेव उर्फ़ विकटघोष कहता है--'**तुम चाहे कितनी भी कुटिलता ग्रहण करो, पर मैं...**' आगे वह कहता है--'**तुम्हारी शीघ्रता ने दो जीवन नष्ट किये। मैं दस्यु हुआ और तुम एक कामुक की वासना पूर्ण करनेवाली वेश्या!**' वे पतन की चरम सीमा तक बढ़ते हैं और गौड़ नरेश के षड्यन्त्र में सहयोग करके राज्यवर्द्धन की हत्या कर डालते हैं। उसके बाद विकटघोष हर्षवर्धन की हत्या का प्रयत्न करता है और पकड़ा जाता है। जब वह हर्षवर्धन के सामने आता है तो पश्चाताप करता है और स्वयं दण्ड माँगता है। सुरमा भी सामने आती है और दंड माँगती है। अन्त में दोनों काषाय ग्रहण करते हैं।

यह ऐतिहासिक कथानक से स्वतन्त्र कथानक मानव के पतन का चित्रण है। शान्तिदेव और सुरमा एक-दूसरे को चाहते हैं किन्तु राज्यश्री के रूप और विभव ने शान्तिदेव को उसके प्रति आकृष्ट कर दिया। वह दुविधा में पड़ा हुआ था कि किस ओर बढ़े। सुरमा ने इसे कदाचित् अपनी उपेक्षा समझा और वह देवगुप्त की ओर बढ़ गयी; उधर शान्तिदेव भी दस्यु बन गया। फिर तो दोनों मिल कर भी नीचे गिरते गये। इसकी ओर लक्ष्य करके ही विकटघोष अर्थात् शान्तिदेव कहता है--'**पतन की चरम सीमा तक चलें सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। संसार ने हम लोगों की ओर आँख उठाकर नहीं देखा और देखेगा भी नहीं, तब उसकी उपेक्षा ही करूँगा। यदि कुछ ऐसा कर सकूँ कि वह मुझे देखे, मेरी खोज करे, तब तो सही।**'

सुरमा में हमें एक ऐसी नारी का चित्र मिलता है जिसमें वैभव और विलास की आकांक्षाएँ भरी हुई हैं, किन्तु शान्तिभिक्षु के प्रति उसकी प्रणय-भावना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। शान्तिभिक्षु के उपेक्षा-भाव ने उसे देवगुप्त की ओर झुकने को विवश किया।

देवगुप्त के सम्पर्क में वह जब तक रहती है, वह विश्वस्त बन कर रहती है और जब देवगुप्त उसे छोड़ कर भाग जाता है और वह शान्तिभिक्षुके पास फिर आ जाती है तो वह शान्ति-भिक्षु की विश्वासपात्री बन जाती है । वह उसे अपने साथ राज्यवर्द्धन की हत्या में सम्मि-लित करता है । इसी विश्वास का सहारा लेकर ही वह शान्तिभिक्षु के पीछे-पीछे चलती है और उसके कहने के अनुसार करती है । किन्तु हृदय से वह निर्मल है । उसे अपने इस जीवन में प्रेम नहीं है, तभी तो वह अपनी एक स्वगत भाषण में कहती है......**मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन, किन्तु वह धीर धारा न रही । ठठा कर हँसना, नाचते हुए स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा । राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है । पता लगता है कि मैं कहाँ हूँ ।**

अपनी इन्हीं निर्मल भावनाओं के कारण वह अपने अपराधों के लिए दण्ड-याचना के लिए राज्यश्री और हर्ष के पास जाती है । सुरमा का जीवन परिस्थितिजन्य उत्थान और पतन का जीवन है । उसकी यौवन की चंचलता और अनुभवहीनता ने ही उसके जीवन को यह दिशा, गति दी । अन्यथा उसके जीवन का दूसरा रूप होता । उसकी शीघ्रता ने अपना जीवन तो नष्ट किया ही,शान्तिदेव के जीवन को भी नष्ट करने का उत्तरदायित्व उसी पर है । पर यह सब स्वाभाविक ही है ।

शान्तिदेव को उसके पिता धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए भिक्षु-संघ में भेज देते हैं। युवक से भिक्षु-संघके उपयुक्त आत्मसंयम रख सकने की आशा नहीं की जा सकती। अतः युवक शान्तिदेव स्वाभाविक रूप से युवकोचित आकांक्षाओं के पथ पर अग्रसर होने को आतुर है । उसके जीवन में सुरमा और राज्यश्री आती हैं । राज्यश्री के प्रति प्यास सुरमा ने ही जगायी थी । राज्यश्री के रूप और विभव के प्रभाव ने उसे अभिभूत कर दिया था । वह उसकी ओर झुकता नजर आता था, पर सुरमा को भी भूला नहीं था । वह निर्णय नहीं कर पाता था कि क्या करे ! "**मूर्ख ! मैं निश्चय नहीं कर पाता । सुरमा या राज्यश्री, मेरे जलते हुए ग्रह-पिण्डके भ्रमण का कौन केन्द्र है?** अपनी निर्णय शक्तिके अभाव में वह सुरमा को खो बैठता है । राज्यश्री तो वस्तुतः आकाशकुसुम के समान थी ही । अतः जब वह दोनों में से किसी को नहीं पाता तो अपने को नियति के सहारे छोड़ देता है । वह विवेक-भ्रष्ट होकर कुमार्ग पर चलने लगता है। अर्थ-लाभ के लिए भिक्षु से दस्यु बन जाता है और अर्थलोलुपता उसे नर से नरपिशाच बना देती है । अर्थलोभ से वह राज्यश्री का अपहरण करता है, चीनी भिक्षु सुएनच्वांग को लूटने का यत्न करता है और अन्त में हर्षवर्धन की भी हत्या का प्रयत्न करता है । उसमें निर्दयता और कठोरता आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती जाती हैं । हत्या और लूट उसके लिए स्वभाव-धर्म बन जाते हैं । उसमें वह आनन्द का अनुभव करता है । वह सुरमा से कहता है—'**अब तो रक्त देख कर मैं अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ**' वह विवेकभ्रष्ट होकर कुमार्ग पर चलने लगता है । आकृति भी उसके आचरण के अनुरूप इस प्रकार बन जाती है कि नरेन्द्रगुप्त उसे देखते ही कह उठता है—'**स्पष्ट रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है ।**'

वस्तुतः उसका यह पतन केवल इसलिए होता है कि वह सुख का अभिलाषी है । आत्मोन्नति और सुख के लिए वह सब कुछ करने को प्रस्तुत है । विकटघोष बन कर वह

कहता है—'**सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है।** वह एक बार पतित होकर उसकी चरम सीमा तक जाने को प्रस्तुत हो जाता है। '**पतन की सीमा तक चलें, सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं। अब शील-संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता, यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असम्भव है।**' इसी के अनुसार वह आचरण करता हुआ महान आतंककारी और समाज-शत्रु बन जाता है।

मानवता के पतन की चरम सीमा तक पहुँच कर उसमें अकस्मात् आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। वह हर्षवर्धन की हत्या में असफल होने पर पकड़ कर जब न्याय के लिए उपस्थित किया जाता है तो वह चिल्ला उठता है—'**मुझे वध की आज्ञा दीजिये—'ओह! प्राण जल रहे हैं। रोम-रोम से चिनगारियाँ निकल रही हैं। दण्ड...दण्ड हे भगवान!** इस प्रकार का परिवर्तन अकस्मात् ऐसे मनुष्य में, जो वैभव की आकांक्षा से पतन की चरम सीमा तक जाने को तैयार हो, हत्या और लूट को अपना मनोरंजन मानता हो, असम्भव है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर सामान्यतः ऐसा होते नहीं देखा जाता। इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में प्राप्य हैं। वाल्मीकि की तरह विकटघोष में परिवर्तन हो जा सकता है, प्रसाद जी ने कदाचित् यह परिवर्तन राज्यश्री की क्षमाशीलता और हर्षवर्धन की उदारता का आदर्श अंकित करने की दृष्टि से ही दिखलाया है।

अन्य पात्र

इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों की जीवन-रेखा मात्र नाटक में उभर पायी हैं। **ग्रहवर्मा** अचल और शान्त प्रकृति का धीर व्यक्ति है। वह योग्य शासक और सरल पति है। **राज्यवर्धन** पराक्रमी, कर्त्तव्यशील और लगनवाला व्यक्ति है। उसमें उदारता और आत्मविश्वास दोनों पाये जाते है। शत्रु पर विश्वास उसकी सरलना का परिचायक है। **नरेन्द्रगुप्त** व्यवहारपटु और स्वार्थी है। उसका विश्वासघाती के रूप में स्वाभाविक चित्रण हुआ है। **पुलकेशिन** की एक झलक मात्र नाटक में मिलती है। उसकी वाणी और कर्म में सच्चे वीर का उत्साह और उदारता है।

उद्देश्य का अभाव

समष्टि रूप से नाटक पर दृष्टि डालने से यह नहीं जान पड़ता कि इस नाटक को उपस्थित करने का उद्देश्य क्या है। नाटक हमारे सामने देश की उस अवस्था को उपस्थित करता है, जब एक शासक दूसरे शासक के प्रति कुचक्र रचने में ही अपना समय लगाया करते थे। उन कुचक्रों का निदर्शन हमारे सम्मुख कोई आदर्श नहीं प्रस्तुत करता, वरन् मन पर बुरी प्रतिक्रिया ही होती है। हर्ष और राज्यश्री की उदारता और क्षमाशीलता का आदर्श भी इस नाटक में हमारे सामने रखा गया है। कदाचित् उसी को उपस्थित करने के लिए प्रसाद जी ने हमारे इतिहास का एक कलुष पृष्ठ हमारे सामने रखा है, पर जिस ढंग से नाटक में वह प्रस्तुत किया गया है, उससे हमारा ध्यान इस आदर्श की ओर न जाकर कलुष काण्डों की ओर ही जाता है और हमारे मन में एक घृणा का संचार करता है।

——:०:——

कामना

नाटक का रूप

अब तक हमने जिन नाटकों की चर्चा की है, वे ऐतिहासिक हैं, अर्थात् उनके कथानक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं और उनके पात्र इतिहास के जाने-पहचाने व्यक्ति। **कामना** उन सब नाटकों से भिन्न है। उसमें ऐसे पात्रों का सर्वथा अथाव है जिन्हें हम अतीत के व्यक्ति कह सकें और उनके कार्यों और विचारों को किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के कार्य और विचार मान सकें। इस नाटक के पात्रों के नाम, यथा—सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्ति, दम्भ, कामना, लालसा, करुणा, महत्वाकांक्षा, आदि मानव चित्तवृत्तियों अथवा मनोभावों के नाम है और उनके कार्य और विचार भी उन चित्त-वृत्तियों के मूर्त रूप जान पड़ते हैं, इसलिए प्रायः सभी आलोचकों का मत है कि यह नाटक अंग्रेजी के अलेगेरी के ढंग का है, जिसे **अन्यापदेशिक** कहा जाता है।

कथावस्तु

फूलों का एक द्वीप है जो चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है। उस द्वीप के सभी निवासी एक जाति और समाज के हैं, जो अपने को तारा की सन्तान मानते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष स्वच्छन्द और निर्विकार है। वे पाप-पुण्य, द्वेष-विरोध आदि जैसी किसी चीज को नहीं जानते। वहाँ प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार है। दूसरे शब्दों में उनका जीवन प्रकृति के बीच, उसके साहचर्य में उसके अनुकूल व्यतीत होता है। वे प्रकृति के इतने निकट है कि पक्षियों का सन्देश सुनते हैं और उसका पालन करते हैं। उनका अपना एक आराधना-स्थल है, जहाँ आराधना का नेतृत्व करने के लिए कुछ समय के लिए कोई व्यक्ति चुन लिया जाता है।

ऐसे समाज की एक कुमारी **कामना** है, किन्तु उसके हृदय में अतृप्ति और असन्तोष है। उसका विवाह सन्तोष से होने वाला है, किन्तु इससे उसे प्रसन्नता नहीं। अपनी इन्हीं भावनाओं को लेकर वह समुद्र के किनारे तर्क-वितर्क कर रही है। उसी समय वंशी की ध्वनि सुनायी पड़ती है और यह उसकी ओर आर्काषित होती है। समुद्र की ओर देखती है। एक व्यक्ति, जो सोने का मुकुट पहने है, समुद्र की लहरों पर नाव खेता हुआ आत्मविश्वास के साथ चला आ रहा है। कामना उस पर देखते ही मुग्ध हो जाती है, उसके सोने के किरीट से वह विशेष रूप से प्रभावित होती है और वह उस व्यक्ति का स्वागत करती है। इस व्यक्ति का नाम **विलास** है।

विलास अपने देश को दरिद्रता से विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित हो कर आया है। वह ऐसे देश का निवासी है जहाँ राजतन्त्र विकसित हो गया है, उसके सारे उपकरण बन गये हैं, यथा–सेना, पुलिस, न्यायालय, प्रहरी, कोष, व्यक्तिगत सम्पत्ति

आदि । उन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत विलास महत्वाकांक्षी है । वह कामना पर अपना जादू कर, उसके सहारे द्वीप का स्वामी बनने की योजना बनाता है । इसके लिए वह स्वर्ण और मदिरा को अपना मुख्य सहायक मानता है ।

लीला और विनोद फूल-द्वीप के दो अन्य स्त्री-पुरुष हैं । उनमें से एक—लीला स्वर्ण के लिए लालायित होती है और दूसरा विनोद मदिरा के लिए । अतः विलास उन दोनों को अपने अधीन कर लेता है । इस प्रकार उस द्वीप में मदिरा और स्वर्ण का प्रचार होता है । सभी द्वीपवासी शनैः-शनैः स्वर्ण और मदिरा के वशीभूत हो जाते हैं । उनका विवेक लुप्त हो जाता है । वे विलास का अन्धानुकरण करने लगते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं ।

सन्तोष और विवेक, दो अन्य नागरिक इन परिवर्तनों से तथा विदेशी विलास के कार्यों से चिन्तित होते हैं, उसका विरोध करते हैं, पर कुछ कर नहीं पाते ।

अस्तु, एक दिन सभी द्वीपवासियों को मदिरा पिला कर विलास उनसे कामना को रानी बनाने के प्रस्ताव पर स्वीकृति ले लेता है । किन्तु इससे ही उसकी महत्वाकांक्षा का अन्त नहीं होता । उसे कामना से तृप्ति नहीं है । वह विलास पर अनुरक्त है, किन्तु विलास को वह अत्यन्त निरीह और गतिशून्य प्रतीत होती है । अतः वह लालसा नामक स्त्री की ओर आकृष्ट होता है ।

लालसा के पति शान्तिदेव की कुछ लुटेरे सोने की लालच में हत्या कर देते हैं और यहीं से फूलों के द्वीप में चोरी, हत्या आदि अपराधों का आरम्भ होता है । हत्यारे पकड़े और बन्दीगृह भेजे जाते हैं । इस प्रकार बन्दीगृह और प्रहरी की आवश्यकता का आरम्भ होता है ।

शान्तिदेव की विधवा लालसा नये प्रेमी की खोज में निकलती है और विलास की ओर आकृष्ट होती है । विलास भी उसकी ओर आकृष्ट होता है और लीला तथा विनोद की सहायता से उन दोनों का विवाह भी हो जाता है । कामना विलास के साथ विवाह का जो स्वप्न देखती थी, उसके प्रति निराश हो जाती है ।

विलास लालसा की प्रेरणा से निकटवर्ती प्रदेश को जीतने की तैयारी करता है, क्योंकि वहाँ नदी की रेत में सोना मिलता है । विनोद सेनापति का भार सम्हालता है । विलास मन्त्री है । किन्तु अभियान के समय विलास मन्त्री और सेनापति दोनों हो जाता है । सभी प्रदेश में व्यभिचार, अनाचार, असत्य, छल-प्रपंच का राज्य फैल जाता है । भयानक युद्ध छिड़ता है ।

ऐसे समय सन्तोष अपना समय शान्तिदेव की निराश्रित बहन करुणा की सेवा और सहायता में लगता है । वह और विवेक मिल कर युद्ध में घायल लोगों की सेवा करते हैं । अन्त में एक अवसर ऐसा आता है जब कामना द्वीप में फैले अनाचार हत्या, पाप आदि से घबड़ा कर रानी पद के प्रतीक मुकुट को उतार कर फेंक देती है । तत्काल विलास उस मुकुट को धारण कर लेता है । लालसा भी रानी बनने के लिए आगे बढ़ती है, किन्तु उसी समय सन्तोष अपने सहायकों के साथ उपस्थित हो जाता है और उसका विरोध करता है । निदान् विलास के साथी भी उसका साथ छोड़ देते हैं और वह सब कुछ छोड़

लालसा को साथ लेकर नाव पर बैठ अज्ञात दिशा को चला जाता है। अन्त में कामना और सन्तोष का मिलन होता है।

चित्तवृत्तियों का विश्लेषण

इस रूप में नाटक में प्रसाद मानव-चित्तवृत्तियों का विश्लेषण करते से जान पड़ते हैं। कामना और लालसा दोनों ही मानवीय इच्छा के दो रूप हैं। जहाँ कामना में केवल किसी वस्तु के प्राप्त कर लेने की सदिच्छा ही होती है, लालसा में उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा बलवती होती है। कामना के भाव रख कर मनुष्य अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का कार्य करने का जल्दी साहस नहीं कर पाता, किन्तु लालसा की अवस्था में अच्छे-बुरे का भाव त्याग कर, जिस प्रकार भी हो, पाने की चेष्टा करता है। मानव में कामना अथवा लालसा दोनों में कोई भी भाव हो, उसमें सन्तोष का अभाव ही होता है। यद्यपि मनुष्य किसी बात की कामना करते हुए भी अपनी स्थिति से संतुष्ट रह सकता है। इस नाटक में हम कामना को सन्तोष से संतुष्ट नहीं पाते।

दूसरी ओर सन्तोष वृत्ति रखनेवाला व्यक्ति कामना के प्रति उदासीन रह सकता है। वह अपने वर्तमान में ही सन्तुष्ट रहता है। वैसा ही पात्र सन्तोष इस नाटक में है।

लालसा इस नाटक में शान्ति के साथ विवाहित दिखायी गयी है, किन्तु लालसा वाले व्यक्ति में शान्ति कहाँ! फलतः शान्ति के मरते ही हम लालसा को विलास की ओर बढ़ते पाते हैं। लालसा और विलास चित्त की दो ऐसी वृत्तियाँ हैं जिनका अपना नैकट्य हो सकता है। लालसा और विलास एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं, किन्तु मनुष्य में विलास की ही लालसा हो, यह बात महीं। विलास की भावना रखनेवाला व्यक्ति नाटक के विलास के समान महत्वाकांक्षी हो, यह सम्भव नहीं। यह बात दूसरी है कि अपनी विलास-भावना की पूर्ति के लिए वह कुछ साहसिक काम करे।

विनोद मानव के जीवन का सरल पहलू है और उसी रूप में हम उसे इस नाटक में पाते भी हैं। लीला विनोद का दूसरा, कदाचित नारी रूप है। नाटक में इन दोनों के विवाह की चर्चा है, किन्तु लीला सन्तोष की ओर आकृष्ट दिखायी गयी है और उसका कामना के साथ सख्य दिखाया गया है, जो मानव भावनाओं के अनुकूल नहीं है। हाँ, लीला और विनोद विलास के दास अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि विलास के वे एक उपकरण हैं।

शान्ति का रूप नाटक में उभर ही नहीं पाया है। चित्तवृत्ति के रूप में तो हम उसे देख ही नहीं पाते। विवेक अवश्य विवेक की बात करता है, किन्तु स्वभावतः उसकी कौन सुनता है। करुणा भी कुछ उसी प्रकार की पात्री है। दम्भ, प्रमदा आदि इस नाटक के गौण पात्र हैं और वे अपने स्वभाव के अनुसार ही बातें करते हैं।

इस प्रकार प्रसाद ने मानव चित्तवृत्तियों को मानवीय रूप देकर नाटक में उनके स्वरूप को व्यक्त करने की चेष्टा की है, किन्तु कहीं-कहीं पात्रों का रूप चित्तवृत्तियों के वास्तविक रूप से भिन्न है। मनोवृत्ति अथवा भावना के प्रतीक पात्रों को अपने स्वभाव से भिन्न स्वतन्त्र रूप से आचरण करने की स्वतन्त्रता नहीं होती। उनके साथ कुछ विशेष-

ताएँ और धर्म पहले से ही लिपटे रहते हैं और उन्हीं के अनुसार वे आचरण करते हैं। हम इस नाटक में अनेक पात्रों को अपने स्वभाव और धर्म से अलग होकर आचरण करने हुए पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद का उद्देश्य केवल मनोवृत्तियों का चित्रण नहीं रहा है, वे उसके साथ कुछ और भी प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने अपने पात्रों को उनके अपने धर्म से मुक्त कर दिया है।

प्रतीकात्मक ऐतिहासिक कथानक

मुझे कुछ ऐसा लगता है, किन्तु कह नहीं सकता कि यह धारणा सत्य के कितने निकट है कि प्रसाद ने अपने पात्रों को मनोवृत्तियों का नाम देकर हमारे सम्मुख हमारी पराधीनता की कथा प्रस्तुत की है। यह नाटक सन् १९२३–२४ में उस समय लिखा गया था जब असहयोग-आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार ने दबा दिया था, लोगों की विद्रोही भावनाएँ दब-सी गयीं थीं और खुल कर उभर नहीं पाती थीं। आश्चर्य नहीं कि प्रसाद जी को भारत की पराधीनता खली हो और वे उसका विरोध अपनी लेखनी से करना चाहते हों। किन्तु समय की दृष्टि से खुल कर स्पष्ट शब्दों में वह अपना विरोध व्यक्त करने का साहस न कर सके हों। फलतः उस कथा को प्रतीकात्मक रूप से मनोवृत्तियों के संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया हो।

विलास के रूप में अंग्रेजी सत्ता और उसके कारनामों को हम इस नाटक में भलीभाँति पहचान सकते हैं। उनका दयनीय व्यापारी के रूप में महत्वाकांक्षाओं के साथ समुद्र पार से आना, सुवर्ण और मदिरा का प्रचार करना, पारस्परिक फूट डालना आदि के चित्र इस नाटक में गुँथे हुए से हैं। कहना न होगा कि मुगलों के विस्तृत शासन के अन्तर्गत रहते हुए भी भारतवासी पराधीन न थे। उन्हें देश के राजनीतिक उलट-फेरों से कोई मतलब न था। ग्राम-पंचायतों में उनके मामले-मुकदमे सुलझ जाते थे। बन्दी और प्रहरी की वैसी आवश्यकता न थी जैसी ब्रिटिश शासन में संघटित की गयी। अराजकता का वह रूप भी न था जो अंग्रेजों के भारत-प्रवेश के बाद देखने में आया। लोग सरल और भोले-भाले थे। अंग्रेजों ने आकर विलास, व्यसन, झूठ, फरेब, बेइमानी आदि सभी अवगुण भर दिये। इस प्रकार उन्होंने अपनी समझ में हमें सभ्यता सिखायी।

इस प्रकार इस नाटक में घटनाओं का क्रमबद्ध कथन न होकर अंग्रेजों के भारत-प्रवेश से उत्पन्न स्थिति का प्रतीकात्मक चित्रण है। विलास के आगमन से पूर्व जिस प्रकार फूलों के द्वीप में लोग स्वच्छन्द और निर्विकार थे; पाप-पुण्य, द्वेष-विरोध से वे अपरिचित थे, उसी प्रकार इस देश में भी लोग छल-प्रपंच से दूर अपने में सीमित ग्राम्य जीवन व्यतीत करते थे। एक प्रकार प्रकृति के निकट बने हुए थे। अंग्रेजो ने आते ही जिस प्रकार के जाल फैलाने शुरू किये, वैसे ही विलास के जाल में कामना फँसी हुई दिखायी गयी है। जिस प्रकार लालच देकर अंग्रेजों ने देश में विरोध की सृष्टि की, उस सृष्टि के प्रतीक हैं लीला और विनोद। जिस प्रकार विवेक परिस्थितियों से परिचित होकर भी विलास के कार्यों का विरोध करने में असमर्थ हैं, उसी प्रकार इस देश के दूरदर्शी व्यक्ति भी दयनीय स्थिति से परिचित होते हुए भी विरोध करने में असमर्थ रहे हैं। अपनी दयनीय स्थिति से परिचित होकर जिस प्रकार कामना ने अपना मुकुट उतार फेंका, उसी प्रकार भारत-

वासी भी अपनी दासता का भार उतार फेंकने को जब प्रस्तुत हुए, तब विलास की भाँति अंग्रेजों को भी देश छोड़ कर समुद्र पार वापस जाना पड़ा।

प्रसाद के सम्मुख यद्यपि इतिहास का वह दृश्य सामने नहीं आया था, जब देश का विद्रोह सजग हुआ और अंग्रेजों को भारत छोड़ कर जाना पड़ा; किन्तु उनके सम्मुख भारत का जागरण अपने उभार पर तो था ही और उन्होंने समझ लिया कि अब विलास की भाँति अंग्रेजों के समुद्र पार वापस जाने के दिन निकट हैं। उन्होंने अपने इस नाटक में उसी परिस्थिति को सबल बनाने का उद्‌बोधन दिया है।

इस प्रकार मेरी समझ में यह नाटक अन्यापदेशिक न होकर प्रतीकात्मक ऐतिहासिक नाटक है और इस नाटक की भी गणना उनके अन्य नाटकों के साथ ही की जानी चाहिये।

मानव का शैशव-चित्रण

इस नाटक में भारत के वर्तमान इतिहास के प्रतीकात्मक चित्रण की सम्भावना के साथ-साथ हमारा ध्यान अतीत के उस युग की ओर भी जाता है, जब मानव-सभ्यता अपने शैशव काल में थी। जब मनुष्य प्रकृति की गोद में लेटा अपने छोटे से समूह के बीच रहा करता था। उसकी थोड़ी-सी सीमित आवश्यकताएँ थीं। किसी सम्पत्ति पर किसी का कोई अधिकार न था। सच्चे अर्थों में वह प्रकृतिका स्वर सुना करता था। धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ीं और उसने निष्ठुरता, दम्भ, क्रूरता एवं विलास को अपना कर अपनी सरलता को जटिल बनाया। राजतन्त्र का विकास हुआ। लोगों में तरह-तरह की बुराइयाँ उत्पन्न हुई, मार-काट, युद्ध आदि का सर्जन हुआ, आदि-आदि।

मानव सभ्यता के विकास का जो यह क्रम रहा, वैसा ही क्रम और चित्रण इस नाटक में भी दिखायी पड़ता है। आरम्भ में नारी समाज की नेतृ थी और इस नाटक में भी हम कामना को अपने समाज की नेतृ के रूप में पाते हैं। इस प्रकार इस नाटक में सभ्यता के विकास की एक दीर्घकालिक कहानी इन पात्र-प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। दीर्घ-कालिक इसलिए कि मानव-जीवन में जो जटिलता आयी है वह एक दिन की किसी आक-स्मिक घटना का फल नहीं है। इस जटिलता के आने में निश्चय ही हजारों वर्ष लगे होंगे, पर नाटक पढ़ते समय हमें इस दीर्घकालिकता का भान नहीं हो पाता।

अपने इस रूप में कामना का बर्नर्डशा के **मैथ्युसलाह** के साथ अद्‌भुत साम्य है। दोनों में मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन का चित्रण है। जैसे-जैसे मनुष्य उन्नत होता जाता है, उसकी आवश्यकताएँ नूतन शब्दों का सर्जन करती जाती हैं। मैथ्युसलाह में एडम और ईव नये-नये शब्द सर्प से सीखते हैं, कामना में वही बात द्वीपवासी विलास से सीखते हैं। विलास सर्प ही तो है!

प्रसाद का सामाजिक-दर्शन

चाहे हम इस नाटक को मनोवृत्तियों का चित्रण करने वाला अन्यापदेशिक मानें अथवा हम उसे ऐतिहासिक तत्वों के ताने-बाने से बुना ऐसा प्रतीकात्मक नाटक कहें, जो हमारे वर्तमान को अथवा मानव के आदिम इतिहास को चित्रित करता है, एक बात स्पष्ट है कि इस नाटक के पीछे प्रसादजी की समाज-व्यवस्था सम्बन्धी अपनी एक निजी भावना

रही है । वे उस समाज की ओर लौट जाना चाहते थे जिसमें प्रकृति के साथ मनुष्य का अधिक साहचर्य था । उन्होंने इस बात को अपने शब्दों में सीधे ढंग से न कहकर नाटक के आरम्भ में महाभारत से दो श्लोक उद्धृत कर दिये हैं, जो नाटक की भूमिका का काम देते हैं—

नैव राज्यं न राजासीन्नचदंडो न दण्डिकः ।
धर्म्मेणैव प्रजाः सर्व्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ।।
पाल्य मानास्तथाऽन्यौन्यं नरा धर्मेण भारत ।
दैन्यं परमुपाजग्मु स्ततस्तान् मोह आविशत् ।।

यदि इस दृष्टि से नाटक को देखा जाय तो प्रसाद नाटककार, कवि, दार्शनिक और इतिहासकार से भिन्न एक समाजशास्त्री के रूप में प्रकट होते हैं । ऐसा लगता है कि उनका अपना एक सामाजिक दर्शन था । अपने उस सामाजिक दर्शन को उन्होंने सीधे-सीधे न कह कर नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है । किन्तु उन्होंने जिस मानव समाज का चित्र उपस्थित किया है, वह बहुत कुछ भावुकता और कल्पना पर आधारित है । एक आलोचक मित्रने इसे ठीक ही काल्पनिक (युटोपियन) समाज-व्यवस्था का प्रारूप कहा है।

प्रसाद ने ऐसे समाज की कल्पना की है जिसमें किसी प्रकार का शासन-तन्त्र नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति स्वतः अनुशासित है । फूल द्वीप-वासियों को किसी भी बाह्य नियन्त्रण या अंकुश की आवश्यकता नहीं है । वहाँ व्यष्टि और समिष्ट में कोई अन्तर्विरोध नहीं है । अतः जीवन में समरसता और सुख है । प्रसाद का यह समतावाद या साम्यवाद प्रकृति-वाद, मानववाद और अराजकवाद का बहुत कुछ मिश्रित रूप है । अराजकवादी और मानववादी इस बात में विश्वास करते हैं कि समाज और संसार में स्थायी शान्ति और समानता लाने के लिए केवल सम्पत्ति का सामाजिक उत्पादन और वितरण ही पर्याप्त नही है, क्योंकि बलात् लादी गयी यह व्यवस्था अल्पायु होगी । हमें प्रत्येक मनुष्य के जीवन और विचारों में बन्धुत्व का भाव लाना होगा । प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक दायित्व का अनुभव करेगा और उसी के अनुसार वह जीवन की मर्यादा स्थिर करेगा, तभी समाज में आदर्श साम्य की स्थापना हो सकती है ।

प्रसाद उस वर्ग के विचारकों में हैं जिसकी मान्यता यह है कि आज की समस्त समस्याएँ मशीन और उत्पादन के तरीकों के कारण उत्पन्न हुई हैं । अत्यधिक उत्पादन के कारण मशीन की सभ्यता ने मनुष्य की लिप्सा, संचय-वृत्ति और स्वार्थपरता को बहुत बढ़ा दिया है । अतः आवश्यक है कि मनुष्य अपने उत्पादन के प्राचीन साधनों को पुनः अपनाये अर्थात् अपनी और समाज की आवश्यकता भर ही उत्पादन करे, जिससे उसमें लोभ-लिप्सा आदि का भाव उत्पन्न ही न हो । सभी व्यक्ति समान रहें और सामाजिक जीवन व्यतीत करें । इसी से प्रसाद ने इस नाटक में समस्त कुप्रवृत्तियों का मूल सुवर्ण अर्थात् धन और मदिरा को माना है । ये दोनों ही वस्तुएँ मनुष्य के विवेक और सद्वृत्ति को कुंठित करती हैं । धन के कारण सामाजिक दुर्बलता आती है और मदिरा मनुष्य की अन्तर्रात्मा और चेतना को नष्ट कर देती है । फूल के द्वीप में जो कुछ है उससे ही प्रत्येक मनुष्य सन्तुष्ट है । सभी एक-दूसरे के घर और परिवार को अपना समझते हैं । किन्तु जिस

दिन विलास अपने चमकीले सुवर्णपट्ट के साथ उस द्वीप में प्रवेश करता है, उसी दिन से वहाँ का नैसर्गिक और सुखी जीवन कलह, स्वार्थ और नाना प्रकार के अनाचारों से दूषित हो जाता है।

वहाँ का समाज ऐसा है जिसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रता से जीवन भर के लिए अपना साथी चुन लेते हैं। उस समाज में उत्तराधिकार अथवा किसी अन्य अधिकार की लिप्सा नहीं है। डर, विरोध आदि दुर्भाव विलास के आने के बाद द्वीपवासियों में आते हैं। कामना के हृदय में अधिकार-लिप्सा का उदय विलास की प्रेरणा से होता है। इस अधिकार-लिप्सा को राजतन्त्र के रूप में स्थायी रूप देने में ईश्वरवाद सहायक होता है। प्रकृति के बीच रहते हुए उसी के सब निर्देश ग्रहण करना स्वाभाविक जीवन का सबसे सुन्दर रूप है। ईश्वरवाद मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करन वाला है। उससे अन्य अनेक प्रकार के विश्वासों का जन्म होता है जिसके कारण सामाजिक शोषण होने लगता है। ईश्वरवाद और धार्मिकता प्रायः समाज-शोषक शक्तियों का साथ देते रहे हैं। फूलों के द्वीप में जब कुछ वृद्ध कामना की व्यक्तिगत आकांक्षा और स्वार्थ का विरोध करते हैं तो विलास उन्हें ईश्वर का भय दिखा कर शान्त करता है—'**अनर्थ न करो, ईश्वर का कोप होगा।**' आगे वह कहता है—'**ईश्वर है और वह सबका कर्म देखता है। अच्छे कर्मों का पारितोषिक और अपराधों का दंड देता है। वह न्याय करता है—अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा।**'

इस प्रकार वह ईश्वर के भय और आतंक से द्वीपवासियों का विरोध शान्त कर देता है और विलास उनके मौन का लाभ उठा कर कामना को रानी बना देता है। ईश्वर का प्रसाद कह कर वह सबको मदिरा पिला कर उन्मत्त कर देता है। पीछे मदिरा की बाढ़ के फलस्वरूप व्यभिचार आदि का बीजारोपण होता है। वह आखेट की प्रवृत्ति को उत्साहित कर द्वीपवासियों को हत्या के लिए प्रेरित करता है।

कामना को रानी बना कर विलास फूलों के द्वीप में राजतन्त्र का आरम्भ करता है। राजतन्त्र की व्याख्या करते हुए विलास कामना से कहता है—'**निग्रह अनुग्रह की क्षमता का केन्द्र, प्रतिफल की अमोघ शक्ति से यथाभाग सन्तुष्ट रखने का साधन, राजशक्ति है। इस देश के कल्याण के लिए उसी तन्त्र का तुम्हारे द्वारा प्रचार किया गया है और तुम बनायी गयी हो रानी।**' सन्तोष जब विवेक से पूछता है—'**भला यह रानी क्या वस्तु है?**' तो वह उत्तर देता है—'**मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्ति।**' इन शब्दों में विवेक ने उन मूल तत्वों की ओर संकेत किया है जिनसे राजतन्त्र जन्मता और सुरक्षित रहता है।

प्रसाद अपनी समाज-व्यवस्था में राष्ट्रों के अस्तित्व को भी हानिकर मानते हैं। वे राष्ट्र की व्यवस्था विलास से इन शब्दों में कराते हैं—'**राष्ट्र के शरीर की आत्मा राजसत्ता है।**' वे मानते हैं कि बिना राजतन्त्र के राष्ट्र का रूप स्थिर नहीं हो सकता। उसी प्रकार मुद्रा भी राजतन्त्र को सबल बनाने में सहायक होती है। उसके बिना जीवन की कोई भी आवश्यक वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार उत्पादन और वितरण के अधिकार राज्य के हाथ में होते हैं। उनका मत है कि इस प्रकार की सत्ता और व्यवस्था अपने इन्हीं अन्तर्विरोधों के कारण ध्वस्त हो जायगी। प्रसाद ने अपने इस नाटक में सर्वत्र राज-

तन्त्र की भर्त्सना की है। उनकी दृष्टि में सारा राजतन्त्र मनुष्य के शोषण पर आधारित है। वह अनेक प्रकार की नयी-नयी समस्याओं को जन्म देता है। विवेक के शब्दों में— **'मनुष्यता की रक्षा के लिए, पाशविक वृत्तियों के दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गयी, परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा जब वह अपना दायित्व कम करेगी—जनता को, व्यक्ति को आत्म-संयम और आत्म-शासन सिखा कर विश्राम लेगी। जब अपराधियों की मात्रा घटेगी और क्रमशः समूल नष्ट होगी, तब संघर्षमय शासन स्वयं तिरोहित होगा। आत्म-प्रसारको! उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगा, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व जाति और देश के व्रणों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'**

किन्तु समाज को राजतन्त्र से मुक्त रखने की सार्थकता प्रसाद सिद्ध नहीं कर सके हैं। उन्हें अन्त में विलास और लालसा के राज्याभिषेक को रोकने के लिए सैनिकों की आवश्यकता पड़ती ही है। सैनिकों के आने से ही विलास के सैनिक अस्त्र रख कर आत्मसमर्पण करते हैं। वे सैनिक यह स्वीकार करते हैं कि राजतन्त्र का सर्वथा परिहार सम्भव नहीं है। हाँ, उसके संचालनके लिए योग्य व्यक्ति हो सकते हैं। **'यह ठीक है कि हम लोगों को विधि निषेधात्मक एक सर्वमान्य सत्ता की आवश्यकता हो गयी है, परन्तु तुम कदापि इसके योग्य नहीं हो।'**

इस परस्पर विरोधी बातों से ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद की समाज-शास्त्रीय-व्यवस्था में कहीं असंगति अवश्य है। उनके मतानुसार जीवन में सन्तोष और संयम की अवतारणा से सच्चा संयम आ सकता है और ऐसा होने पर राजतन्त्र अपने आप झड़ जायगा। उनकी कल्पना यह है कि सर्वप्रथम व्यक्ति के ही जीवन में सन्तोष का उदय हो सकता है और वही समाज में व्याप्त होकर उसके अनुकूल बर्हिमुख सामाजिक स्थिति उत्पन्न करेगा। सम्भवतः प्रसाद जी की स्थापना में यहीं अन्तर्विरोध है। सन्तोष की वृत्ति सर्वथा निरपेक्ष नहीं है। व्यक्ति के जीवन का सन्तोष स्थायी और शाश्वत वृत्ति नहीं हो सकता। वह अल्पकालिक ही रहेगा। इसी से सन्तोष को सैनिकों की शक्ति से विलास को निष्कासित करना पड़ा। व्यक्ति के जीवन में सन्तोष का भाव तभी स्थायी होगा जब समाज का जीवन उसके अंकुरित और पल्लवित होने में समुचित योग दे। मान-सिक वृत्तियाँ आकाशबेलि की तरह मनुष्य के हृदय में निराधार अंकुरित नहीं हो सकतीं। उसके लिए उपयुक्त सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होगी ही।

फिर भी प्रसाद जी की इस सामाजिक दृष्टि में काफी स्पष्टता है। उन्होंने धर्म, ईश्वर, राष्ट्र, जाति आदि विभिन्न धारणाओं और विश्वासों को सच्चे रूप में पहचाना है। वस्तुतः उन्होंने उपनिषदों और महाकाव्यों के युग के उस आदर्श से अनुप्राणित होकर इस सामाजिक रूप की रचना की है जिसमें व्यक्ति और समाज-धर्म में कहीं विरोध नहीं था और जो मनुष्य के अन्तःकरण की पवित्रता के सहारे दोनों ही धर्मों की सिद्धि में सचेष्ट था।

चरित्र-चित्रण

कामना के पात्र, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपनी मान्यताओं में इतने बँधे हुए है कि वे स्वतन्त्र रूप से आचरण नहीं कर पाते और न उनका चरित्र ही विकसित हो पाता है। यदि ये पात्र मनोवृत्तियों और भावना के प्रतीक हैं, तो उन विविध मनोवृत्तियों से बाहर उनका चरित्र नहीं देखा जा सकता। यदि वे ऐतिहासिक घटनाओं के प्रतीकात्मक पात्र माने जायँ तो उन घटनाओं के सहारे उनके चरित्र का कुछ विश्लेषण हो सकता है। किन्तु वस्तुत: वे क्या है, इसकी निश्चित धारणा बनाये बिना उनके चरित्र का समुचित विवेचन नहीं किया जा सकता, उनके स्वरूप की चर्चा भर की जा सकती है।

विलास

यद्यपि नाटक के नाम से लगता है कि कामना की इस नाटक में प्रधानता होगी, किन्तु केन्द्रविन्दु वह न होकर विलास है। वह अपने देश की दरिद्रता से विताड़ित और अपने कुकर्मों से निर्वासित होकर फूलों के द्वीप में आता है। वहाँ के निवासियों के सरल और निश्छल जीवन को देखकर आश्चर्यचकित होता है। उन लोगों पर शासन करने का निश्चय करता है, उसके लिए योजना बनाता है—'**ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया तो पुरुषार्थ ही क्या? इनमें प्रभाव फैला कर अपने नये और व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा।**' उसकी महत्वाकांक्षा बलवती हो उठती है। छाया के रूप में उसे अपने कार्य-पथ का निर्देशन प्राप्त होता है—'**तुझे इस जाति को अपराधी बनाना होगा। जो जाति अपराध और पापों से पतित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या अपने सजातीय शासक की आज्ञाओं का बोझ वहन नहीं करती। बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली जाति को पतित नहीं बना सकता।**'

संकल्प और साधन निश्चित कर विलास तत्परता के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है और उसमें कौशल से कामना को अपना माध्यम बनाता है। कामना प्रथम साक्षात के बाद से ही उसके रूप और वैभव पर मुग्ध हो चुकी है। अत: समझ लेता है कि वह सरलता से उसके कार्य में साधन बन सकती है। उस समय वह द्वीप का नेतृत्व कर कर रही है, अत: अवसर को अपने अनुकूल पाकर वह निश्चय करता है—'**जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच अपना काम कर लेना है।**'

अपने सुरक्षित स्वर्ण के आलोक से द्वीपवासियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर देता है, और उन्हें अपनी ओर खींच लेता है। विनोद, लीला तथा अधिकांश द्वीपवासी उसकी अधीनता सहज स्वीकार लेते हैं। तब उन्हें मदिरा में डुबो कर अपनी योजना कार्यान्वित करता है। कामना को रानी के पद पर बैठा कर अपने प्रभाव का विस्तार करता है।

वह इतना कार्यकुशल है कि अपनी योजनाओं को एक दम प्रकट नहीं कर देता। विवेक के शब्दों में—'**उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बहिया है।**' अस्तु, वह अपनी प्रत्येक योजना को किसी न किसी भूमिका के माध्यम से प्रस्तुत करता है। वह अपनी योजनाओं के

प्रस्ताव, सरल और स्वाभाविक लगनेवाले तर्कों और युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है। कामना को रानी बनाने से पूर्व उसे वह खेल में रानी बनाता है और उसकी आज्ञा का पालन करने का निर्देश द्वीपवासियों को देता है। मदिरा को ईश्वर की प्रसन्नता बताता है और विवाह के उपहार स्वरूप उसे लेकर जाने का लोगों से आग्रह करता है। और उसी के साथ वह उनमें ईश्वर का भय उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार वह आखेट को विनोद और व्यायाम का सुगम साधन बता कर पशुओं को भयभीत करने के बहाने उनकी निर्मम हत्या को प्रोत्साहित करता है, और इस प्रकार वह उनमें हत्या, क्रूरता आदि का प्रचार करता है।

जब राजसत्ता स्थापित करता है तो कामना उसकी आवश्यकता के प्रति जिज्ञासु होती है—'**तुम मुझे रानी क्यों बनाना चाहते हो ?**' तब वह उसे समझाता है—'**रानी, तुमको इसलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो। इस नियमपूर्ण संसार में क्या अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता नहीं है ?**' इसी प्रकार जब उसे राज्यादेश मान्य ठहराने में कुछ कठिनाई उत्पन्न होती है तो अपनी तर्कयुक्त वक्तृता से समस्त द्वीप-वासियों को राजसत्ता की आवश्यकता का अनुभव कराता है। राजसत्ता स्थापित हो जाने पर वह स्वयं मन्त्री बन कर कारागार, न्यायालय आदि अन्य राज्य साधनों का संघटन करता है और अपना प्रभुत्व सुदृढ़ करता है।

अपनी महत्वाकांक्षाओं के विस्तार में वह क्रूर बन जाता है। शान्तिदेव के हत्यारे के लिए दंड का विधान करते हुए अपने क्रर मनोभावों को इस प्रकार प्रकट करता है — '**इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिये कि लोग देख कर काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करे।**' इस क्रूरता के पीछे दण्ड का एक बहाना है; किन्तु पड़ोसी द्वीप पर नृशंस आक्रमण तो स्पष्टतः उसकी क्रूर मनोवृत्ति का परिचायक है। वहाँ वह अकारण हत्या और रक्त-पात उपस्थित करता है। यहाँ तक कि पराजित देश के सेनापति और उसकी पत्नी को भी मरवा डालता है।

इस प्रकार विलास अपनी महत्वाकांक्षा का महल अनाचार पर बनाने की चेष्टा करता है। वह स्वयं इस बात का अनुभव करता है—"**मैं इस देश के अनिर्दिष्ट आकाशपथ का धूमकेतु हूँ। मेरी महत्वाकांक्षा ने अवकाश और समय दोनों की सृष्टि कर दी है। उसमें पदार्थों द्वारा नयी सृष्टि करूँगा, फिर चाहे उस सृष्टि के साथ मैं भी कुहेलिका सागर में विलीन हो जाऊँ।**" अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण कुछ समय के लिए वह द्वीप-वासियों पर अपना प्रभाव जमाने में सफल भी होता है, किन्तु उसकी दुर्नीति के कारण बढ़ती हुई अपराधवृत्ति और कुचक्र स्वयं उसे झकझोर देते हैं। वह उनका सामना करने के लिए खड़ा नहीं रह पाता। नवीन सभ्यताजनित परिस्परिक ईर्षा, द्वेष, प्रमाद, वासना, अनाचार से द्वीपवासी त्रस्त होकर सजग हो उठते हैं। विवेक के नेतृत्व में वे उसका विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। कामना, जो उसके हाथों की कठपुतली थी, राजसत्ता का परित्याग ही नहीं करती, उसका खुला तिरस्कार करती है। विरोध और सन्तोष की संघटित शक्ति का विरोध कर सकने में वह असमर्थ हो जाता है। फलतः स्वयं राजा बनने का स्वप्न ही भंग नहीं होता, वरन् द्वीप छोड़ कर भागने के अतिरिक्त उसके सम्मुख

कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। किन्तु द्वीप से पलायन करके भी वह अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर पाता। जिस स्वर्ण का प्रचार कर उसने द्वीपवासियों को अपना अनुगामी बनाया था, उसी स्वर्ण को द्वीपवासी उसकी नौका पर फेंक कर उसे इतना बोझिल बना देते हैं कि वह उसकी अनन्त समाधि का कारण बन जाता है। वह अनन्तकाल के लिए समद्र के गर्त में विलीन हो जाता है।

विलास के चरित्र का यदि विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि वह महत्वाकांक्षी होने के साथ-साथ साहसी, वाक्-चतुर और प्रतिभाशाली व्यक्ति था। अपने इन गुणों से ही वह द्वीपवासियों के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के उपकरण प्रविष्ट करन में पूर्ण रूप से सफल रहा। किन्तु इन गुणों के साथ-साथ उसमें कुछ दुर्बलताएँ भी हैं। अपनी उन दुर्बलताओं के कारण ही वह नवीन सभ्यता जनित प्रतिक्रिया को ठीक तरह से मोड़ न सका। फलतः वह स्वयं उसकी चपेट में आ गया। उसकी इन दुर्बलताओं में सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी अपनी **मानसिक अव्यवस्था** है। फलतः यह सोचते हुए भी कि—'**कामना एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री है**' उसने ब्याह का प्रस्ताव किया था—'**मैं भी ब्याह के पवित्र बन्धन में बँधकर राजा होकर सुखी होता**।' वह अपनी कल्पनाओं में बह जाता है—'**कामना एक गर्वपूर्ण और सरल हृदय की स्त्री है। रंगीन तो है, पर निरीह इन्द्रधनुष के समान उदय होकर विलीन होने वाली है। तेज तो है, पर वेदी को धधकाने से जलने वाली ज्वाला है। मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता। मुझको चाहिये बिजली के समान वक्र रेखाओं का सृजन करने वाली, आँखों को चौंधिया देनेवाली तीव्र और विचित्र ज्वाला, जिस हृदय में ज्वालामुखी धधकती हो, जिसे ईंधन का काम न हो, वही दुर्दमनीय तेज ज्वाला में उसी का अनुगत हूँगा। यह हृदय उसी का लोहा मानेगा**।' और होता यह है कि वह लालसा के कटाक्षों में बिंध कर अपने को उसके हाथों में समर्पण कर देता है। स्पष्ट शब्दों में वह अपने इस आत्मसमर्पण को स्वीकार करता है—'**मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पायी, परन्तु वह झूठा गर्व था**।' फलतः एक ओर वह कामना की सहानुभूति खो बैठता है, दूसरी ओर लालसा के साथ-साथ वह स्वयं विलासिता के प्रभाव में बह जाता है। लालसा को अपना कर उसकी वासनाएँ शान्त होने की अपेक्षा अधिक भड़क उठती हैं और वह शत्रु-सेनापति की स्त्री पर कुदृष्टि डालने की चेष्टा करता है। अपनी इन दुर्बलताओं से वह इतना जर्जर हो उठा है कि लालसा को शत्रु-सेनापति से प्रणय की भिक्षा माँगते देख कर भी कुछ कह नहीं पाता। लालसाजनित वासनाओं की बाढ़ में बहा ही चला जाता है और अन्ततोगत्वा पतन के गर्त में जा गिरता है।

विलास का चरित्र एक सामान्य महत्वाकाँक्षी व्यक्ति का चरित्र है जिसमें विवेक का अभाव है। सामान्यतः मनुष्य अपनी आकांक्षाओं के सम्मुख विवेक को भूल जाते ह। कुछ ही लोग उसके अपवाद हैं। अतः विलास एक सामान्य मनुष्य का सफल चित्रण है। उसके माध्यम से नाटककार न नवीन सभ्यता के प्रसार की विविधि दिशाओं की ओर इंगित किया है और तज्जनित दुरवस्थाओं पर प्रकाश डाला है।

संतोष

सन्तोष नाटक का एक ऐसा पात्र है जिसके सम्बन्ध में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि नाटक में उसका स्थान क्या है। नाटक की नायिका कामना के प्रति वह अनुराग-भाव रखता है। उसके प्रति उसके मन में प्रणय-भावना छिपी हुई है जिसे वह दूसरों के सामने प्रकट नहीं करना चाहता। विनोद से कहता है—'**उसकी बातें, उसकी भाव-भंगिमा कुछ समझ में नहीं आतीं। मैं तो उससे अलग रहा चाहता हूँ।**' यही नहीं—'**मैं सन्तुष्ट हूँ, मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।**' किन्तु जब कामना पूछती है कि '**किस साहस से यहाँ आये?**' तो वह कह उठता है—'**देखने के लिए कि मेरी आवश्यकता अब भी है कि नहीं।**' और अपनी हृद्गत भावनाओं को खोल कर रख देता है—'**जब हृदय ने पराभव स्वीकार करके विजय-माला तुम्हें पहनी दी और तुम्हारे कपोलों पर उत्साह की लहर खेल रही थी, उसी समय तुमने ठोकर लगा कर मेरी सुन्दर कल्पना को स्वप्न कर दिया। रमणी का रूप—कल्पना का प्रत्यक्ष—सम्भावना की साकारता और दूसरे अतीन्द्रीय रूप-लोक का आलोक जिसके सामने मानवीय महत् अहम् भाव लोटने लगता है, जिस पिच्छल भूमि पर स्खलन विवेक बन कर खड़ा होता है, जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन देख कर पूर्ण वेग से धमनियों में दौड़ने लगता है, जहाँ चिन्ता विस्मृत होकर विश्राम करने लगती है, वही रमणी का तुम्हारा रूप देखा था और यह नहीं कह सकता कि मैं झुक नहीं गया।** उसके साथ ही कामना के प्रति अपने उदासीन हो जाने के कारण को भी स्पष्ट कह देता है—'**मैंने देखा कि उस रूप में पूर्ण चन्द्र के वैभव की चन्द्रिका-सी सबको नहला देने वाली उच्छृङ्खल वासना, वह अपार यौवन राशि समुद्र के जलस्तूप के समान समुन्नत, उसमें गर्व की ऊँची लहरियाँ चढ़ती थीं, गिरती थीं। वह जल-राशि मेरे लिए रहस्यपूर्ण कुतूहल की प्रेरक थी। मैंने विचारा कि वह प्यास बुझाने का मधुर श्रोत नहीं है, जो मल्लिका की मीठी छाँह में बहता है... तुम्हें देखने की, पहचानने की चेष्टा की और तुम्हें कुहक के रूप में देखा।**

इस प्रकार परम्मरागत नाटकों के नायकों की भाँति नायिकाके खिंचे रहने पर भी, उसके प्रति अनुराग बनाये रखने पर भी उसके पीछे दौड़नेवाला नायक सन्ताष नहीं है, उसमें गम्भीरता है। कामना को खिंचा देख स्वयं भी खिंच जाता है, तटस्थ हो जाता है। जब कामना अपनी उद्दाम वासनाओं की मृगतृष्णा में पड़ कर चारों ओर भटक चुकने के बाद मनःपूत हो जाती है। अपनी सारी चंचलताओं को छोड़ कर वह नैसर्गिक जीवन में ही वास्तविक सुख और शान्ति का अनुभव करने की भावना से ओत-प्रोत होती है तो वह सहज ही उसे अंगीकार कर लेता है। इसको देखते हुए लगता है कि उसे नाट्यशास्त्र में दिये गये नायक के परिभाषा के दायरे में रखा जा सकता है,यद्यपि नायिका के प्रणयी के रूप में नाटक में उसका कोई स्थान नहीं है। नाटक के घात-प्रतिघातों के बीच वह एक सामान्य प्राणीमात्र है।

हाँ, मानव मनोवृत्तियों के प्रतीक के रूप में उसका विश्लेषण करते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य सन्तोष वृत्ति रखता हुआ भी कामना रखता है। अपनी कामना पूरी न होने पर सन्तोष वृत्तिवाला मनुष्य उसके प्रति तटस्थ अथवा उदासीन भाव रख लेता है। उसको प्राप्ति के लिए वह अनावश्यक प्रयास नहीं करता। यदि कामना अपने-आप पूरी होती हो, तो उसका वह तिरस्कार न कर उसे स्वीकार कर लेता है। यही रूप सन्तोष का इस नाटक में है।

इससे भिन्न, विलास और कामना के संयुक्त प्रयास से फूलों के द्वीप में जो हलचल होती है, उसमें भी हम सन्तोष को किसी प्रकार विशेष भाग लेते हुए नही देखते । हाँ, एक स्थान पर हम उसे विलास की आलोचना करते एवं द्वीप की पतनोन्मुख अवस्था पर खेद करते हुए अवश्य पाते है। (**अंक २, दृश्य ४**) । किन्तु उसका सक्रिय विरोध उभरता हुआ कही देखने में नही आता । अपने मन ही मन वह कुढ कर रह जाता है । अपनी उस कुढन की वह कामना के सम्मुख अवश्य प्रकट कर देता है---'**दुःखों की बात उनसे पूछो, तुम्हारी राज्य कल्पना से जिनकी मानसिक शुभेच्छा एक बार ही नष्ट हो गयी है । जिन पर कल्याण की मधु वर्षा नहीं होती, उन अपनी प्रजाओं से पूछो और पूछो अपने मन से ।**' किन्तु इससे ऐसा कही नही प्रकट होता कि उसमे विद्रोह छिपा हुआ है । अकस्मात् हम अन्तिम दृश्य में उसे सैनिकों के साथ रंगमंच पर प्रविष्ट होते पाते है और वही हम उसे प्रथम और अन्तिम बार खुला विद्रोह करते देखते है---'**तुम हत्या करके भी यह साहस करते हो कि हम लोग तुम्हें अपना सर्वस्व मानें ! यह ठीक है कि हम लोगों को विधि निषेधात्मक एक सर्वमान्य सत्ता की आवश्यकता हो गयी है; परन्तु तुम कदापि इसके योग्य नहीं हो ।**' परिस्थिति बदल देने के लिए अकस्मात् कुछ चमत्कार उपस्थित कर देने की जो प्रवृत्ति प्रसाद के अन्य नाटकों में परिलक्षित होती है, वही प्रवृत्ति यहाँ भी काम करती दिखायी पड़ती है । सन्तोष को अकस्मात् उपस्थित कर विलास की मनोकामना-पूर्ति में व्याघात उपस्थित अवश्य कर दिया गया है, पर उससे सन्तोष का चरित्र उलझ सा जाता है । उसके व्यक्तित्व का रूप कुछ निखर नही पाता ।

हाँ, करुणा के सम्पर्क में सन्तोष की लोकसेवा-भावना की कुछ झलक मिलती है । उसे हम शान्तिदेव की निराश्रित बहिन करुणा की सहायता में पूर्ण उत्साह से लगा पाते हैं । वह करुणा के साथ उसके खेतो में परिश्रमपूर्वक कार्य करता है । उसके लिए अनेक कष्ट सहता हुआ दुष्टों से उसके चरित्र और सम्मान की रक्षा करता है । उसे अपना भ्रातृत्व प्रदान कर घुल मिल जाता है---'**जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है ।**' और यही सन्तोष के चरित्र का निखरा रूप है । किन्तु क्या यह नाटक में सन्तोष के आस्तित्व के लिए पर्याप्त है ?

विवेक

विवेक नाम के अनुरूप ही विवेक नाटक का विवेकशील पात्र है । वह अपनी दूर-दर्शिनी बुद्धि के कारण विलास के प्रभाव में नहीं आता । वह प्रभाव में ही नहीं आता, वरन् विलास के कार्यो का निर्भीकताके साथ स्पष्ट शब्दों में विरोध भी करता है । वह विलास द्वारा प्रसारित नयी सभ्यता के मायाजाल और उसकी विभीषिका का द्वीपवासियों को परिचित कराता रहता है । विलास की बातों का वह खुले शब्दों में विरोध करता रहता है । पहली बार जब विलास लोगों को ईश्वर का भय दिखाता है, पापकी परिभाषा बताता है तभी विवेक का विरोध मुखर हो उठता है---'**निषेध का घोर नाद करके तुम पाप क्यों प्रचारित कर रहे हो ? वह हमारे लिए अज्ञात बात है । तुम ज्ञान को अपने लिए सुरक्षित रखो ।**' जब लोग विलास की बातों में आ जाते है तो भविष्य को समझ लेता है---'**परिवर्तन ! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से---कुहू से**

बदल जायगी। बालकों के-से शुभ्र हृदय छल की मेघमाला से ढक जायँगे।' तज्जनित स्थिति से दुःखी होता है—'**हमारे फूलों के द्वीप में किस निर्दय ने काँटे बिखेर दिये ? किसने हमारा प्रभात-स्वप्न भंग किया ? स्वप्न—आ ! कुदृश्यों से थकी हुई आँखों में चली आ। ...काल्पनिक अत्यन्त उत्तमता, सुख-भोग की अनन्त कामना, स्वर्गीय इन्द्रधनुष बन कर सामने आ गयी है, जिसने वास्तविक जीवन के लिए इस पृथ्वी की दबी हुई ज्वालामुखियों का मुँह खोल दिया है। हमारे फूलों के द्वीप के बच्चो ! रोओगे कोमल फूलों के लिए, इन शीतल झरनों के लिए।...'**

जब लोग उन्मत्त होकर नाचते-नाचते मद्यप की-सी चेष्टा करते हैं तो वह कह उठता है—'**इसी स्वर्ग में नरक की सृष्टि होगी। भागो भागो !**' पुनः जनता को सचेत करता है—'**व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री-सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उस पर रंग चढ़ाती है। क्यों, क्या यह सौन्दर्य पहले कहीं छिपा था जो अब तुम लोग इतने लोलुप हो गये हो !**'

पर उसकी कोई नहीं सुनता। लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। उसे मूर्ख, अन्धा, पागल बताते हैं, किन्तु वह इन बातों की परवाह नहीं करता। पागल कहे जाने पर वह कह उठता है—'**मैं पागल हूँ ! अच्छा है जो सज्ञान नहीं हूँ। इस वीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूँ।**' देश की अवस्था उसे निरन्तर चिन्तित किये रहती है—'**इस देश के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखायी देते हैं। स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता सहित और भी कैसे कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है ! व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है। ...एक-एक पात्र मदिरा के लिए लालायित होकर दासता का बोझ वहन करते हैं। हृदय में व्याकुलता, मस्तिष्क में पाप कल्पना भरी है।...हत्या और पापों की दौड़ हो रही है, और धर्म की धूम है।**' किन्तु वह विवश है। उसे अपनी बेबसी खलती है। फिर भी वह मुँह बन्द नहीं रख सकता। शान्तिदेव से सोना छीनने के अपराधियों के न्याय के अवसर पर जब विलास कहता है '**कि इसका उद्योग अनुचित था,**' तो विवेक निस्संकोच कह ही देता है—'**मैं पूछता हूँ, यहाँ इतने लोग खड़े हैं, इनमें कौन ऐसा है जिसे सोना न चाहिये ?**' और जब उन अपराधियों को वृक्ष से बाँधकर तीर मारने का आदेश कामना देती है तो फिर वह सचेत करता है—'**रानी ! देखो, अपना कठोर दण्ड देखो। और देखो अपराध से अपराध-परम्परा की सृष्टि !**' और एक सच्चे विद्रोही की तरह उस पशुता का विरोध करता हुआ विलास और कामना दोनों को ललकारता हुआ कहता है—'**मेरी भी इस खुली हुई छाती पर दो-तीन तीर ! रक्त की धारा वक्ष-स्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूँगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार में मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जयघोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे ? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे ? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने पशुओ ! कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्वल था।**'

एक ओर विवेक जहाँ शासक वर्ग की इस प्रकार भर्त्सना करता है, वहीं दूसरी ओर पीड़ित जनता की सहायता करता है। युद्ध में घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करता है,

अत्याचार से पीड़ित बालिका की रक्षा के लिए सैनिक से भिड़ जाता है—'**दूसरे की रक्षा में पाप के विरोध और परोपकार करने में प्राणपण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है ? नीच ! आ देखूँ तो ।**' इसी प्रकार वह सन्तोष और करुणा के जीवन और सम्मान की रक्षा करता है ।

इस प्रकार हम विवेक को सदैव अनाचार का विरोध और पीड़ितों की सहायता करते पाते हैं । फलतः विरोधियों को भी उसकी बातों पर ध्यान देने को बाध्य होना पड़ता है । कामना उसकी बातों को सुनकर कह उठती है—'**यह बूढ़ा तो मुझे भी पागल कर देगा ।**' विलास को भी कहना ही पड़ता है—'**विचार करूँगा ।**' द्वीपवासी भी उसकी बातों का रहस्य समझने लगते हैं । अन्तोगत्वा एक दिन ऐसा आता है, जब कामना भी विलास से विद्रोह कर देती है और सिंहासन त्यागकर विवेक से लिपट जाती है । सैनिक भी विलास का साथ छोड़ देते हैं । इस प्रकार विवेक के उद्योग से द्वीप का विलास के माया-जाल से उद्धार होता है ।

इस प्रकार विवेक नाटक का एक सक्रिय पात्र हैं । यदि विलास को नाटक का नायक कहा जाय, और वह है भी, तो विवेक को खल-नायक कह सकते हैं । किन्तु इस खल-नायक में खलता का नाम भी नहीं है । वस्तुतः खल है विलास, उसके घातों का यह प्रतिघात है ।

विनोद

विनोद सरल स्वभाव का व्यक्ति हैं । कहने के लिए उसका नाम विनोद है; किन्तु विनोद जैसा मानव-वृत्ति का छिछलापन उसके जीवन में कहीं दिखायी नहीं पड़ता । उसमें गम्भीरता की मात्रा अधिक है । वह एक जिज्ञासु के रूप में सामने आता है । उसके मन में कुतूहल भरा है कि '**समुद्र की अनन्त जल-राशि के उस पार क्या है ?**' किन्तु साथ ही उसके सरल मन को विश्वास नहीं है कि '**ऐसी धवल धूप, ऐसी तारों से जगमगाती रात वहाँ होगी ।**'

जीवन के प्रति उसकी अपनी मान्यता है—'**मेरी गृहस्थी तो ब्याह के बिना सूनी जान पड़ती है ।**' और वह लीला की सरलता पर प्रसन्न ही नहीं मुग्ध भी है और उससे विवाह करने की इच्छा रखता है । किन्तु लीला को सन्तोष की ओर आकृष्ट देखकर वह सन्तोष की मैत्री के कारण अपने को उसकी ओर से समेट लेता है । लीला को पाने के लिए प्रयत्न नहीं करता, किन्तु कामना के प्रयत्न से विनोद का लीला के साथ विवाह हो ही जाता है । यहाँ तक विनोद के जीवन में सरलता ही सरलता दिखायी पड़ती है ।

किन्तु लीला के साथ विवाह होते ही वह लीला में अपने को आत्मसात् कर देता है । उसका अपना कोई व्यक्तित्व रह ही नहीं जाता । लीला के कहने से कामना द्वारा दी हुई मेधा को स्वीकार करता है, स्वर्ण के लोभ से विलास का दास भी बन जाता है । वह विलास के सुरा-स्वर्ण के चक्र में पड़ जाता है । उसके मन में अपनी स्थिति के औचित्य के प्रति सन्देह उत्पन्न होता है, वह लीला से पूछता है—'**लीला, हम लोग कहाँ चले जा रहे हैं, कुछ समझ रही हो ! समझ में आने की ये बातें हैं ?**' किन्तु लीला सुरा के साथ अपने सौन्दर्य-रसको पिलाकर उसे इतना आत्मविस्मृत कर देती है कि वह आँख मूँदकर विलास का अनुचर बना रहता है और उसकी सभ्यता के प्रतीक हत्या, व्यभिचार, विलासिता आदि के प्रचार और

प्रसार में सहायता करता है। उसका इतना पतन होता जाता है कि मदिरा के प्रभाव में अपने को संयत नहीं रख पाता और अन्य देश पर आक्रमण के समय वह सैन्य-संचालन में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। वह इतना विलासी बन जाता है कि लीला के सामने ही लालसा के पट-मंडप में चलने का निमन्त्रण स्वीकार कर लेता है और लीला देखती रह जाती है ऐश्वर्य और सभ्यता का परिणाम। उसके हत्यारेपन के सम्बन्ध में स्वयं उसकी पत्नी ही कहती है—'**वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो गया है, उसे मृगया से अवकाश नहीं।**'

इन दुर्बलताओं से घिरा रहकर भी विनोद एक दृढ़-प्रतिज्ञ और विश्वासी सेवक की भाँति कामना को रानी मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है। उसकी इस स्वामिभक्ति को परख कर विलास उसे द्वीप का सेनापति बनाता है और वह सफलतापूर्वक सैन्य संग्रह करता है, न्याय और विग्रह का सम्पादन करता है। बड़े उत्साह के साथ वह द्वीपवासियों को स्वर्ण-संग्रह के लिए प्रोत्साहित करता है—'**यदि वीर हो तो चलो—भोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।**' इस प्रकार कर्मनिष्ठ होकर भी वह अपनी दुर्बलताओं से अभिभूत है।

उसके चरित्र का खोखलापन उस समय अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब हम देखते हैं कि विवेक के विद्रोह के समय वह उससे जा मिलता है—'**आओ, हम सब उस मधुर-मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मंगल पाठ-करें।**' उसका इस प्रकार विलास और लालसा को एकाकी छोड़ देना कर्त्तव्य परायण सेवक की मर्यादा के सर्वथा प्रतिकूल है। किन्तु अपनी दुर्बलताओं से वह इतना अभिभूत है कि वह अपने को परिस्थिति का सामना करने में असमर्थ पाता है। उसके लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि बदलती हुई परिस्थिति का साथ दे।

उसके इस आकस्मिक रूप परिवर्तन को कतिपय आलोचक मित्रों ने द्वीप-निवासियों की आशु परिवर्तनशील सरल प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप बताया है और कहा है कि उसमें सात्विकता का अभाव परिस्थिति-जन्य रहा है। स्थिति स्पष्ट हो जाने पर उसकी आँखें खुल जाती हैं और उसके चरित्र की निर्मलता सामने आ जाती है। यह एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण हो सकता है, पर उसके जीवन पर आद्यन्त दृष्टि डालने पर यह अवसरवादिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार विनोद पतनोन्मुख वृत्तियोंवाले मनुष्य का प्रतीक है। उसमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ अपने बिखरे रूप में व्यक्त होता है।

कामना

कामना इन नाटक की नायिका है। उसके सहारे कथानक का ताना-बाना बुना गया है। वह अपने द्वीपवासियों के बीच सर्वप्रिय है। द्वीपवासियों के उपासनागृह का नेतृत्व उसको प्राप्त है। स्त्री-पुरुष सभी उसको सम्मान की दृष्टि देखते हैं। बालकों के बीच भी वह लोकप्रिय है। उन्हें खेल-कूद में उसका अभाव खटकता है। इस प्रकार कामना अपने देशवासियों के बीच नेतृ है, किन्तु उसकी अपनी चारित्रिक दुर्बलताएँ हैं। वह भावुक और सरल होने के साथ-साथ चंचल भी है। अपनी चंचलता के कारण वह अपने सार्वजनिक

पद के गौरव की रक्षा नहीं कर पाती । वह विलास के हाथ की कठपुतली बन जाती है । फलस्वरूप अपने द्वीपवासियों को पतन के गर्त में बहुत दूर तक घसीट ले जाती जाती है । उसी के कारण द्वीपवासी विलास के आदेशों का पालन करते हैं और उनका पतन होता है । जब कामना अपनी भूलों को पहचान लेती है और विलास का साथ छोड़ देती है, तो पुनः एक बार द्वीपवासी अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर लेते हैं ।

नाटक में कामना अपने हृदय की चंचलता लिए हुए सामने आती है । वह द्वीप में व्याप्त शान्ति से असन्तुष्ट है—'**विशाल जलराशि के शीतल अंक से लिपट कर आया हुआ पवन इन द्वीपवासियों को कोई दूसरा संदेश नहीं, केवल शान्ति का निरन्तर संगीत सुनाया करता है ।**' अपने प्रेमी सन्तोष को अपने **हृदय के समीप** पाकर भी वह समझती है कि वह **दूर है । सुन्दर** होते हुए भी '**केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है ।**' इसलिए वह सोचती है कि '**अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी ? नहीं**' और अनुभव करती है कि वह सन्तोष से घृणा करती है, पर वह अपने को समझ नहीं पाती । अपने को समझना चाहती है—'**क्या मुझमें कोई दूसरी शक्ति है, जो इनसे (सन्तोष) से भिन्न रखा चाहती है ।**' फिर वह अपने मन की चंचलता को यह सोचकर आश्वस्त करना चाहती है—'**कुछ मैं ही नहीं, ये लोग भी तो मुझको इसी दृष्टि से देखते हैं ।**' और यह समझ लेती हैं कि '**मेरा हृदय रिक्त है । मैं अपूर्ण हूँ ।**

अपनी इस अस्थिर अवस्था में विलास के प्रति प्रथम दर्शन में ही झुक जाती है—'**हूँ, यह कौन ! मैं क्यों झुकी जा रही हूँ ? और सिर पर इसके क्या चमक रहा है, जो इसे प्रभावशाली बनाये है ! इसका व्यक्तित्व ऐसा है कि मैं इसके सामने अपने को तुच्छ बना दूँ, और अपने को समर्पित कर दूँ ।**'

अपनी भावुकता में अभिभूत हो कर वह फूल एकत्र कर उसके ऊपर बिखेर देती है और युवक (विलास) अपना स्वर्णपट्ट खोलकर उसके सिर पर बाँध देता है ।

विलास को इस प्रकार पाकर वह अपने हृदय की भूख मिटा लेना चाहती है । वह उसे अपने घर ले जाती है, उसे गीत सुनाती है और अपने हृद्गत भावों को, विलास के यह पूछने पर कि—'**तुम्हारे देश के लोग मुझसे अप्रसन्न तो नहीं हैं ?**' वह इन शब्दों में प्रक कर देती है—'**इसमें अप्रसन्न होने की तो कोई बात नहीं है । यह तो इस द्वीप का नियम ; कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष स्वतन्त्रता से जीवन भर के लिए अपना साथी चुन ले ।**' अपनी इस भावना को दृढ़ता के साथ प्रकट करती है और कहती है—'**डर, डर क्या है ?**' और जब विलास पूछता है कि—'**क्या तुम्हारे ऊपर किसी की आज्ञा नहीं है ?**' तो वह अपने समष्टि से प्राप्त अधिकार की ओर इंगित करती है, कहती है—'**हाँ है, नियमों की । वह तुम्हारे लिए टूट नहीं रहा है । और, इस समय तो मैं ही इस द्वीप की उपासना का नेतृत्व कर रही हूँ । मेरे लिए कुछ विशेष स्वतन्त्रता है ।**' अर्थात् वह कहना चाहती है कि नेतृ होने के नाते वह जो चाहे कर सकती है । यहीं से उसका पतन आरम्भ होता है । विलास से बातें करते-करते जब उसे ध्यान आता है कि वह आजीवन नेतृ नहीं बनी रह सकती है, वह इस प्रकार की स्वच्छन्दता का सदैव उपयोग नहीं कर सकती, तो विलास उसकी दुर्बलता को ताड़ लेता है और गम्भीरता के साथ कहता है—'**क्यों नहीं हो सकता ?**

मेरे देश में तो बराबर होता है ।' उसकी चोट निशाने पर पड़ती है और वह अपनी हृद्गत इच्छा को रोक नहीं पाती और पूछ ही तो बैठती है—'**तो क्या मेरे लिए यहाँ भी सम्भव है ?'** और विलास यह कहकर वशीभूत कर लेता है—'**उद्योग करने से होगा ।'**

वह विलास में इस प्रकार रत हो जाती है कि स्वयं अनुभव करने लगती है कि '**मेरे भीतर का बाँकपन सीधा हो गया है । मेरा गर्व उसके पैरों में लोटने लगा है । वह अतिथि होकर आया, आज स्वामी है ।'** और वह अपनी इस नयी स्थिति से प्रसन्न है । वह अनुभव करती है—'**व्योम-शैल से गिरती हुई चन्द्रिका की धारा आकाश और पाताल एक कर रही है । आनन्द का स्रोत बहने लगा है । इस प्रपात के स्वच्छ कणों से कुहासे के समान सृष्टि में अंधकार से मिश्रित आलोक फैल गया है । अन्तःकरण के प्रत्येक कोने से असंतोषपूर्ण तृप्ति की सूचनाएँ मिल रही हैं । विलास ! तुम्हारे दर्शन ने सुख भोगने के नये-नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया है ।'**

इस प्रकार विलास के सम्पर्क में आते ही कामना का व्यक्तित्व अपनी गुरुता खो बैठता है और वह विलास के कुटिलतापूर्ण कार्यों में प्रसन्नतापूर्वक सहयोग करने लगती है । वह स्वयं तो स्वर्ण और मदिरा को बड़े उल्लास के साथ स्वीकार करती है—लीला, विनोद तथा अन्य द्वीपवासियों में भी उसका खुलकर प्रचार करती है । स्वर्ण और मदिरा में अपना गौरव खोकर वह विलास के इशारों पर द्वीप की परम्पराओं की भी उपेक्षा करने में नहीं झिझकती । पवित्र पक्षियों के सन्देश के स्थान पर वह द्वीपवासियों को नवीन पुरुष द्वारा पिता का सन्देश सुनाने के लिए प्रेरित करती है । अपराध, दण्ड आदि धाराओं के प्रचार में सहायक होती है । विलास की कुटिल योजनाओं को आँख मूँदकर स्वीकार करती हुई वह द्वीप की रानी बन जाती है और राजतन्त्र के सारे स्वाँग उसके सम्मुख खड़े हो जाते हैं ।

पर यह सब कामना जिसके लिए करती है वह उसे प्राप्त नहीं होता । विलास को पाना चाहती है पर उसे नहीं पाती । उससे जब रहा नहीं जाता तो वह स्वयं मुँह खोलती है—'**तुमने ब्याह नहीं किया । . . .मुझी से, उपासना-गृह की प्रथा दूरी नहीं हुई ।'** किन्तु स्वार्थी विलास के लिए कामना अपने स्वार्थ-साधन का माध्यम मात्र है । अतः वह अत्यन्त कौशल के साथ बातें बनाकर उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है । कहता है—'**परन्तु और तो कुछ अन्तर नहीं है । मेरा हृदय तो तुमसे अभिन्न ही है । मैं तुम्हारा हो चुका हूँ । . . . .तुम मेरी हो । परन्तु सुनो, यदि इस विदेशी युवक से ब्याह करके कहीं तुम सुखी न होओ, या कभी मुझी को यहाँ से चले जाना पड़े ?'** और जब कामना अपना हृदय खोल-कर रख देती है—'**मैं अपनी नहीं रह गयी हूँ ।'** तो वह उसे भुलावा देता है—'**अब तो तुम इस द्वीप की रानी हो । रानी को क्या ब्याह करके किसी बन्धन में पड़ना चाहिए ?'**

कामना को ऐसी रानी बनना पसन्द नहीं । वह कहती है—'**तब तुमने मुझे रानी क्यों बनाया ?'** और वह राजतन्त्र की व्याख्या कर भुलाने की चेष्टा करता है—'**तुमको इसलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो ।. . . . . .इस देश के कल्याण के लिए उसी तन्त्र (राजतन्त्र) का तुम्हारे द्वारा प्रचार किया गया है, और तुम बनायी गयी हो रानी ।. . . . . .मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकछत्र अधिकारिणी देखना चाहता हूँ, उसमें हिस्सा नहीं बँटाना चाहता ।'**

पर कामना उसके इस भुलावे में नहीं आना चाहती। कहती है—'**तब मेरा रानी होना व्यर्थ था।**' विलास उसे समझाता है—'**तुम्हारी सब सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। कामना, तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारे रानी बने रहने का पर्याप्त कारण हो जायगा।**'

वह इन सबको झूठ ही समझती है। वह इन सबके भुलावे में नहीं आना चाहती, पर विवश है। और जब वह विलास को लालसा से विवाह करते देखती है, तो उसकी आशाएँ, कल्पनाएँ सब चकनाचूर हो जाती हैं। वह विस्फारित नेत्रों से यह सब कुछ देखती रह जाती है। विलास के इन आघातों से उसका हृदय इतना जर्जर हो जाता है कि वह विवाह के नाम से चीत्कार कर उठती है—'**चुप मूर्ख! मैं पवित्र कुमारी हूँ। सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करूँगी। अपने हाथों से जो बिडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा, क्या इतना जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है?**' इन शब्दों में कामना के हृदय का क्षोभ एवं पश्चाताप् स्पष्ट परिलक्षित होता है। लगता है उसने विलास को हृदय देकर जो **विडम्बना मोल ली**, उससे वह अपने को त्रस्त अनुभव करती है।

नारीत्व की भूख की विकलता कामना के इन शब्दों में स्पष्ट झलकती है—'**प्रकृति शान्त है, हृदय चंचल है। आज चाँदनी का समुद्र बिछा हुआ है। मन मछली के समान तैर रहा है; उसकी प्यास नहीं बुझती। अनन्त नक्षत्र-लोक से मधुर वंशी की झंकार निकल रही है; परन्तु कोई गाने वाला नहीं है। किसी का स्वर नहीं मिलता।**'

ऐसे समय में उपेक्षित सन्तोष को अपने निकट देखकर उसका नारीत्व स्वभावत: उसकी ओर झुक जाता है। उससे आने का कारण जानना चाहती है, उसका हृदय टटोलती है। वह इतनी मर्माहत है कि यह ज्ञात होने पर भी कि सन्तोष का उसके प्रति अब भी अनुराग बना हुआ है, उसे सहसा विश्वास नहीं होता। सन्तोष के यह कहने पर कि—'**यह देखने के लिए आया कि मेरी आवश्यकता अब भी है कि नहीं,**' उसे लगता है कि वह परिहास कर रहा है। किन्तु जब वह स्पष्ट शब्दों में अपने हृद्गत भावों को खोल कर रख देता है तो वह अनुभव करती है कि वह भ्रम में थी और उसका दु:ख घनीभूत हो जाता है—'**मेरे दु:खों को पूछ कर और दु:खी न बनाओ।**' इसे वह बार-बार दुहराती है।

उसके हृदय का दु:ख विलास का नाम सुनते ही सखियों के सम्मुख फूट पड़ता है—'**तू उस बात को न सुना, उसे बधिरता के घने परदे में छिपी रहने दे। मेरे जीवन के निकटतम रहस्य को अमावस्या से भी काली चादर में छिपा रख। मैं चाहती हूँ, पर रो नहीं सकती।**' और विलास के सम्मुख उसके मन का क्षोभ उत्तेजित हो उठता है—'**स्त्रियों के पास और होता क्या है।.... कुछ नहीं, अपना सब कुछ देकर ठोकरें खाना। उपहास का लक्ष्य बन जाना।**' पुन:—'**मैं रानी हूँ, तुम्हारी शय्या सजाने की दासी नहीं।**'

विलास से प्रताड़ित होकर कामना को अब अनुभव होता है नयी सभ्यता का खोखलापन। लीला की गुहार सुनकर तीखे व्यंग के साथ उसके मुख से निकल पड़ता है—**'मेरा स्वर्णपट्ट देखकर प्रथम तुम्हीं को इसकी चाह हुई, आकांक्षा हुई। अब कभी, देश में धनवान और निर्धन शासकों का तीव्र तेज, दोनों की विनम्र दासता, सैनिक-बल का प्रचण्ड प्रताप, किसानों की भारवाही पशु की-सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सभ्य व्यवस्थापक——सब कुछ तो है।'** और अब वही रानी-पद जिसे उसने बड़े उत्साह से ग्रहण किया था, उसे भार जान पड़ता है और वह उससे पीछा छुड़ाकर भागती है—**'यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे उतना ही अच्छा। इस पापचिह्न का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्ण वृक्ष की छाया से भागो।'** और वह मुकुट उतार कर फेंक देती है।

इस प्रकार कामना सामान्य दुर्बलताओं से भरी एक नारी है। विलास की ओर आकृष्ट होकर उसको प्राप्त करने की दृष्टि से ही वह जो कुछ कहता है, करती चलती है, और जब वह नहीं प्राप्त होता तो उसे उसके कार्यों में बुराइयाँ ही बुराइयाँ आती है और वह उनसे अपने को मुक्त कर सन्तोष से जा लिपटती है जिसे वह समझती थी कि **'मेरा निर्वाचित है। मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं, परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा।'**

विलास के हाथों की कठपुतली होने के कारण नाटक की नायिका होते हुए भी उसका व्यक्तित्व तनिक भी निखरा हुआ सामने नहीं आता, सर्वत्र उसमें नारी की दुर्बलता ही उभरी हुई दिखायी पड़ती है। नारी की दुर्बलता के प्रतीक स्वरूप उसका चित्रण अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है।

लालसा

कामना से सर्वथा भिन्न लालसा का चरित्र है। वह वस्तुतः विलास की कल्पना की नारी है—**'बिजली के समान वक्र रेखाओं का सृजन करने वाली, आँखों को चौंधिया देने वाली तीव्र और विचित्र ज्वाला, जिस हृदय में ज्वालामुखी धधकती हो, जिसे ईंधन का काम न हो, वही दुर्दमनीय तेज ज्वाला।'** पति की मृत्यु के पश्चात् प्रभूत स्वर्णराशि की स्वामिनी बनकर अधिकार और महत्ता की आकांक्षाओं से भरी हुई सामने आती है—**'मैं भी रानी हो सकती हूँ। यदि विलास को——हाँ, क्यों नहीं?'** और वह अपने वाक् विभ्रम, संगीत और स्वर्ण की चमक से विलास को अपनी मुट्ठी में इस प्रकार कर लेती है कि उसे स्वीकार करना पड़ता है——**'मुझपर किसी स्त्री ने विजय नहीं पायी; परन्तु वह झूठा गर्व था। आज...'**

विलास को वशीभूत कर लालसा द्वीप का सूत्र-संचालन अपने हाथों में लेती है, किन्तु यह सब वह बड़े कौशल से करती है। पहले कामना से स्वर्णराशि प्राप्ति के स्थान की चर्चा करती है और कामना उसकी चर्चा विलास और विनोद से करती है और वे लोग उसकी प्राप्ति के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। इस प्रकार लालसा स्वर्णराशि का प्रलोभन उपस्थित कर शान्तिदेव की हत्या करनेवालों के लिए न्याय-विधान प्रस्तुत कराती है और वे

क्रूरतापूर्वक मार डाले जाते हैं। और तब स्वर्णभूमि पर आक्रमण की योजना बनती है। इस प्रकार लोगों पर उपकार का बोझ डालकर विलास के साथ विवाह का प्रस्ताव प्रस्तुत करा देती है और विवाह हो जाता है।

लालसा इस प्रकार विलास पर अपना प्रभुत्व जमा लेती है, किन्तु इससे ही उसकी विषय-वासना शान्त नहीं होती। विलास की अनुपस्थिति में विनोद को अपने पट-मंडप में आमन्त्रित करती है। यहीं उसकी वासना का अन्त नहीं होता। अपनी इस भावना को वह स्वयं व्यक्त करती है—'**दारुण ज्वाला, अतृप्ति का भयानक अभिशाप! मेरे जीवन का संगी कौन है? मैं लालसा हूँ, जन्म भर जिसको संतोष नहीं हुआ। नगर से आ रही हूँ। प्रमदा के स्वतन्त्रता-भवनके आनन्द-विहार से भी जो नहीं भरा, कोई किसी को रोक नहीं सकता और न तो विहार की धारा में लौटने की बाधा है। उच्छृङ्खल उन्मत्त विलास मदिरा की विस्मृति! विहार की भ्रान्ति। फिर भी लालसा!**'

और वह शत्रु-देश के सेनापति से भयभीत न होकर उस पर अनुरक्त हो जाती है। किन्तु वह जब उसकी प्रणय याचना को ठुकरा देता है तो वह छल-कौशल से काम लेती है और उसे उसको छुड़ाने में सहायता करने की बात कहती है। इस प्रकार भुलावा देकर अपने साथ ले जाती है और उस पर झूठे आरोप लगाकर उसकी निर्मम हत्या करा देती है।

लालसा वैभव और वासना के पंक से लिपटी निर्लज्ज नारी की प्रतिमूर्त्ति है; किन्तु परिस्थितियों का सामना करने का साहस उसमें बना हुआ है। जब गौरव विहीन होकर विलास फूलोंके द्वीपसे निष्कासित होता है तो वह भी द्वीप पर अपमान सहने के लिए रुक नहीं जाती, वरन् विलास के साथ ही **अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में स्थान** ढूँढ़ने को निकल पड़ती है।

लीला

लीला कामना की अत्यन्त विश्वासपात्र सहचरी है, जो स्वभाव से चंचल और सरलता से नवीनता के प्रति आकृष्ट हो जानेवाली युवती है। फलतः पहले वह विनोद को चाहती है, पर शीघ्र ही वह सन्तोष की ओर आकृष्ट हो जाती है और उसे पति बनाने को उत्सुक होती है; पर कामना के बीच में आ जाने से वह सफल नहीं हो पाती और विनोद के साथ ही उसका विवाह हो जाता है। उन दोनों का दाम्पत्य-जीवन अबाध गति से बहने लगता है। इस प्रकार लीला और विनोद एकाकार होकर विलास और कामना के कुचक्रों में सहायक होते हैं।

पहले लीला स्वर्ण की चमक से प्रभावित होकर उसे प्राप्त करने को उत्सुक होती है और कामना की सहायता से प्राप्त करती है। कामना के कहने से मदिरा-पान भी करती है। इस प्रकार वह द्वीपवासियों के बीच स्वर्ण और मदिरा को अपनाने में सर्वप्रथम अग्रणी है। वह स्वर्ण और सुरा के प्रति सदैव सतृष्ण और जागरूक बनी रहती है। उसके द्वारा सुख-प्राप्ति की उसमें इतनी तीव्र आकांक्षा है कि वह अपने पति विनोद की इस चेतावनी को अनसुनी कर जाती है—'**हम लोग कहाँ चले जा रहे हैं, कुछ समझ रही हो?**' वह इतनी मदान्ध हो जाती है कि वन लक्ष्मी की भी सर्वथा उपेक्षा करती है। वन-लक्ष्मी भावी अनिष्ट का संकेत करती है—'**अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो?**' पर

उसकी समझ में कुछ नहीं आता। उल्टे ईर्ष्या और जलन का अभियोग लगाकर उसकी भर्त्सना करती है।

लीला आँखें मूँद कर विलास और कामना का अनुसरण करती है और सबसे पहले कामना को रानी रूप में स्वीकार करती है। इस प्रकार लीला द्वीपवासियों को नयी सभ्यता के गर्त में ले जाने का मार्ग प्रशस्त करती है और जब इन सबके परिणामस्वरूप उसे ज्ञात होता होता है कि उसका पति विनोद विषय-वासना में तल्लीन होकर उसकी ओर से खिंच रहा है तो उसे एक धक्का-सा लगता है। उसे अपनी भूलों का अनुभव होता है। तब कामना के स्वर में स्वर मिलाकर कहती है—**'जितने भूले-भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।'**

करुणा

करुणा नाटक की एक अत्यन्त गौण पात्र है। उसका सर्जन नाटककार ने कदाचित सन्तोष के परोपकारी रूप को अंकित करने के लिए ही किया है। अन्यथा नाटक के वस्तु-विकास से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु वह जिस रूप में उपस्थिति की गयी है वह नारी जीवन का एक अत्यन्त करुण पक्ष है। शान्तिदेव की बहन के रूप में वह सामने आती है जो अपने भाई की मृत्यु के पश्चात् धनविहीन होकर अत्यन्त उपेक्षित जीवन व्यतीत करती दिखायी गयी है। उसे द्वीप में **'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य** हो जाने के कारण जंगली फलों पर निर्वाह करना पड़ता है। **'मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ रहती हूँ।'** यह है उसकी स्थिति।

ऐसी स्थिति में सन्तोष उसके सहायक के रूप में आता है और भाई बनकर उसे आश्वस्त करता है। सन्तोष उसके खेतों में हल चलाता है और करुणा बहन के स्नेह से उसे सिंचित करती रहती है। एक दिन परिश्रम से थका हुआ सन्तोष बोझ उठाता है और गिर पड़ता है। उसे चोट आ जाती है और करुणा उसे चिकित्सा के लिए ले जाती है। ऐसी अवस्था में द्वीप के विलासी और स्वार्थी युवक करुणा और सन्तोष की दुःखद परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। क्रूर सन्तोष की चिकित्सा के बहाने रोग बढ़ाकर लम्बी रकम ऐंठने का प्रयत्न करता है और दम्भ करुणा को प्रमदा के देवदासी दल में सम्मिलित करने का कुचक्र रचता है। किन्तु विवेक की सामयिक सहायता से दोनों के प्राण और सम्मान की रक्षा होती हैं।

उसकी स्थिति देखकर लगता है कि नाटककार यह इंगित करना चाहता है कि नवीन सभ्यता में पवित्र नारी की स्थिति सुरक्षित नहीं है।

एक घूँट

एक घूँट प्रसाद का लघुतम नाटक है। उसे एकांकी कहना अधिक उचित होगा। इस दृष्टि से वह सम्भवतः हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी है। इस में पट-परिवर्तन जैसी कोई चीज नहीं है। वस्तुतः वह 'ओपेनएयर प्ले' सा है। खुले आकाश के नीचे वृक्षों की छाया में इसका सरलतापूर्वक अभिनय किया जा सकता है।

नाटक के आरम्भ में नाटककार ने वातावरण और पात्रों का विस्तृत परिचय दिया है। उसके अनुसार अरुणाचल पहाड़ी के समीप, एक हरे-भरे प्राकृतिक वन में कुछ लोगों ने मिलकर एक स्वास्थ्य-निवास बना लिया है। वहाँ कई परिवारों ने अपने छोटे-छोटे स्वच्छ घर बना लिये हैं। उन लोगों के जीवन का अपना निराला ढंग है जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की सन्धि है। उनका आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य।

इस आश्रम का मंत्री कुँज है जो सदा प्रसन्न रहनेवाला अधेड़ आयु का व्यक्ति है और वह एक सुदक्ष प्रबन्धक और उत्साही संचालक है। इस आश्रम में रहनेवाले लोगों में हैं—रसाल और उसकी पत्नी वनलता, मुकुल और उसकी दूर की बहन प्रेमलता, झाड़वाला और उसकी पत्नी।

रसाल एक भावुक कवि है और प्रकृति, मनुष्य एवं उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त रहनेवाला सरल प्राणी है। उसकी पत्नी उसकी भावुकता से असन्तुष्ट है और उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में व्यस्त रहती है। मुकुल उत्साही तर्कशील युवक है। कुतूहल से उसका मन सदैव उत्सुकता भरी प्रसन्नता में रहता है। प्रेमलता भी कुतूहल से भरी कुमारी है और उसके मनमें जिज्ञासा भरी है। झाड़ूवाला एक पढ़ा-लिखा साधारण स्थिति का व्यक्ति है। उसकी स्त्री के हृदय में नारी सुलभ लालसाएँ हैं जिनकी पूर्त्ति का उपाय नहीं है। आश्रम में सभी लोग कुछ न कुछ करते हैं, अतः उसे झाड़ू लगाने में किसी प्रकार लज्जा का अनुभव नहीं होता।

इन लोगों के अतिरिक्त आनन्द अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरा है। वह सुन्दर युवक है, घुमक्कड़ प्रकृति का है और उन्मुक्त प्रेम का प्रचारक है।

इन पात्रों के सहारे सीमित वातावरण के बीच नाटक की कथा-वस्तु को बुना गया है और यह कथा-वस्तु इतनी संक्षिप्त है कि यदि कहा जाय कि उसमें कथा का सर्वथा अभाव है तो अनुचित न होगा। उसमें प्रसाद के जीवन सम्बन्धी विचार मात्र हैं। उन विचारों को प्रकट करने के लिए ही पात्रों का सर्जन किया गया है। सभी गोष्ठीपात्र के रूप में एकत्र होकर विवाहित और उन्मुक्त जीवन पर विवाद करते हैं। इस वाद-विवाद में किसी प्रकार की घटना के लिए कोई स्थान नहीं जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। किन्तु विवाद का परिणाम अवश्य नाटकीय है। कवि रसाल जो अपनी पत्नी के हृदय में छिपी टीस को पहचान न सका था, पहचान लेता है और आनन्द, जो उन्मुक्त प्रेम का प्रचारक है, प्रेमलता के प्रेम-पाश में बँध जाता है।

इस विचार-गोष्ठी को जानने के लिए प्रसाद ने एकांकी का आरम्भ नाटकीय ढंग से किया है। मौलश्री के नीचे वनलता अनमनी-सी बैठी है। नेपथ्य में होनेवाले संगीत को कभी वह सुनती है और कभी अनसुनी कर जाती है। इतने में कोकिल की कूक सुन पड़ती है और वह उस कूक से व्यथित हो उठती है और संगीत में व्यक्त किये गये भावों पर विचार करते-करते उसे अपनी स्थिति का स्मरण हो आता है—**'मेरी विश्व यात्रा के संगी, मेरे स्वामी! तुम काल्पनिक विचारों के आनन्द में अपनी सच्ची संगिनी को भूल.... ।'** तभी रसाल आकर उसकी आँखें मूँद लेता है। यह उसके जीवन की ऐसी अप्रत्याशित बात है कि वह कल्पना भी नहीं कर पाती कि आँखें मूँदने वाला उसका पति होगा। उसके जीवन में सरसता शायद कभी आयी ही नहीं।

रसाल का व्याख्यान होनेवाला है। इसी से वह वनलता को बुलाने आया है। उसके मुख से व्याख्यान देने की बात सुनकर वनलता को विश्वास नहीं होता। वह कहती है—**'व्याख्यान! व्याख्यान तुम कब से देने लगे? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देना भी जानो, और वह विषय कौन-सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे? घड़ी दो घड़ी बोल सकोगे? छोटी-छोटी कल्पना के उपासक! सुकुमार पंक्तियों के संचालक! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे!'**

रसाल उसे बताता है कि आनन्द के परिचय स्वरूप उसे कुछ बोलना पड़ेगा। इन बातों में वनलता को कोई रस नहीं। वह रसाल को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है, पर वह उसके मनोभावों को ग्रहण नहीं कर पाता। निदान उसके व्यथित हृदय से निकल पड़ता है—**'निरीह भावुक प्राणी! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कल-नाद का अर्थ समझ लेते हैं, परन्तु मेरे आर्त्तनाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते।'**

इसी बीच आनन्द, प्रेमलता और मुकुल बातें करते हुए आते हैं। आनन्द उन्हें अपना जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त समझाता है और विचार-गोष्ठी आरम्भ हो जाती है जो अन्त तक चलती रहती है। आनन्द का मत है कि—**'जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पंखुड़ियों को गदगद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरन्तर परिस्थिति होनी चाहिये।'**

'विश्व-चेतन के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौन्दर्य' है, क्योंकि आनन्दमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है—स्वस्थ, अपने आत्म भाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय करने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।'

'दृढ़ निश्चय! एक बन्धन है। प्रेम की स्वतन्त्र आत्मा को बन्दीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।'

'आनन्द का अन्तरंग सरलता है और बहिरंग सौन्दर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।'

'दुःख होगा कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू घोलकर सृष्टि के सुन्दर

कपोलों को क्यों कलुषित करें ? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये कि संसार दुःखमय है। दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।'

'दुःख की उपासना करते हुए एक-दूसरे के दुःख से दुःखी होकर परम्परा गत सहानुभूति नहीं-नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं, हाँ--सहरोदन करना मूर्खता है। प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल ! ऐसी संवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती हैं।'

'विश्व विकास पूर्ण है। विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनन्द' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।'

'दुःख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि की सामग्री जुटाते रहते हैं। तुम्हें हँसी के धक्के से उन्हें टाल देना चाहिये।' आगे वह दुःख को, स्वच्छन्द प्रेम को जकड़ बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का फल-परिणाम मानता है। उसकी दृष्टि में 'मनुष्य इस बात को कभी नहीं समझेगा। अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान बन जाता है।'

आनन्द के इस आनन्दवाद को सुनते-सुनते वनलता से रहा नहीं जाता और वह पास आकर पूछ बैठती है—'पेट की ही भूख-प्यास तो मानव जीवन में नहीं होती। हृदय को भी टटोल कर देखा है ! इसकी भूख-प्यास का भी अनुभव किया है ?'

और आनन्द मुस्कराकर रह जाता है—'तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न ? तब भी हृदय भूखा और प्यासा ! इसी से मैं स्वच्छन्द प्रेम का पक्षपाती हूँ।'

आगे रसाल आनन्द के सन्देश की महत्व इन शब्दों में रखता है—'आपका कहना है कि अरुणाचल आश्रम इस देश की एक बड़ी सुन्दर संस्था है, इसका उद्देश्य बड़ा ही स्फूर्तिदायक है। इसके आदर्श वाक्य, जिन्हें आप लोगों ने स्थान-स्थान पर लगा रक्खे हैं, बड़े ही उत्कृष्ट हैं; किन्तु उन तीनों में एक और जोड़ देने से आनन्दजी का सन्देश पूर्ण हो जाता है।

'स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य में प्रेम को भी मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जायेगी। इन विभूतियों का एकत्र होना विश्व के लिए आनन्द का उत्स खुल जाना है।'

आगे--'आप लोग भी अनिश्चित जीवन की निराशा के गान भूल जाइए। प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके दुःखमय विचारों को दूर भगाइए।'

'प्रेम में दुःख होता है, किन्तु वह दुःख मोह का है जिसे प्रायः लोग प्रेम के सिर मढ़ देते हैं। आपका प्रेम आनन्द जी के सिद्धान्त पर, सब से सम भाव का होना चाहये। भाई, पिता, माता और स्त्री को भी इन विशेष उपाधियों से मुक्त होकर प्यार करना सीखिये। सीखिये कि हम मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं।'

वनलता कटुता के साथ उसके इस कथन का प्रतिवाद करती है—'हाँ, मानवता के नाम पर बात तो बड़ी अच्छी है, किन्तु मानवता आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ। फिर क्यों न झरनों, चाँदनी रातों, कुंज और वनलताओं को ही प्यार किया जाय—जिनकी किसीसे कुछ माँग नहीं !....प्रेम की उपासना का एक केन्द्र होना चाहिये। एक अन्तरंग साम्य होना चाहिये।'

'प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिये, अन्तर की समता चाहिये ।'

विवाद पुनः प्रेम से हटकर आनन्द पर आता है और आनन्द कहता है—'आनन्द में मेरे कवि मित्र ! यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है, उसका रहस्य क्या है ? डर उत्पन्न करना । विभीषिका फैलाना ! जिससे स्निग्ध गम्भीर जलमें, अबोध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्व सागर की मानवता चारों ओर जाल ही जाल देखे, उसे जल न दिखायी पड़े, वह डरी हुई संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे । सबसे भयभीत, सबसे सशंक !'

इसे समझ कर रसाल कहता है—'हम लोगों को शोक-संगीतों से अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये । आनन्दातिरेक से आत्मा की साकारता ग्रहण करना ही जीवन है । उसे सफल बनाने के लिए स्वच्छन्द प्रेम करना सीखना-सिखाना होगा ।'

आनन्द की दृष्टि में—'हम लोग वस्तु या व्यक्ति से मोह करके लोगों से द्वेष करना सीखते हैं । उसे छोड़ देने से ही काम चल जायगा ।'

आनन्द के इस आनन्दवाद और स्वच्छन्द प्रेम के नीरस वाद-विवाद की गम्भीरता को कम करने के लिए चन्दुला और झाड़ूवाला दो पात्र आकस्मिक रूप से आ जाते हैं । वे अपनी बातों से वातावरण की कटुता कम ही नहीं करते, वरन् अपनी बातों से आनन्द के सम्बन्ध में प्रस्तुत सिद्धान्त का हलकापन भी सामने रखने की चेष्टा करते हैं ।

चन्दुल ने अपना जो रूप बनाया है वह लोगों के आनन्द के लिए । उसे देखकर सब लोग प्रसन्न होते हैं । उसके इस रूप से लोगों को आनन्द मिले या न मिले, वह उसके स्वतः आनन्द का साधन है—'इन्हीं पन्द्रह दिनों में जब मेरी श्रीमती हार पहन कर अपने मोटे-मोटे अधरों की पगडण्डी पर हँसी को धीरे-धीरे दौड़ायेंगी और मेरी चँदुली खोपड़ी पर हलकी-सी चपत लगावेंगी तब भी मैं आँख मूँदकर आनन्द न लूँगा ।'

झाड़ूवाला और उसकी पत्नी के बीच कलह और फिर दोनों के पारस्परिक समझौता पारिवारिक जीवन की एक सजीव झाँकी है । उनको देखकर वनलता विह्वल हो उठती है—'इसे कहते हैं झगड़ा, और यह कितना सुखद है ! एक-दूसरे को समझ कर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए उत्सुक होते हैं तब जैसे स्वर्ग हँसने लगता है—हाँ इसी भीषण संसार में ।'

उसको जीवन में इस प्रकार का आनन्द प्राप्त नहीं है, अतः उसे वेदना होती है । व्यथा कसकती है—प्यार के लिए । प्यार करने के लिए नहीं, प्रेम पाने के लिए । वह सोचती है—'विश्व की इस अमूल्य सम्पत्ति में क्या मेरा अंश नहीं ? इन असफलताओं के संकलन में मन को बहलाने के लिए, जीवन-यात्रा में थके हृदय के संतोष के लिए कोई अवलम्ब नहीं । मैं प्यार करती हूँ और प्यार करती रहूँ; किन्तु मुझे मानवता के नाते....'

आनन्द के आश्चर्यचकित होने पर—'आश्चर्य ! आपको प्रेम नहीं मिला । कल्याणी प्रेम तो...' वह अपनी व्यथा प्रकट कर देती है—'आश्चर्य क्यों होता है आपको ! संसार में लेना तो सब चाहते हैं, कुछ देना ही तो कठिन काम है । गाली देने की वस्तुओं में सुलभ है; किन्तु सबको वह भी देना नहीं आता । मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझे किसी ने अपना

निश्छल प्रेम नहीं दिया; और बड़े दुःख के साथ इस न देने का, संसार का उपकार मानती हूँ।'

आनन्द सहानुभूति भरे शब्दों में कहता है—'यही तो जीवन की परम आवश्यकता है। क्या आप मुझे प्यार करने की आज्ञा देंगी? क्योंकि मैं किसी को प्यार नहीं करता, इसलिए आपसे प्रेम करता हूँ।....मेरा किसी से द्वेष नहीं, इसलिए मैं सब को प्यार कर सकता हूँ। प्रेम करने का अधिकारी हूँ।'

वनलता झटकार देती हैं—'कदापि नहीं, इसलिए कि मैं आपको प्यार नहीं करती। फिर आपके प्रेम का मेरे लिए क्या मूल्य है? ...मैं जिसे प्यार करती हूँ, वही—केवल वही व्यक्ति—मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार कर, मेरे शरीर को—जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक-एक घूँट वह पीता चले, मैं भी पिया करूँ। इसमें आपकी पोली दार्शनिकता या व्यर्थ के वाक्यों को स्थान नहीं।'

आनन्द अपनी झेंप मिटाते हुए अपनी बातों का समर्थन करने की चेष्टा करता है—'श्रीमती, मैं तो पथिक हूँ और संसार ही पथिक है। सब अपने-अपने पथ पर घसीटे जा रहे हैं, मैं अपने ही को क्यों कहूँ। एक क्षण, एक युग कहिये या एक जीवन कहिये, है वह एक ही क्षण, कहीं विश्राम किया और फिर चले। वैसा ही निर्मोह प्रेम सम्भव है। सबसे एक-एक घूँट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना। यही तो मेरा सन्देश है।'

किन्तु वनलता इसे स्वीकार नहीं करती, कहती है—'शब्दावली की मधुर प्रवंचना से आप छले जा रहे हैं।....असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चिरपरिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूँट पीना और पिलाना। प्रेम का एक घूँट! बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।'

आनन्द पूछता है—'तो क्या आपने खोज लिया है—पहचान लिया है?' और वनलता कहती है—'मैंने तो पहचान लिया है। किन्तु वही मेरे जीवन-धन अभी नहीं पहचान सके।'

इतने में रसाल आकर वनलता का हाथ पकड़ता है और कहता है—'आजतक मैं भ्रान्त था। मैंने आज पहचान लिया। यह कैसी भूल-भुलैया थी।'

आनन्द भी सोचने लगता है—'असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चिरपरिचित को खोज निकालना। कितनी असंभव बात! किन्तु....परन्तु....बिलकुल ठीक.... मिलते हैं—हाँ, मिल ही जाते हैं, खोजने वाला चाहिये।'

यहाँ भी प्रसाद की आकस्मिकता की टेक्निक काम करती है। प्रेमलता हाथ में शर्बत लिए सहसा प्रवेश करती है और आनन्द प्रेमलता के मधुर मुख पर, अनुराग की लाली पर सतृष्ण देखने लगता है और वह यह स्वीकार करने को बाध्य होता है कि—'मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।'

प्रेमलता तथा आनन्द एकाकार हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद ने हमारे सम्मुख उच्छृंखल प्रेम को बाँधन का संदेश प्रस्तुत किया है। वह विवाहित जीवन को स्वच्छन्द जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते हैं। कवि की कोरी भावुकता के वह समर्थक नहीं जान पड़ते; किन्तु आनन्द और दु:ख के सम्बन्ध में उनका क्या दृष्टिकोण है यह नाटक में कहीं स्पष्ट नहीं है। आनन्द ने सदा दु:खवाद की भर्त्सना की है, पर उसकी यह भर्त्सना उन्मुख प्रेम के समर्थन के लिए ही रही है जिसका प्रसाद कभी समर्थन नहीं करते। प्रसाद का नियतिवादी होने के कारण दु:खवादी होना स्वाभाविक है; पर उसकी झलक इसमें नहीं है। यह एक आश्चर्य की बात है।

परिशिष्ट

: १ :

अग्निमित्र

अग्निमित्र प्रसादजी का अन्तिम नाटक है। इसे उन्होंने लिखना आरम्भ किया था कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सलाह दी कि उस कथानक पर नाटक न लिखकर उपन्यास लिख जाय। फलतः उसी कथानक पर प्रसाद ने इरावती उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, किन्तु दैव के दुर्विधान से वह भी पूरा न हो सका। अग्निमित्र के जो अंश लिखे जा चुके थे, वे उनके स्वर्गवास के कई वर्ष वाद ३० अक्टुबर १९४४ के दैनिक 'आज' में प्रकाशित हुए हैं। उसमें भी पाण्डुलिपि का प्रथम पृष्ठ खो जाने के कारण प्रारम्भिक अंश नहीं है। इस प्रकाशन को हुए आज १२ वर्ष होने को आये, पर वह अबतक प्रसादजी के किसी संग्रह में संकलित नहीं किया गया। दैनिक पत्रों में प्रकाशित साहित्य अल्पायु होता है। अतः स्वाभाविक है कि लोग इस नाटक को भूल जायँ। इसलिये मुझे यह उचित लगा कि उसे परिशिष्ट रूप मे उसे उद्धृत कर दूँ जिससे वह सुरक्षित हो जाय; साथ ही लोगों को इरावती के साथ दूसरा तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर मिल सके और एक ही कथा-वस्तु पर नाटक और उपन्यास लिखने की प्रसाद की कला का स्वरूप आँका जा सके।

[उज्जयिनीके कुक्कुटाराम विहार में सैनिक वेशमें अग्निमित्र बौद्ध स्थविरसे बातें कर रहा है ।]

. . .को भी नहीं देख पाता हूँ । न जाने कब तुम्हारे इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमें बन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्तव्य करने के लिए स्वतन्त्र होगी !

भिक्षु—(**घृणा से**) अनार्य ! तुम कितने पापमत हो ?

सैनिक—भिक्षु ! तुम्हारा पुण्य न जाने कब धोखे में पाप बन गया है । हाँ, वह पुण्य था ! किन्तु अब मानवता को वह किधर ले जा रहा है इसपर कभी विचार किया? इस पवित्र मानव जीवन की, इस चैतन्य ज्वाला की उपयोगिता क्या निर्वाण में—बुझ जाने में है ?

भिक्षु—(**हताश होकर उसको ओर देखता चुप रह जाता है । भीतर घण्टा की ध्वनि होती है और उसी द्वार से भिक्षुणियोंका दल निकलता है । घण्टे की ध्वनि बन्द हो जाती है और सजीव शोक-प्रवाह-सी भिक्षुणियों की पाँति; अभ्यासले विषादपूर्ण पाद-विक्षेप करती हुई एक ओर निकल जाती है ।**)

[नेपथ्य में गीत]

सुख साधन में भूल न रे मन !
भव तृष्णा न मिटेगी तेरी
आशा दोला झूल न रे मन !
रूप, वेदना क्षणिक रंग है
खिल-खिल कर यों फूल न रे मन !

[भिक्षु और सैनिक जैसे उन्हें न देखते हुए सविनय सिर झुका लेते हैं । सहसा सैनिक एक सुपरिचित मूर्ति देखकर जिधर भिक्षुणियों का दल नेपथ्य में जाता है उसी, ओर देखने लगता है ।]

सैनिक—(**आवेश से आगे बढ़ता हुआ**) इरावती ! इरावती ! सुन लो, चली न जाओ ।

भिक्षु—फिर वही अभिनय !

सैनिक—चुप रहो भिक्षु ! यह किस क्रूरकर्मा का विधान है —जिसे उषा की उल्लसित लालिमा में विकसित होना चाहिये, उसे तुम नहीं—तुम्हारे धर्मदम्भ ने दिनान्त की सन्ध्या के पीलेपन में डूबते हुए मुरझाई हुई सांस लेने की आज्ञा दी है । इरावती, जिसको वसन्त की कोकिला की तरह मादक तान लेनी चाहिए, वह चिर शोक संगीत-सी महाशून्य में चली जा रही है । तुम कहोगे कि इससे धर्म का प्रचार होता है, किन्तु. . .।

भिक्षु—युवक ! धर्म ही मानव हृदय में शान्ति और उपशम का साधन है ।

सैनिक—हृदयहीन धार्मिक ! शान्ति कहाँ ? तुम्हारे क्षणिक विज्ञान के राज्य में शान्ति ठहरेगी कहाँ ? तुम क्या जानो ? यौवनकाल में सम्पूर्ण समर्पण करनेवाले हृदय में घोर दुःख और कष्ट में कितना विश्वास और कितनी शान्ति होती है । वह शान्ति तुम्हारी जैसी मृतक शान्ति नहीं । किन्तु मैं यह क्या कर रहा हूँ ? तुम उसे क्या समझोगे ? (**विनम्र होकर**) स्थविर ! क्षमा करो ! मैं अतिवादी हूँ । बताओ इरावती को संघ की मृत्यु शीतल छाया में किसने भेज दिया है ?

भिक्षु—(**हँसकर**) सम्राट् ने ।

सैनिक—ओह ! सम्राट् ने !

[**भिक्षु नेपथ्य की ओर देखकर चुप रहने का संकेत करता है । उल्काधारी सैनिक और परिचारिकाओं से घिरा हुआ शिविकारूढ़ सम्राट बृहद्रथ का प्रवेश । युवक झुककर अभिवादन करता हुआ हट जाता है ।**]

सम्राट्—(भिक्षु को देखकर) भन्ते ! मैं वन्दना करता हूँ ।

भिक्षु—कल्याण लाभ हो !

सम्राट्—संघ सकुशल है न ? धर्मचर्या में कोई व्याघात तो नहीं ?

भिक्षु—आपके यशस्वी शासन में संघ सब प्रकार से सुखी होकर धर्माचरण कर रहा है ।

सम्राट्—यह प्रसन्नता की बात है । मालूम होता है कि आप वायु-सेवन करके लौट रहे हैं ।

भिक्षु—नहीं, भिक्षुणियों की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ । वे टहलकर आती ही होंगी ।

सम्राट्—अच्छा, उन कुमारियों का क्या हुआ जिन्हें मैंने संघ में भिजवा दिया था । युवतियाँ खड्ग लिये एक ध्वज की परिक्रमा करें यह मुझे अच्छा नहीं लगा । मैंने ठीक किया न ?

भिक्षु—यह तो सम्राट् ने धर्मानुकूल ही किया । भूली हुई अधार्मिक क्रियाओं का पुनः प्रचार करने में आप की मालव सेना ने न जाने क्या गुप्त रहस्य रखा है ?

सम्राट—(**जैसे सचेत होकर**) ठीक कहा आपने ! इन्द्रध्वज का तो बहुत दिनों से नाम भी नहीं सुना गया था । उँह, होगा कुछ !

भिक्षु—महाराज, मुझे तो बड़ा सन्देह है !

सम्राट्—(**भय से इन्द्रध्वज को देखता हुआ**) बलमित्र, कुमारामात्य सेनापति पुष्यमित्र को यहीं बुला लो !

[**बलमित्र जाता है । सम्राट के संकेत से शिविका रख दी जाती है**]

सम्राठ—स्थविर ! आप भी इस शिला-खंड पर बैठ जायँ । मैं सेनापति की प्रतीक्षा करूँगा ।

[**भिक्षु शिलाखंड पर बैठ जाता है और भिक्षुणियों का दल उसी तरह लौटता है।**]

सम्राट—(**कुतूहल से देखता हुआ**) सुन्दर ! संघ ने बहुत सी धार्मिक क्रियाओं में रोचक परिवर्तन किये हैं ।

भिक्षु—भगवान तथागत ने समयानुकूल नियमों में परिवर्तन करने की इसी लिए आज्ञा दी है। [**भिक्षुणियाँ समीप आती हैं।**]

सम्राट्—आर्य, क्या ये सब इन्द्र कुमारियाँ हैं ?

भिक्षु—नहीं, इनमें केवल एक ही है। और सब तो संघ के कड़े नियमों का पालन करने में अस्वस्थ हो गई हैं।

सम्राट्—जो स्त्रियाँ अवरोध के नियमों का न पालन करें, उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रम है।

इरावती—(**आगे बढ़ कर**) सम्राट ! यह अन्याय है। मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध भिक्षुणी बना देना राजशक्ति का परिहास है।

सम्राट्—(**उसे सस्पृह देखता हुआ**) तुम, अन्याय का नाम न लो।

[**वेग से सैनिक का प्रवेश**]

सैनिक—सम्राट् की जय हो ! अन्याय का नाम न लेने से वह छिप जाय, ऐसी बात नहीं ! वह पीड़ित के प्रतिविम्ब में भयंकर मूर्त्तिमान हो कर सबकी आँखों के सामने नाचता है।

सम्राट्—(**रोष से**) तुम कौन हो ? दुर्विनीत ! वाचाल !

सैनिक—मालव सेना का एक नायक (**इरावती से**) इरे ! तुम सम्राट् से अपने कुल में लौटने की आज्ञा माँगो।

सम्राट्—नहीं, जो स्त्रियाँ अवरोध में न रह सकें, उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है। नियमों का पालन करना राष्ट्र की प्रजा के लिए उतना ही आवश्यक है जितना श्वास-प्रश्वास लेना।

सैनिक—देव ! जीवन के स्वतंत्र विकास को रोकनेवाले नियम राष्ट्र की उन्नति को भी रोकते हैं। भारतीय विचारकों ने इसे अच्छी तरह समझा है। स्वर्गीय विश्वविश्रुत महाराज धर्माशोक ने श्रमण और ब्राह्मण के धर्माचरण में बाधा न डालते हुए जो साधारण संशोधन प्रचलित किये थे, उनका अब अतिक्रम किया जा रहा है। मालवों ने राज-सिंहासन की जिस निष्ठा के साथ सेवा की है, उसकी यों अवहेलना न होनी चाहिये। इस मालव कुमारी को संन्यास-बंधन से मुक्त करने की आज्ञा दीजिये।

सम्राट्—(**भिक्षुणियों की ओर देख कर**) आर्य स्थविर ! इन्हें संघाराम में जाने की अनुमति दीजिये। [**भिक्षु के संकेत करने पर भिक्षुणियाँ जाने लगती हैं।**]

सैनिक—ठहरो इरा ! [**इरावती रुक जाती है**]

सम्राट्—ऐं ! [**सेनापति पुष्यमित्र और बलिमित्र का प्रवेश।**]

पुष्यमित्र—राजाधिराज की जय हो ! (**बलमित्र से कड़क कर**) इन दोनों युवक और युवती को बन्दी करो, और शीघ्र यहाँ से ले जाओ। [**पुष्यमित्र के इस आकस्मिक आचरण से सम्राट कुछ चकित और कुछ विमूढ़-सा हो जाता है। सैनिक और इरावती का बलमित्र के साथ प्रस्थान।**]

भिक्षु—देव ! संघ की सीमा में आज यह पहला अवसर है कि एक भिक्षुणी बन्दिनी बनायी जाय। संघ महास्थविर की आज्ञा ही यहाँ ऐसे विषयों में प्रधान होती रही।

सेनापति—(**विनम्र होकर**) आर्य ! मुझे तो यह नहीं मालूम था कि राजशक्ति से ऊपर भी किसी की शक्ति माननीय है, चाहे वह संघ ही क्यों न हो ।

सम्राट्—(**कुछ प्रसन्न-सा होकर**) आर्य ! इस विवाद को मैं स्वयं महास्थविर से जा कर समझ लूँगा । अभी तो जो सेनापति ने किया वही ठीक है ।

सेनापति—मैं अनुग्रहीत हुआ महाराज ! किन्तु मेरी पहले की प्रार्थना के अनुसार क्या इन्द्रध्वज महोत्सव को श्रीमान न कृतार्थ करेंगे ? आज उत्सव का अन्तिम समारोह है । मालव सैनिक रात्रि की रणचर्य्या का कृत्रिम प्रदर्शन करेंगे ।

सम्राट्—(**विरक्त होकर संदिग्ध भाव से**) मुझे तुम्हारा इन्द्रध्वज कुछ समझ में नहीं आता । यह क्या उपद्रव है ?

पुष्यमित्र—देव, आर्य जाति के महावीर इन्द्र की पताका की पूजा राष्ट्र में शौर्य और तेज की वृद्धि के लिए आवश्यक है ।

भिक्षु—सेनापते ! हिंसा को उत्तेजन देना धर्म्म विरुद्ध है ।

सम्राट—(**कुछ चंचल से होकर**) सेनापति ! धार्म्मिक विधानों में हस्तक्षेप करने का तुम्हारा अभिप्राय तो नहीं होगा ?

सेनापति—कदापि नहीं महाराज ! आर्य स्थविर की यह अहिंसा एक प्रतिक्रिया है । राष्ट्र में जैसे नृशंसता स्पृहणीय नहीं है वैसे ही कायरता भी अभीष्ट न होगी । उत्तर-पश्चिम में यवन मिलिन्द तथा पूर्व-दक्षिण में जैन खारवेल अपने बल को बढ़ा रहे हैं । किसी भी क्षण में मौर्य्य साम्राज्य को निगल जाने के लिए ये दोनों शक्तियाँ अग्रसर हो सकती हैं । महाराज, मैं प्रार्थना करता हूँ कि इन्द्र कुमारियों को संघ से लौट कर अपने कुलों में जाने की आज्ञा दी जाय जिस से मालव सेना को सन्तोष हो । (**भिक्षु से**) स्थविर ! क्षमा कीजिये तो मैं एक बात और कहूँ । आपकी कृत्रिम अहिंसा ने मगध की विश्वविजयिनी वीरता का इतना ह्रास कर दिया है कि उसकी संकुचित सीमा की रक्षा करने के लिए आज मालव सेना अत्यन्त आवश्यक हो रही है ।

सम्राट्—सेनापति ! हम लोग भविष्य की चिन्ता में प्रायः वर्तमान को भी नष्ट कर देते हैं । आक्रमण की वैसी सम्भावना नहीं जैसी आप सुना रहे हैं । तो भी मैं चाहता हूँ कि यह इन्द्रध्वज शीघ्र हटा दिया जाय !

पुष्यमित्र—(**सिर झुकाकर**) उत्तम होता कि सम्राट् अपनी आज्ञा पर फिर विचार करते । मालवों की दुर्द्धर्ष वीर सेना. . .।

सम्राट्—दुर्द्धर्ष ! क्या कहते हो सेनापति ! मालवों का नाम मैं इतनी बार नहीं सुनना चाहता । मैं विनीत और दुर्द्धर्ष दोनों का नियामक हूँ ! मैं सम्राट् हूँ !

[पुष्यमित्र सिर झुका लेता है और भिक्षु के साथ सम्राट् सपरिवार खुले फाटक से भीतर जाता है ।]

पुष्यमित्र—इधर ! या उधर ! यह दुर्बल, धर्म्म के आडम्बर में महाविलासी, नाममात्र का सम्राट्—क्षत्रिय, दार्शनिक और संन्यासी भिक्षु हो रहे हैं। इसलिए ब्राह्मण पुष्यमित्र ने शस्त्र ग्रहण करके आजतक मगध राष्ट्र की रक्षा की है । किन्तु भीतर उपप्लव

ग्रौर बाहर से आक्रमण । पुष्यमित्र, अब तुम क्या करोगे ? और अग्निमित्र, जिसे मैं इतने दिनों तक बचाता रहा, आज उसकी भेंट सम्राट से हो ही गयी । कैसी विचित्र परिस्थिति है ? उस उच्छृङ्खल युवक को मैं विदिशा से आने नहीं देता था । क्या करूँ ?

[व्यग्र होकर टहलने लगता है । नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में पतञ्जलि का प्रवेश ।]

पुष्यमित्र—नमस्कार, इस समय आपकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता थी ।

पतञ्जलि—(**शिलाखण्ड पर बैठते हुए**) मेरी आवश्यकता ? आश्चर्य !

पुष्यमित्र—मैं इस समय अत्यन्त उद्विग्न हूँ ।

पतञ्जलि—(**सहज भाव से**) होना ही चाहिये । किन्तु इस जड़ता से आच्छन्न, निर्मम उदासीनता में किसी तरह के बौद्धिक उत्तेजना में पड़े हुए सेनापति को देखकर मुझे तो प्रसन्नता ही हो रही है ।

पुष्यमित्र—मैं क्या करूँ ?

पतञ्जलि—यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है । मैं क्या करूँ ? इस विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले । जो मन से कायर शरीर से शिथिल होने पर भी वचन का ही वीर है, उससे कुछ नहीं होता । विश्व शक्ति-तरंग है । वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने को कुछ न समझनेवाले प्राणी से अनुकरण करने की वस्तु नहीं ।

पुष्यमित्र—आर्य ! तब क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जानेवाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है ? आर्य जाति कहाँ जा रही है ? और...

पतञ्जलि—जहाँ उसे जाना है, चितिशक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है । तुम क्षात्रधर्म्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हो (**आकाश की ओर देखकर**) तो क्या अभी वह समय नहीं आया है कि भैरव स्पन्द से जड़ता काँप उठे और आत्मशक्ति उस तीव्र दाहक शक्ति का वज्र-ज्वलन तेज उत्पन्न करे जिसमें पाप और पुण्य के दुर्बल कलभ भस्म हो जायँ । सेनापति ! तुम कुछ कर सकोगे ? हाँ, अवश्य करोगे । जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है । उसे आनन्द-पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है । दुःखवाद की निद्रा छोड़ कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है । यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं तो मङ्गलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पञ्चकृत्य करने में कुशल चिरानन्दमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो । तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे । वही करोगे जो होना चाहिये ।

[पुष्यमित्र कुछ समय के लिए सिर झुकाकर प्रकृतिस्थ हो जाता है । पतञ्जलि का प्रस्थान । नेपथ्य से कोलाहल करते हुए मालव सैनिकों का प्रवेश । पुष्यमित्र चौंक कर खड़ा हो जाता है ।]

पुष्यमित्र—क्या है ?

बलमित्र—आर्य ! इस अपमान का प्रतिशोध लिये बिना हम लोग शान्त नहीं होंगे । कुक्कुटाराम शान्त तपस्वी भिक्षुओं के निवास योग्य अब नहीं रहा । अब वह अपने नाम को सार्थक करेगा और उसमें कुक्कुट ही रहेंगे ।

और बाहर से आक्रमण । पुष्यमित्र, अब तुम क्या करोगे ? और अग्निमित्र, जिसे मैं इतने दिनों तक बचाता रहा, आज उसकी भेंट सम्राट से हो ही गयी । कैसी विचित्र परिस्थिति है ? उस उच्छृङ्खल युवक को मैं विदिशा से आने नहीं देता था । क्या करूँ ?

[**व्यग्र होकर टहलने लगता है । नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में पतञ्जलि का प्रवेश ।**]

पुष्यमित्र—नमस्कार, इस समय आपकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता थी ।

पतञ्जलि—(**शिलाखण्ड पर बैठते हुए**) मेरी आवश्यकता ? आश्चर्य !

पुष्यमित्र—मैं इस समय अत्यन्त उद्विग्न हूँ ।

पतञ्जलि—(**सहज भाव से**) होना ही चाहिये । किन्तु इस जड़ता से आच्छन्न, निर्मम उदासीनता में किसी तरह के बौद्धिक उत्तेजना में पड़े हुए सेनापति को देखकर मुझे तो प्रसन्नता ही हो रही है ।

पुष्यमित्र—मैं क्या करूँ ?

पतञ्जलि—यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है । मैं क्या करूँ ? इस विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले । जो मन से कायर शरीर से शिथिल होने पर भी वचन का ही वीर है, उससे कुछ नहीं होता । विश्व शक्ति-तरंग है । वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने को कुछ न समझनेवाले प्राणी से अनुकरण करने की वस्तु नहीं ।

पुष्यमित्र—आर्य ! तब क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जानेवाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है ? आर्य जाति कहाँ जा रही है ? और...

पतञ्जलि—जहाँ उसे जाना है, चितिशक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है । तुम क्षात्रधर्म्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हो (**आकाश की ओर देखकर**) तो क्या अभी वह समय नहीं आया है कि भैरव स्पन्द से जड़ता काँप उठे और आत्मशक्ति उस तीव्र दाहक शक्ति का वज्र-ज्वलन तेज उत्पन्न करे जिसमें पाप और पुण्य के दुर्बल शलभ भस्म हो जायें । सेनापति ! तुम कुछ कर सकोगे ? हाँ, अवश्य करोगे । जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है । उसे आनन्द-पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है । दुःखवाद की निद्रा छोड कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चचल हो रही है । यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं तो मङ्गलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पञ्चकृत्य करने में कुशल चिरानन्दमयी आत्म-सत्ता में विश्वास करो । तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे । वही करोगे जो होना चाहिये ।

[**पुष्यमित्र कुछ समय के लिए सिर झुकाकर प्रकृतिस्थ हो जाता है । पतञ्जलि का प्रस्थान । नेपथ्य से कोलाहल करते हुए मालव सैनिकों का प्रवेश । पुष्यमित्र चौंक कर खड़ा हो जाता है ।**]

पुष्यमित्र—क्या है ?

बलमित्र—आर्य ! इस अपमान का प्रतिशोध लिये बिना हम लोग शान्त नहीं होंगे । कुक्कुटाराम शान्त तपस्वी भिक्षुओं के निवास योग्य अब नहीं रहा । अब वह अपने नाम को सार्थक करेगा और उसमें कुक्कुट ही रहेंगे ।

पुष्यमित्र—तो क्या तुम लोग उपद्रव करने पर तुले हुए हो ?

एक मालव सैनिक—मालव कुल की वीर बालिकाएँ इस तरह पकड़ कर धर्म के नाम पर कारागार में बन्द कर दी जायें और हम लोग देखते रहें ! यह नहीं हो सकता ।

दूसरा सैनिक—धर्म ! कहाँ है ? जनता को क्या वास्तव में संघ वही दे रहा है जो उससे आशा थी ?

तीसरा सैनिक—ठीक है सेनापति ! मिठाई न मिले तो मीठी बात तो मिलनी ही चाहिये । हम पर अत्याचार भी हो और ऊपर से डाँट फटकार !

पुष्यमित्र—(**रोष से**) मूर्खो ! सम्राट भी इस समय संघाराम में ही हैं, लौट जाओ । मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा ।

बलमित्र—आपकी व्यवस्था तो कुछ ही क्षण पहले मैंने देखी है । अभी-अभी आपने राजशक्ति को प्रसन्न करने के लिए अन्यायपूर्वक अपने पुत्र को बन्दी करने की आज्ञा दी है ।

तीसरा सैनिक—और राजशक्ति संघ को प्रसन्न करने में तत्पर है । कहा भी है कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे' ।

पुष्यमित्र—तुम अपनी परिहासप्रियता को रोको । (**बलमित्र से**) सुनते हो बलमित्र ! वृहद्रथ केवल सम्राट् ही नहीं, अपितु वह मेरी एकान्त राजनिष्ठा का प्रतिनिधि है । वह मेरी सम्पूर्ण कृतिशक्ति की सफलता है । मैं उसका अपमान, जिसे अपने हाथों बनाया है, उसका अनिष्ट न होने दूँगा । तुम लोग तन्त्रनिष्ठा को, नियमन को भंग करके घोर अपराध करोगे । सुनो, यह पुष्यमित्र नहीं कह रहा है, किन्तु सेनापति की आज्ञा है । मेरे प्रिय सैनिको ! लौट जाओ ।

बलमित्र—पूज्यपाद, आप मेरे पितृव्य हैं, किन्तु सेनापति नहीं । जो सैनिक की मर्यादा सुरक्षित नहीं रख सका, ऐसे सेनापति का मैं अधीनस्थ सैनिक भी नहीं ।

[नेपथ्य में से—'**महानायक अग्निमित्र की जय !' पुष्यमित्र चौंक कर देखने लगता है । इरावती और कुछ सैनिकों के साथ अग्निमित्र का प्रवेश ।**]

पुष्यमित्र—(**उन्मत्त भाव से**) तो क्या तुम सब विद्रोही हो ? नहीं, अग्निमित्र ! तुमसे मुझे यह आशा न थी । तुमको बन्दीगृह में जाने की मैंने आज्ञा दी थी ।

अग्निमित्र—तात ! वह आज्ञा शिरोधार्य करके मैं बन्दीगृह तक गया ।

पुष्यमित्र—तो फिर कैसे चला आया ?

अग्निमित्र—आपकी आज्ञा पालन करके मैं लौट आया ।

पुष्यमित्र—(**उद्विग्न भाव से टहलता हुआ**) हूँ । (**फिर सहसा खड्ग खींच लेता है ।**) तो फिर आओ, आज सेनापति और सैनिकों की अस्त्र-परीक्षा होगी । साम्राज्य का एक स्वामिभक्त पुरुष यहाँ उपस्थित था इसे संसार जान ले ।

बलमित्र—मालव की पवित्र कुमारियों के नाम पर, उनके उज्ज्वल सम्मान के नाम पर, मैं कुक्कुटाराम में जाने का पथ माँगता हूँ । प्रतिज्ञा करता हूँ कि मालव कुमारियों को ले आने के अतिरिक्त संघाराम में और कुछ न करूँगा ।

पुष्यमित्र—मेरे जीवित रहते यह नहीं हो सकता ।

[**पतञ्जलि का सहसा पुनः प्रवेश**]

पुष्यमित्र—तो क्या तुम लोग उपद्रव करने पर तुले हुए हो ?

एक मालव सैनिक—मालव कुल की वीर बालिकाएँ इस तरह पकड़ कर धर्म के नाम पर कारागार में बन्द कर दी जायँ और हम लोग देखते रहें ! यह नहीं हो सकता ।

दूसरा सैनिक—धर्म ! कहाँ है ? जनता को क्या वास्तव में संघ वही दे रहा है जो उससे आशा थी ?

तीसरा सैनिक—ठीक है सेनापति ! मिठाई न मिले तो मीठी बात तो मिलनी ही चाहिये । हम पर अत्याचार भी हो और ऊपर से डाँट फटकार !

पुष्यमित्र—(**रोष से**) मूर्खो ! सम्राट भी इस समय संघाराम में ही हैं, लौट जाओ । मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा ।

बलमित्र—आपकी व्यवस्था तो कुछ ही क्षण पहले मैंने देखी है । अभी-अभी आपने राजशक्ति को प्रसन्न करने के लिए अन्यायपूर्वक अपने पुत्र को बन्दी करने की आज्ञा दी है ।

तीसरा सैनिक—और राजशक्ति संघ को प्रसन्न करने में तत्पर हैं । कहा भी है कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे' ।

पुष्यमित्र—तुम अपनी परिहासप्रियता को रोको । (**बलमित्र से**) सुनते हो बलमित्र ! बृहद्रथ केवल सम्राट् ही नहीं, अपितु वह मेरी एकान्त राजनिष्ठा का प्रतिनिधि है । वह मेरी सम्पूर्ण कृतिशक्ति की सफलता है । मैं उसका अपमान, जिसे अपने हाथों बनाया है, उसका अनिष्ट न होने दूँगा । तुम लोग तन्त्रनिष्ठा को, नियमन को भंग करके घोर अपराध करोगे । सुनो, यह पुष्यमित्र नहीं कह रहा है, किन्तु सेनापति की आज्ञा है । मेरे प्रिय सैनिको ! लौट जाओ ।

बलमित्र—पूज्यपाद, आप मेरे पितृव्य हैं, किन्तु सेनापति नहीं । जो सैनिक की मर्यादा सुरक्षित नहीं रख सका, ऐसे सेनापति का मैं अधीनस्थ सैनिक भी नहीं ।

[**नेपथ्य में से—'महानायक अग्निमित्र की जय !' पुष्यमित्र चौंक कर देखने लगता है । इरावती और कुछ सैनिकों के साथ अग्निमित्र का प्रवेश ।**]

पुष्यमित्र—(**उन्मत्त भाव से**) तो क्या तुम सब विद्रोही हो ? नहीं, अग्निमित्र ! तुमसे मुझे यह आशा न थी । तुमको बन्दीगृह में जाने की मैंने आज्ञा दी थी ।

अग्निमित्र—तात ! वह आज्ञा शिरोधार्य करके मैं बन्दीगृह तक गया ।

पुष्यमित्र—तो फिर कैसे चला आया ?

अग्निमित्र—आपकी आज्ञा पालन करके मैं लौट आया ।

पुष्यमित्र—(**उद्विग्न भाव से टहलता हुआ**) हूँ । (**फिर सहसा खड्ग खींच लेता है ।**) तो फिर आओ, आज सेनापति और सैनिकों की अस्त्र-परीक्षा होगी । साम्राज्य का एक स्वामिभक्त पुरुष यहाँ उपस्थित था इसे संसार जान ले ।

बलमित्र—मालव की पवित्र कुमारियों के नाम पर, उनके उज्ज्वल सम्मान के नाम पर, मैं कुक्कुटाराम में जाने का पथ माँगता हूँ । प्रतिज्ञा करता हूँ कि मालव कुमारियों को ले आने के अतिरिक्त संघाराम में और कुछ न करूँगा ।

पुष्यमित्र—मेरे जीवित रहते यह नहीं हो सकता ।

[**पतञ्जलि का सहसा पुनः प्रवेश**]

पतञ्जलि—वाणी का अपव्यय न करो। एक कदाचित शब्द लगा लेने से क्या बुरा होता? किन्तु यह क्या? तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो? सेनापति, तुम्हारा इन्द्रध्वज महोत्सव विघ्नसंकुल है। उत्सव के संरक्षक व्याकुल हैं। स्थविरों की मंत्रणा से विमूढ़ सम्राट् वृहद्रथ की कोई विकट आज्ञा उन्हें मिली है। मैं स्वस्त्ययन करने जाकर लौट आया। चलिये, शीघ्र उधर चलिये। [**चिन्तित भाव से पुष्यमित्र का प्रस्थान।**]

बलमित्र—अग्निमित्र! अब क्या देख रहे हो?

[**मालव सैनिकोंका संघारामके द्वारमें प्रवेश**]

इरावती—अब क्या होगा?

पतञ्जलि—वही जो होनेवाला है।

इरावती—आचार्य, क्या होनेवाला है? मैं तो हतबुद्धि-सी हो रही हूँ।

पतञ्जलि—क्षत्रिये! यह मनुष्य की तर्कबुद्धि की प्रतिक्रिया है। सहस्रों वर्ष की दार्शनिकता ने अपना अतिवादी स्वरूप प्रकट किया है। आज हम लोग दर्शन से जीवन का, सृष्टि का सामंजस्य करना भूलकर बौद्धिक मोह में पड़े हुए हैं। हममें सब कार्यों को भस्म करनेवाली अग्निज्वाला, आत्मा की आहूति समझ कर सबको ग्रहण करनेवाली शक्ति का ह्रास हो रहा है। चिरकाल से ब्राह्मणों के विरोध में क्षत्रियों ने जिस दार्शनिकता की सृष्टि की है, उसी का यह परिणाम है कि एक वीर बालिका उपद्रव की आशंका से घबरा कर पूछती है कि अब क्या होगा? आर्य चाणक्य ने शूद्रप्राय भारतवर्ष में जिस क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा की थी, वह अनात्मवाद के चक्कर में छिन्न-भिन्न हो रहा है। अब ब्राह्मण को ही समतोलन के लिए क्षत्रिय बनना पड़ेगा। यह उसी का समारम्भ है।

इरावती—तो क्या विप्लव होगा?

पतञ्जलि—(**हँसकर**) विप्लव नहीं, संशोधन होगा! महाशक्ति की सृष्टि महायज्ञ है। इसकी आहुतियाँ बन्द कर दी गयी हैं, मन, वाणी और शरीर से; इसीलिए आर्य लोग अपवित्र हो गये हैं। आत्मकेन्द्र के अभाव में कर्मों की प्रतिष्ठा नहीं रही। इसलिए अब फिर से यज्ञ का आरम्भ हो रहा है। [**कुक्कटाराम के द्वार से मालव सैनिकों के साथ इन्द्र कुमारियाँ आती हैं।**]

अग्निमित्र—(**पतञ्जलि से**)आचार्य हम लोग किधर चलें?

पतञ्जलि—(**इन्द्रध्वज की ओर हाथ उठा कर**) इन्द्रध्वज के नीचे।

(पटाक्षेप)

[**विस्तृत भूमिका में इन्द्रध्वज, जिसके चारों ओर खड्ग लिए आठ कुमारियाँ गाती हुई घूमती हैं। मालवों के साथ-साथ पतञ्जलि आकर इन्द्रध्वज की वन्दना करते हैं।**]

बलमित्र—आचार्य! अब क्या आज्ञा है?

पतञ्जलि—आज्ञा न पूछो। यज्ञ का आरम्भ है। जिस दृढ़ता के साथ तुम लोगों ने अबतक इसकी रक्षा की है, उससे विचलित न हो। जो कुछ कहना है वह धीरे-धीरे

नहीं, बड़ी तीव्र गति से मेघ-ज्योति की तरह स्वयं उपस्थित होकर तुमसे कर्तव्य करा लेगा ।

एक मालव—यह तो बात समझ में नहीं आती । बुद्धि से जिसका आदि और अन्त न समझा गया हो, उस कर्म को करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा ?

पतञ्जलि—तुम पक्के बुद्धिवादी हो । मालूम होता है कि तुमने जन्म लेन से पहले भी भली-भाँति सोच विचार लिया था ।

एक मालव—आर्य ! ऐसा तो नहीं, फिर भी जब हम सोचने-विचारने के योग्य हो जायँ, तब अविचार से चलना क्या ठीक होगा ?

पतञ्जलि—तुम्हारी ज्ञानश्लाघा नयी नहीं है । विचार करने पर भी तुम आज तक की घटनाओं को नियति का सुनिश्चित कर्म नहीं समझ रहे हो ! अभी हृदय के यौवन से, आनन्द से जिस सीमा तक बढ़ आये हो, वह कदाचित् बुद्धि-क्षेत्र से दूर है । सम्राट् की आज्ञा भंग करके जो बीज तुमने आरोपण किया है, वह शीघ्र फलीभूत होगा । एक शब्द में...

—:o:—

: २ :

देवीचन्द्रगुप्तम्

प्रसाद की **ध्रुवस्वामिनी** नाटक के मुख्य पात्र रामगुप्त, चन्द्रगप्त और ध्रुवस्वामिनी का परिचय इतिहासकारों को विशाखदत्त कृत्त 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक से प्राप्त हुआ। यह नाटक अभी तक मूल रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। नाट्य शास्त्र की विभिन्न पुस्तकों में उसके कुछ उद्धरण नाटक के विभिन्न तत्वों के रूप में प्राप्त होते हैं। उन्हीं उद्धरणों को समय-समय पर विद्वानों ने खोज निकाला है जो शोध-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। उन्हें यहाँ एकत्र करके इस दृष्टि से दिया जा रहा है कि पाठक '**देवी-चन्द्रगुप्तम्**' के स्वरूप से परिचित हो सकें और ध्रुवस्वामिनी के सम्बन्ध में विचार कर सकें।

जो उद्धरण अभी तक प्रकाशित हुए हैं वे अत्यन्त बिखरे हुए प्रसंगों के हैं। अतः उन्हें एक-सूत्र में बाँधना अत्यन्त कठिन है। फिर भी उन्हें उन संकेतों के सहारे, जो मूल उद्धरण के साथ-साथ नाट्यशास्त्रियों ने कहीं-कहीं दे दिये हैं, क्रमबद्ध करने की चेष्टा की गयी है। पाठकों की सुविधा के लिए मूल के साथ-साथ स्वतन्त्र अनुवाद भी दे दिया गया है।

अंक १

चन्द्रगुप्त—(**ध्रुवदेवी दृष्टवा स्वगतमाह**) **इयमपि सा देवी तिष्ठति । येषा—**

रम्या चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीतादशाम्
तत्कालोपगतेनराहुशिरसा गुप्तेवचान्द्रीकला ।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सती
लज्जाकोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति ।।

चन्द्रगुप्त—(**ध्रुवदेवी को देख कर, स्वगत**) यही वह देवी बैठी हुई है जो रम्या थी, पर अब शोक से उसकी कैसी अरम्या दशा हो रही है ! ऐसा लगता है मानो ग्रसा हुआ चन्द्र राहु के मुख से अभी बाहर निकला हो । क्लीवों के उपयुक्त अपने पति के चरित्र को देख कर वह लज्जा, कोप, विषाद और भय से युक्त हो रही है ।

× × × ×

[**शकपतिना परं कृच्छं आपतितं रामगुप्त स्कन्धावारं अनुजिघृक्षुः उपायान्त रागोचरे प्रतिकारे निशिवेताल साधनमध्यवस्यन कुमार चन्द्रगुप्तः आत्रेयेण विदूषकेन उक्तं ।**]

विदूषक—**भो सक्कंदाणि भवदा इमाए वेलाए भांडागरिआणं स आसा पदादो पदं विगतुं ।**

नायक—(**स्वागतम्**) **अत्र उपायः चिन्तनीयः**

[**प्रविश्य पटलकहस्ता चेटी**]

चेटी—**जअदु जअदु कुमार । कुमार कहिं अज्जुआ...अज्जु खु अज्जुआ केणापि कारणेण अहं विमना कुमारं पेक्खामित्ति भणंती राअउ लादो णिक्कन्ता । इमं च से देवीए ससरीर परिमुत्तं वसाहणअं पसावीकहं गाहर्वअ कुमारस्स समीपे अज्जुअ...मण्णा आगदित्थ अवत्ते आस्वोमि, इमं जावअज्जुअं अण्णेसामि ।**

[**निष्क्रान्ता**]

विदूषक—**आ दासीए घीटे कितव अहं भांडागरिओ अगच्छ वेच्छि...**

[शकपति के कारण परम कष्ट में पड़े हुए रामगुप्त के स्कन्धवार में चन्द्रगुप्त, प्रतिकार का अन्य उपाय न देख कर रात्रि में बेताल साधना करने का निश्चय कर चुका, तब विदूषक आत्रेय ने उससे कहा ।]

विदूषक—क्या इस समय इस प्रकार आप भांडागारिक के निकट से एक कदम भी आगे जा सकेंगे ?

नायक–(**स्वगत**) उपाय सोचना होगा ।

[**हाथ में पटलक लिए हुए दासी का प्रवेश**]

दासी—कुमार की जय हो, जय हो ! कुमार आर्या कहाँ हैं ?...अभी आर्या किसी कारण 'मैं घबरा रही हूँ, कुमार से मिलूँगी', कहती हुई राजकुल से बाहर आयी हैं । कुमार के पास आर्या के होने का अनुमान करके उनके लिए ध्रुवदेवी प्रदत्त अपने शरीर का वस्त्राभूषण लेकर आयी हूँ...आर्या को खोजने जाती हूँ ।

[**दासी का प्रस्थान**]

विदूषक—अरे दासीपुत्री, क्या मैं तेरा भंडारी हूँ । जा, भाग...

× × × ×

विदूषक—शकपतेः शिविरमभिप्रस्थितं नायकमाह—**भोः कहदाणि तुमं सुबहुआणं म झे एआई संचरिस्ससि ?**

नायक—**अहं मूर्ख, सत्वमुत्सृज्यसंख्यायं बहुमनो भवतः**
पश्य सद्वंशान् पृथुवर्ष्म विक्रमबलान् दृष्ट्वाद्भुतान् दन्तिनः
हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्कामतः पर्वतान्
एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया ।

विदूषक (शकपति के शिविर में जाने को उद्यत नायक से)—क्या आप इस प्रकार अकेले शत्रुओं के बीच जायेंगे ?

नायक—मूर्ख, स्वत्व की अपेक्षा क्या संख्या का महत्व अधिक है ? अद्भुत दाँतों वाले हाथियों को देख कर अकेले उच्च कुलीन, भारी शरीर वाला सिंह जिसकी गन्ध से मृग भयभीत हो जाते हैं, अपने विक्रम और शक्ति के कारण अपने अयाल को फैलाये पर्वत की गुफा से बाहर निकल आता है । वीरों के लिए संख्या क्या है ?

× × × ×

अंक २

[द्वितीये अंके प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी सम्प्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधार्थपिपासु प्रतिपन्न ध्रुवदेवी नैपथ्यः कुमार चन्द्रगुप्तो विजापयन्नुच्चते । यथा ।]

राजा—**प्रतिष्ठोतिष्ठ न खल्वहं त्वा परित्यक्तुमुत्सहे**
प्रत्यग्रयौवन विभूषणमंगमेतद्
रूपश्रियं च तव यौवन योग्य रूपम्
र्भक्त च मयानुपमामनुरुध्यमानो
देवी त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः ।

(अन्य स्त्री शंकया) ध्रुवदेवी—**यदि भत्ति अवेक्खसि तदो मंदभाइणि परिच्चयसि ।**
राजा—**अपि च त्यजामि देवीं तृणवत्वदन्तरे ।**
ध्रुवदेवी—**अहं पि जिविदं परिच्चयन्ती अज्जउत्तंपढमपरंययेव परिच्चयिस्सम् ।**
राजा—**त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।**
ध्रुवदेवी—**ममापि सम्पदं निष्फलो जीवलोओ सुहपरिच्चयणीओ भविस्सदि ।**
राजा—**ऊढेति देवीं प्रति मे दयालुता ।**
ध्रुवदेवी—**इयं अज्जउत्त । ईदिसी दयालुता जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एवं परिच्चईयदि ।**

राजा—**त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः।**
ध्रुवदेवी—**ग्रदोयोव मन्द भागा परिच्चइयामि।**
राजा—**त्वययु पारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह**
परित्यक्ता मयादेवी जनो यं जन एव मे ।
ध्रुवदेवी—**हंजे इयं सा ग्रज्जउत्तस्स करुणदा।**
सूत्रधारी—**देवि पंडति चन्द्रमंडलाउ चुडुलीग्रो किमेत्थ करियादि।**
राजा—**देवीवियोगदुखार्त्तास्त्वमत्मान् रमयिष्यसि।**
ध्रुवदेवी—**वियोगदुक्ख पिदे ग्रकरुणास्स ग्रत्थियेव**
राजा—**त्वद्दुःखस्यापनेतु सा शतांशेनापि न क्षमा।**

प्रकृतियों को आश्वासन देने के निमित्त शक को ध्रुवदेवी को देने को प्रस्तुत राजा रामगुप्त ने शत्रुवध के लिए उत्सुक, ध्रुवदेवी के छद्मवेश में तैयार चन्द्रगुप्त से कहा—

उठो, उठो। हम तुम्हारा त्याग करने में असमर्थ हैं। तुम्हारा नवयौवन खिला हुआ है और उस यौवन के अनुरूप ही तुम्हारा रूप भी है। तुम्हारी भक्ति देखकर तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग है। भले ही देवी को निकाल दूँ पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता।

ध्रुवदेवी—(अन्य स्त्री की शंका से) यदि आप भक्ति ही चाहते हैं तो मुझ मन्द-भागिनी को मत त्यागिये।

राजा—यही नहीं। तुम्हारे लिए देवी को तृण के समान त्यागता हूँ।

ध्रुवदेवी—इससे पूर्व कि आर्यपुत्र मुझे जीवित त्यागें, मैं प्राण त्याग दूँगी।

राजा—तुम्हारे बिना राज्य निष्फल है।

ध्रुवदेवी—मेरे लिए तो संसार ही निष्फल है, इसलिए त्याज्य है।

राजा—देवी के प्रति आज भी मैं वैसा ही दयालु हूँ।

ध्रुवदेवी—आर्यपुत्र! क्या यही दयालुता है? निरपराध अनुगता को इस प्रकार त्याग रहे हैं!

राजा—तुम्हारे स्नेह में मन बँधा हुआ है।

ध्रुवदेवी—तभी तो इस मन्दभागिनी का त्याग कर रहे हैं।

राजा—तुम्हारे प्रेम के कारण ही देवी को त्याग रहा हूँ। यही मेरे लिए उचित है।

ध्रुवदेवी—(**सूत्रधारिणी से**) ऐ री, क्या यही आर्यपुत्र की दयालुता है?

सूत्रधारिणी—देवि, यदि आकाश से बिजली गिरे तो क्या कहा जाय।

राजा—देवी के वियोग में मैं दुखी हूँगा, उस समय तुम मुझको प्रसन्न करना।

ध्रुवदेवी—तुम जैसे कठोरहृदय को भी कभी वियोग दुःख होगा।

राजा—उसके वियोग का दुःख तुम्हारे वियोग के दुःख का शतांश भी नहीं है।

× × ×

इस अंक का कोई अन्य अवतरण प्राप्त नहीं है। भोजकृत 'शृंगारप्रकाश' के एक उल्लेख से आगे की घटना का आभास मिलता है। वह उल्लेख इस प्रकार है:

स्त्रीवेशनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारं ग्रलिपुरं शकपति वधाय ग्रगमत्। इति प्रयोग दर्शितः, शकपतिमघातंयदिति च वृत्तंसूचितम्।

स्त्री के वेश में छिप कर चन्द्रगुप्त शत्रु के स्कन्धावार अलिपुर में शकपति के वध के लिए गया। यह प्रयोग दर्शित है और शकपति के मारे जाने के वृत्त को सूचित करता है।

अंक ४

माधवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्तस्योक्ति
आनन्दाश्रु सितेतरोत्पलरुषो आबध्नता नेत्रयोः
प्रत्येषु वरानने पुलकिषु स्वेदं समातन्वता
कुर्वाणेन नितम्बयोरुपचयं सम्पूर्ण योरप्यसो
केनाप्यस्पृशता प्यधोनिवसन ग्रन्थिस्तवोच्छ्‌वासितः।

× × ×

चन्द्रगुप्त—प्रिये माधवसेने त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय
कंठे किन्नरकंठि बाहुलतिकापाशः समासज्ज्यताम्
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद्‌बध्नातु पाणिद्वयम्
पादौ त्वज्जघनस्थलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेखला
पूर्वं त्वद्‌गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नाहिति।

अंक ५

एसो सियकरवित्थरपणासियासेसवेरितिमिरोहे
नियविह वरेण चन्दो गयण गहलंघिउं विसह।

इयं स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमार चन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदय वर्णनेन प्रवेशति पाविकेति।

श्वेत किरणों के समूह से जिस चन्द्र ने शत्रुरूपी अन्धकार समह को नष्ट किया है और जिसने ग्रहों को बाँधा है, वह अपने प्रभाव से आकाश में शोभित है।

यहाँ अपने अपाय की आशंका से उन्मत्त बने हुए कुमार चन्द्रगुप्त का चन्द्रोदय-वर्णन से प्रवेश दिखलाया गया है।

× × ×

देवी चन्द्रगुप्ते, चन्द्रगुप्तस्य कृतकोन्मादः

देवीचन्द्रगप्त में चन्द्रगुप्त का बनावटी उन्माद है।

× × ×

अत्र कृतकोन्मादं चन्द्रगुप्तः परित्यज्य कर्तव्यमाह
'भवत्यनेन जयशब्देन राजकुलगमनं साधयामि'।

यहाँ चन्द्रगुप्त बनावटी उन्माद को छोड़ कर अपना कर्तव्य बतलाता है—आपके जय शब्द के साथ राजकुल में जाने का कार्य पूरा करूँगा ।

×   ×   ×

बहुविहकज्जविसेसं अइगढं नि हवे मयणावो
निक्खलइ खुद्धचित्तउ रत्ताहुत्तं मणोरिउणो

इयमुन्मत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकार गोपनपिरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुल गमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति ।

अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को कामविकार की ओट में छिपा कर शत्रु के भय से त्रस्त हो क्षुब्ध होकर बाहर जाता है ।

यह चन्द्रगुप्त के शत्रु-भय से कामविकार के आवरण में छिपा कर उन्मत्त वेश में राजकुल में जाने की सूचना देता है ।

——:०:——

: ३ :

नाटककार : जीवन परिचय

ाशी में एक कान्यकुब्ज हलवाई वैश्य घराना है जो 'सुँघनी साव' के नाम से प्रसिद्ध है। इस घराने के पूर्वज पहले जौनपुर में रहा करते थे और शकर का व्यापार करते थे। अठारहवीं शदी के अन्त अथवा उन्नीसवीं शती के आरम्भ में इस घराने के लोग काशी आये और तम्बाकू का व्यापार आरम्भ किया। उन्होंन खान और पीन की उत्तमो नम तम्बाकू तैयार की और मस्तिष्क को सचेत और जागरूक बनाने वाली सुँघनी बनायी। इस सुँघनी को वे लोग पंडितों और विद्यार्थियों में निर्मूल्य वितरित किया करते थे। इसके कारण वे लोग 'सुँघनी साव' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस कुल में श्री शिवरत्न साहु नामक एक अत्यन्त उदार प्रकृति के व्यक्ति हुए। उनके समय में सुँघनी बाँटने का पुराना क्रम तो जारी था ही, साधु-सन्तों को कम्बल तथा रँगे हुए काठ के लाल तुम्बे भी दिये जाते थे और अनेक प्रकार के सदाव्रत भी चला करते। वे इतने उदार थे कि प्रातःकाल गंगा स्नान से लौटते समय अपना लोटा और कम्बल तक लोगों को दे डालते थे। वे प्रायः गुप्त रूप से विद्यार्थियों और दीन-दुखियों की सहायता किया करते थे।

उनके समान ही उनके सुपुत्र श्री देवीप्रसाद साहु भी उदार थे। उनके घर पर पंडितों, कवियों-गुणी गवैयों, वैद्य-मान्त्रिकों, पहलवानों आदि का निरन्तर जमघट लगा रहता। वे सबका आदर सत्कार करते। उनकी इस गुणग्राहकता के कारण जो कोई भी काशीनरेश के यहाँ आता, वह उनके यहाँ भी अवश्य आत था। फलस्वरूप काशी नरेश के समान ही लोग इनका भी अभिवादन 'महादेव' सम्बोधन द्वारा किया करते थे।

ऐसे उदार परिवार में, जिसका व्यापार भी इतना समुन्नत था कि न तो माँग पूरी करने के लिए सामान तैयार हो पाता, और न रुपया रखने के लिए घर में जगह ही थी, हमारे नाटककार थी जयशंकर प्रसाद का जन्म संवत १९४६ में हुआ। लाड़-प्यार का कहना ही क्या! उनके जन्म से पूर्व श्रीदेवीप्रसाद की कई सन्तानें शैशवावस्था ही में मर चुकी थी, अतः प्रसाद की आयुकामना के लिए झारखंड के गोला गोकर्णनाथ महादेव की मनौती मानी गयी कि जब वह बारह बरस के होंगे तो उनका मुँडन वहीं होगा। जीवन-कामना के निमित्त उनका नाक भी छेद दिया गया था और उन्हें बुलाक भी पहना दिया गया था। इससे लोग उनको झारखंडो कह कर पुकारते।

बड़ी-बड़ी लटों और बुलाक के कारण प्रसाद बालिका से ज.न पड़ते। कभी-कभी उनकी माँ प्यारवश घांघरी भी पहना दिया करती थीं। उस समय उनके लड़की होने में कोई सन्देह भी नहीं कर सकता था। एक दिन जब वे इसी वेश में घूम रहे थे, उनके

चाचा ने, अपने यहाँ आये हुए एक सामुद्रिक की परीक्षा करने के निमित्त उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया और कहा कि तनिक इस बालिका के हाथ तो देखिये। दैवज्ञ महोदय की विद्या यह न जान सकी कि वे हाथ लड़की का देख रहे हैं या लड़के का। लड़की समझ कर वे भविष्य कथन कह चले। जब वे सब कुछ कह चुके तो प्रसादजी के चाचा ने घाँघरी उतार के अलग कर दिया और लोगों पर दैवज्ञ महोदय की विद्या का रहस्य प्रकट हो गया। लोगों के लिए तो यह केवल कौतूहल की चीज थी, पर उसका प्रभाव प्रसाद के जीवन पर स्थायी रूप से पड़ा। ज्योतिष का खोखलापन उनके मन में बैठ गया, जो आजीवन बना रहा। उन्होंने सिद्धान्त बना लिया था कि '**यदि ज्योतिष सत्य हो, तो भी मन के लिए बड़ा घातक है। हमारे लिए वर्तमान की चिन्ताएँ ही कौन कम हैं जो भविष्य को जान कर उसके लिए मरे-पचें।**' उनकी यह भावना उनकी रचनाओं में भी यत्र-तत्र परिलक्षित होती है। **विशाख** के द्वितीय अंक के आरम्भ में उन्होंने अपने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—'**क्या क्षितिज की सीमा से उठते हुए नील नीरखंड को देख कर कोई बतला देगा कि वह मधुर फुहारा बरसावेगा कि करकापात करेगा। भविष्य को भगवान ने बड़ी सावधानी से छिपाया है।**

प्रसाद जब पढ़ने योग्य हुए तो उनका शिक्षाक्रम उनके पिता ने ऐसा रखा कि उन्हें संस्कृत, हिन्दी और उर्दू की अच्छी योग्यता हो जाय तथा साहित्यिक रुचि भी उद्‌बुद्धि हो। आरम्भिक पाठ उन्हें स्वर्गीय मोहनलाल गुप्त से मिला। उन दिनों मोहनलाल गुप्त अपने कठोर शासन एव बालकों को हिन्दी तथा संस्कृत की आरम्भिक शिक्षा के सफल शिक्षक मान जाते थे। संस्कृत और उर्दू में धीरे-धीरे प्रसाद की गति अच्छी होती गयी। इन भाषाओं के सैकड़ों सुभाषित उन्हें याद कराये गये और कितने ही उन्होंने स्वयं याद किये। हिन्दी के भी कितने ही छन्द व कवित्त, दोहे, पद आदि उन्हें कंठस्थ हो गया। इस प्रकार की शिक्षा के साथ-साथ उनकी स्कूली पढ़ाई भी चलती थी। वहाँ वे अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करते थे। कसरत कुश्ती में भी वे लगाये गये और उन्होंने खूब शरीर बनाया।

किन्तु असमय मे ही उनके जीवन की इस चर्या में व्यवच्छेद उपस्थित हो गया। कठिनता से बारह बरस के हो पाये होंगे कि उनके पिता और चचा-ताउओं का देहान्त हो गया। कुल के प्रधान हुए प्रसाद के बड़े भाई श्री शम्भुरत्न। उन्होंने प्रसाद का स्कूल जाना बन्द कर दिया। निदान स्कूली शिक्षा सातवीं कक्षा के बाद ही समाप्त हो गयी; घर पर ही संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी के मास्टर रखे गये। श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी उन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे। वे वेद और उपनिषद् के अच्छे ज्ञाता थे। उनका प्रसाद के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा।

एक ओर उनकी शिक्षा का यह क्रम था, दूसरी ओर था परिवार का धार्मिक वातावरण कर्मठ, जटिल और अवरुद्ध। उनका परिवार घोर शैव था। उनके परिवार में कुछ लोग ऐसे थे जो दूसरे देवताओं का नाम सुनते ही कान बन्द कर लेते थे। भगवान शंकर को परात्पर और देवाधिदेव मानने के कारण उन साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के दार्शनिक तत्वों पर उनके यहाँ विचार-विमर्श हुआ करता था। काश्मीर और दक्षिण भारत में शैव-आगम पर बहुत कुछ लिखा गया है और उत्कृष्ट वाङ्मय प्रस्तुत हुआ है, जिसे हम सगुण अद्वैतवाद

कह सकते हैं । इसमें काश्मीर का प्रत्यभिज्ञान दर्शन बहुत ही पुष्ट और प्रबल है । प्रसाद का कुल मुख्यतः इसी दार्शनिक विचारधारा की परम्परा को मानता था । उन लोगों की शिवोपासना का बहिरंग बहुत क्रिया-कलाप पूर्ण और धूमधाम वाला था । प्रसाद के घर के सामने दो बड़े-बड़े शिवालय हैं । उनमें नित्य विधिवत षोडशोपचार, शिवपूजन, समय-समय पर रुद्र पाठ, हवन, ब्राह्मण-भोजन हुआ करता जिसमें रात्रि-जागरण तथा नाच-गान भी होता । ये उत्सव पर्व सब रईसी ठाठ से होते । इन लोगों को शिव का परम इष्ट था, जिससे उनका जीवन ओत-प्रोत था । प्रसाद के जीवन में इसका भी बहुत प्रभाव है ।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में प्रसाद ने अपनी माँ के साथ धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज, अयोध्या आदि की यात्राएँ की । इस यात्रा का भी उन पर स्थायी प्रभाव पड़ा । अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच, नर्मदा की नौका-यात्रा उन्हें आजीवन याद आती रही । वहाँ जो प्राकृतिक दृश्य उन्होंने देखे उनके अनुपम सौन्दर्य की छाया में उनका सुसुप्त कवि मन विकसित हो उठा । उस समय काशी का वातावरण ब्रजभाषा की कविता से ओत-प्रोत था । कोई ऐसा साहित्यिक न था जिसे दस-बीस नये पुराने कवित्त याद न हो, अथवा जो कवित-रचना में टाँग न अड़ाता हो । प्रायः पढ़न्त कवि-सम्मेलन भी हुआ करते । अतः प्रसाद और उनके बालसखा और सहपाठी 'ईश' भी उस ओर आकृष्ट हुए और कोई चौदह-पन्द्रह बरस की अवस्था से ही उन्होंने ब्रजभाषा की रचना आरम्भ कर दी । दोनों मित्रों में कवित्त रचने एवं अच्छे-अच्छे कवित्त याद करने की होड़ लगी रहती । यह सब प्रसाद अपने भाई से छिपा कर किया करते ।

उनके भाई की इच्छा थी कि विद्याध्ययन के साथ-साथ प्रसाद एक उत्तरदायी व्यापारी भी बनें और घर का काम-काज सँभालें । फलतः वे वंश-परम्परागत नियमों के अनुसार कुछ घंटों के लिए दूकान क गद्दी पर बैठने के लिए भेजे जाते । वहीं वे बैठकर कविता लिखा करते । उस समय रीतिकालीन कविता समस्यापूर्ति के घेरे में टिमटिमा रही थी । रचयिता कोई अच्छी-सी विलक्षण जोरदार उक्ति समस्या के रूप में अपने सामने रख लेते और उसी को सजाने अथवा चरितार्थ करने के लिए साढ़े तीन या पौने चार चरणों का निर्माण करते । ऐसे निर्माण में यह विशेषता अपेक्षित होती कि मज़मून अनूठा हो और रचना चमत्कार उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ समस्या तक आकर चूड़ान्त तक पहुँच जाय एवं उसकी अन्वर्थपूर्ति कर दे । दूकान पर बैठे-बैठे प्रसाद भी इसी उधेड़बुन में संलग्न रहते, किन्तु यह प्रवृत्ति उनके भाई से बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी । जब उन्हें पता चला तो वे एक दिन अचानक दूकान पर पहुँचे और वहाँ पर देखा कि प्रसाद ने दूकान का काम तो ऐसा-तैसा देखा है, हाँ गद्दे के नीचे सैकड़ों कवित्त लिखे हुए छिपा कर रखे हैं । उस दिन से प्रसाद का यह क्रम समाप्त हो गया, किन्तु उनके अन्तर का कृती ज्यों का त्यों बना रहा ।

प्रसाद के भाई श्री शम्भुरत्न स्वयं व्यवसायियों से भिन्न वर्ग के जीव थे । उनमें मुक्त हस्तता हद दर्जे की थी । नफ़ासत इतनी थी कि पियर्स साबुन से उनके कपड़ धोये जाते । स्वभाव के बेहद क्रोधी थे । अच्छा से अच्छा घोड़ा रखते और उन्हें टमटम में बेतहाशा दौड़ाते । मौके ब मौके पुलिस तक पर हन्टर चला देते । लोगों के घर पर चढ़ जाते और लुटवा लेते । कितने ही हाली-मवाली उन्हें घेरे रहते और अनाप-शनाप खर्च किया करते ।

व्यापार की ओर तो उनका ध्यान ही नहीं था। फलतः शान के साथ चमकनेवाला व्यापार धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा और घर की आयी लक्ष्मी जाने लगीं। परिवार में बँटवारा का मुकदमा छिड़ गया और ऐसा भी दिन आया जब वे ऋणग्रस्त हो गये। दुर्दिन ने यहीं पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन ऐसा भी आया जब प्रसाद को असहाय छोड़कर वे स्वयं भी चल बसे।

जिस समय श्री शम्भुरत्न मरे, उस समय प्रसाद की अवस्था सोलह वर्ष से कुछ ही अधिक थी। इस कच्ची उम्र में ही उन पर एक दम से घर, व्यापार, मुकदमे और ऋण का बोझ आ पड़ा। कोढ़ में खाज की तरह कुछ बदमाश उनके पीछे पड़ गये जिन्हें दूसरे दलवालों ने उभारा था। प्रसाद के सम्मुख था एक कठोर उत्तरदायित्व और घर सम्हालने में उनका मन तनिक भी नहीं लगता था। फिर भी उन्होंने उसको सँभालने में कोई कोर कसर न छोड़ी। घर का यद्यपि बहुत-कुछ नष्ट हो चुका था, फिर भी जितना बच रहा था, वही क्या कम था—उसे बचाने की प्रसाद ने पूरी चेष्टा की। निर्भीकता तो उन्हें अपने भाई से दाय में मिली थी। उन्होंने सभी आपत्तियों का एक योद्धा की भाँति सामना किया और और बदमाशों की एक भी न चल सकी और वे थोड़े दिनों में ठंडे पड़ गये। किन्तु खानदानी दानशीलता और लम्बे खर्च के कारण उन्हें अपनी स्थिति सुधारने में बहुत कठिनाई हुई। ऋण उनके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी, अतः उन्होंने कुछ सम्पत्ति बेंच देना ही श्रेयस्कर समझा।

प्रसाद के जीवन की एक उल्लेखनीय बात और है कि उन्हें स्वयं अपना विवाह करना पड़ा। पहली पत्नी का शीघ्र ही देहान्त हो गया तो उन्होंने दूसरा विवाह किया, किन्तु वह भी बहुत दिनों तक साथ न दे सकी। उसकी मृत्यु के पश्चात् तो वे अधिक गंभीर हो गये और विवाह की ओर से मुख मोड़-सा लिया था। किन्तु अपनी भाभी के आग्रह के सम्मुख वे टिक न सके। उनकी भाभी वस्तुतः उनके लिए माँ तुल्य थी। प्रसाद और श्री शम्भुरत्न में लगभग सोलह वर्ष का अन्तर था। फलतः उनकी भाभी भी उनसे वय में बहुत बड़ी थीं और उन्होंने उन्हें पुत्र की तरह पाला था। अतः उन्होंने तीसरा विवाह किया जिससे उनके एकमात्र संतान श्री रत्नशंकर हैं।

प्रसाद का इसके आगे का जीवन अत्यन्त संक्षिप्त है। काशी छोड़कर बाहर जाना उन्हें तनिक भी अच्छा न लगता था। एक प्रकारसे वे 'होम-सिक' थे। एक बार कलकत्ता, पुरी, लखनऊ और दो-एक बार प्रयाग—बस यही उनकी यात्रा की तालिका है। यात्रा तो दूर की चीज है, किसी के यहाँ जाने में भी उन्हें बहुत संकोच होता था। बहुत हुआ तो वे राय कृष्णदास के यहाँ अथवा अपने दो-एक अन्य अन्तरंग मित्रों के यहाँ चले गये।

मित्रता के सम्बन्ध में उनके अपने कुछ सिद्धान्त थे जिसका परिचय उनकी **'आँधी'** नामक कहानी के इस अंश में मिलता है—**'मित्र मान लेने में मेरे मन को एक तरह की अड़चन है। इसलिए मैं प्रायः अपने कहे जाने वाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, तो परिचित ही कह कर, सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिवि के समान आत्मत्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को तो प्रायः अतिरंजित देखता**

है । वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब किसी काल्पनिक गणित के आधार पर रखने का मेरा अभ्यास नहीं, जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है ।'

वे इस सिद्धान्त का पालन किस सीमा तक करते थे, इसका पता केवल इस बात से लगता है कि उन्होंने स्वतन्त्र गद्य-काव्य केवल अपने अन्तरंग मित्र रायकृष्ण दास के कारण नहीं लिखे । उन दिनों राय कृष्णदास ने पहले पहल कुछ गद्य काव्य लिखे थे । उन्हें देखकर प्रसाद ने भी कुछ वैसे ही गद्य-काव्य लिखे । यह बात राय कृष्णदास को कुछ अच्छी नहीं लगी और उन्होंने अपने वे भाव उनसे कह दिये । बस, उस दिन से फिर उन्होंने गद्य-काव्य कभी नहीं लिखे । जो लिखे थे उनमें से भी उन्होंने कुछ को कविता में परिवर्तित कर दिया ।

पत्र-लिखने में भी प्रसाद संकोची थे । कुछ ही लोगों को छोड़कर बहुत कम लोग होंगे जिन्हें प्रसाद के हाथ के लिखे पत्र प्राप्त हुए हों ।

प्रसाद को बचपन से ही व्यायाम का अभ्यास था । वे अपनी जवानी में प्रतिदिन एक हजार बैठक और पाँच सौ दण्ड किया करते थे । जो शिक्षक उन्हें कसरत कराता था वह स्वयं उनसे बाँह करने में थक जाता था । अनेक बार कुश्ती में उन्होंन उस कला के विशेषज्ञों को परास्त किया था । वे प्रतिदिन नियमित रूप से टहलने जाया करते थे । शतरंज खेलना उनको प्रिय था ।

भोजन के वे बड़े शौकीन थे और स्वयं अपने हाथ से अच्छा खाना बनाया करते थे । पान के अतिरिक्त उन्हें किसी भी चीज का व्यसन न था । काशी में रहते और शिव के भक्त होते हुए भी वे भाँग तक नहीं पीते थे ।

उनका व्यक्तित्व देखने से ही विशाल मालूम पड़ता था । ललाट की तेजस्विता, आँखों की गंभीरता और बातों की मधुरता उनकी विशेषता थी । मध्यम कद, गौर वर्ण, गोल मुँह । सुप्रसिद्ध कलाकार उस्ताद रामप्रसाद उनकी गोराई देखकर कहा करते थे—'यह चन्द्रमा के निचोड़ का लेप तो नहीं किया करते !'

वे बड़े अध्ययनशील थे । प्रतिदिन नियमित रूप से अध्ययन-मनन में ५–६ घंटे लगाया करते थे ।

१९३६–३७ में लखनऊ में जो प्रदर्शनी हुई थी, उसे देखने प्रसाद गये और वहाँ से लौटे तो अस्वस्थ, २७ जनवरी १९३७ से उन्हें ज्वर आने लगा । पीछे जब कफ की जाँच करायी गयी, तब ज्ञात हुआ कि उन्हें यक्ष्मा हो गया है; और उसी रोग से सन् १९३७, १५ नवम्बर को प्रातःकाल साढ़े चार बजे उनका अवसान हो गया ।

उनके साहित्यिक जीवन और कार्यों पर काफी लिखा जा चुका है, अतः उसकी विस्तृत चर्चा न कर उनके रचनाओं की तालिका मात्र दी जा रही है । उनके आगे उनका प्रकाशन काल दे दिया गया है ।

१. **उर्वशी (चम्पू)**—विजया संवत् १९६६ (सितम्बर या अक्टूबर १९०९) । चित्राधार प्रथम संस्करण में एक दम नये रूप में प्रस्तुत और दूसरे संस्करण में भी संकलित ।

२. **प्रेमराज्य** **(काव्य-कहानी)**—दीपमालिका संवत् १९६६ (**अक्तूबर १९०९**)। चित्राधार द्वितीय संस्करण में पुनर्मुद्रित ।
३. **चन्द्रगुप्त मौर्य** **(इतिहास)**—साहित्य सुमन माला का प्रथम पुष्पसंवत् १९६६में पुस्तकार प्रकाशित । चित्राधार के प्रथम संस्करण में पुनर्मुदित ।
४. **शोकोच्छ्वास** **(शोक-काव्य)**—१९१० में सम्राट् सप्तम एडवर्ड के निधन पर प्रकाशित।
५. **छाया** **(कहानी संग्रह)**—साहित्य सुमन माला का द्वितीय पुष्प । संवत् १९६९ (१९१२ ई०) । इसमें केवल निम्नलिखित पाँच कहानियाँ थीं । ये कहानियाँ संग्रह से पूर्व इन्दु में छप चुकी थीं ।
   १. **ग्राम** (इन्दु, सितम्बर १९१०)
   २. **चन्दा** (इन्दु, अक्टूबर १९१०)
   ३. **मदनमृणालिनी** (इन्दु, नवम्बर १९११; 'मदन'शीर्षक से)
   ४. **रसिया बालम** (इन्दु, अप्रैल १९१२)
   ५. **तानसेन** (अक्टूबर १९१२)

   चित्राधार में जब इसका दूसरा संस्करण हुआ तो उसमें निम्नलिखित छः कहानियाँ और जोड़ दी गयीं ।
   १. **जहानआरा** (इन्दु, मार्च १९१२)
   २. **शरणागत** (इन्दु, अप्रैल १९१२)
   ३. **अशोक** (इन्दु, जून १९१२)
   ४. **सिकन्दर की शपथ** (इन्दु, जुलाई १९१२)
   ५. **गुलाब** (इन्दु, जुलाई १९१४)
   ६. **चित्तौर उद्धार** (इन्दु, अगस्त १९१४)
६. **काननकुसुम** (कविता-संग्रह)—साहित्य सुमन माला का तृतीय पुष्प (जुलाई १९१३ के पश्चात् किसी समय) । चित्राधार के प्रथम संस्करण में पुनर्मुदित) ।
७. **प्रेमपथिक** **(कविता-संग्रह)**—साहित्य सुमन माला का चतुर्थ पुष्प । (जुलाई १९१४)
८. **राज्यश्री**—साहित्य सुमन माला का पंचम पुष्प (फरवरी १९१५), इससे पूर्व जनवरी १९१५ में प्रकाशित । पुनः चित्राधार प्रथम संस्करण में संकलित । १९२७ में संशोधित, परिवर्तित और परिवर्धित स्वतन्त्र संस्करण ।
९. **चित्राधार**—(हिन्दी पुस्तक माला, प्रथम पुष्प) संवत् १९७५ (१९१८) ई०, निम्नलिखित रचनाओं का संग्रह:—
   १. **काननकुसुम** (देखिए ऊपर, संख्या ६)
   २. **प्रेमपथिक** (देखिए ऊपर, संख्या ७) ।
   ३. **महाराणा का महत्व** (इन्दु, जून १९१४) । यह सन् १९२८ में स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई ।
   ४. **सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य** (देखिए ऊपर, संख्या ३)
   ५. **छाया** (देखिए ऊपर, संख्या ५)

६. **उर्वशी** (देखिए ऊपर, संख्या १)
७. **राज्यश्री** (देखिए ऊपर, संख्या ८)
८. **करुणालय** (इन्दु, फरवरी १९१३)
९. **प्रायश्चित** (इन्दु, जनवरी १९१४)
१०. **कल्याणी परिणय** (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सन् १९१२)
सन् १९२८ में इसका संशोधित परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें निम्नलिखित रचनाएँ और हैं:—
१. **प्रेमराज्य** (देखिए, ऊपर, संख्या २)
२. **बभ्रुवाहन** (इन्दु, जुलाई १९११)
३. **अयोध्या का उद्धार**
४. **सज्जन** (इन्दु, मार्च जून १९११)

१०. **झरना** (कविता-संग्रह)—हिन्दी पुस्तक माला, द्वितीय पुष्प) अगस्त सन् १९१८।
संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९२७।
११. **विशाख** (नाटक)—सन् १९२१
१२. **अजातशत्रु** (नाटक)—सन् १९२२
१३. **आँसू** (काव्य)—प्रथम संस्करण १९२५; संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण—सन् १९३३)
१४. **जनमेजय का नाग यज्ञ** (नाटक)—सन् १९२६)
१५. **प्रतिध्वनि**—(सन् १९२६)
१६. **कामना** (नाटक)—सन् १९२७)
१७. **स्कन्दगुप्त** (नाटक)—सन् १९२८
१८. **आकाशदीप** (कहानी संग्रह)—सन् १९२८
१९. **कंकाल** (उपन्यास)—सन् १९२८
२०. **एक घूँट** (नाटक)—सन् १९२८
२१. **आँधी** (कहानी संग्रह)—सन् १९२९
२२. **चन्द्रगुप्त** (नाटक)—सन् १९३१
२३. **ध्रुवस्वामिनी**—(नाटक)—सन् १९३३
२४. **लहर** (कविता संग्रह)—सन् १९३३
२५. **कामायनी** (महाकाव्य)—सन् १९३५
२६. **इन्द्रजाल** (कहानी संग्रह)—सन् १९३६
२७. **काव्यकला तथा अन्य निबन्ध** (निबन्ध संग्रह) अवसानोपरान्त
२८. **ईरावती** (उपन्यास)—अवसानोपरान्त
२९. **तितली** (उपन्यास)

——×——